प्रथमावृत्ति : श्री सेठी दिगम्बर जैन ग्रन्थमाला, जयपुर : ११००
द्वितीयावृत्ति : श्री दिगम्बर जैन स्वाध्याय मंदिर ट्रस्ट, सोनगढ़ : १५००
तृतीयावृत्ति : श्री दिगम्बर जैन स्वाध्याय मंदिर ट्रस्ट, सोनगढ़ : १५००
चतुर्थावृत्ति : श्री दिगम्बर जैन स्वाध्याय मंदिर ट्रस्ट, सोनगढ़ : २१००
पंचमावृत्ति : श्री कुन्दकुन्द कहान दिगम्बर जैन तीर्थसुरक्षा ट्रस्ट : ३२००
[दिनांक : १ मार्च, १९८४]

मूल्य : दस रुपये

प्राप्तिस्थान :

(१) पण्डित टोडरमल स्मारक ट्रस्ट
ए-४, बापूनगर, जयपुर ३०२०१५

(२) वीतराग-विज्ञान ग्रन्थमाला
५८, गणेशनगर, नागपुर ४४०००९

मुद्रक :

प्रिन्स ऑफसेट प्रिण्टर्स
१५१०, पटौदी हाउस, दरियागंज
दिल्ली ११०००६

प्रकाशकीय

श्री कुन्दकुन्द कहान दिगम्बर जैन तीर्थसुरक्षा ट्रस्ट द्वारा श्री टोडरमल स्मारक भवन, जयपुर में 'साहित्य प्रकाशन एवं प्रचार विभाग' के नाम से एक नया विभाग खोला गया है। इस विभाग का उद्देश्य प्राचीन, अर्वाचीन, अप्रकाशित एवं अनुपलब्ध जैन साहित्य का प्रकाशन करना है। ग्रन्थों के प्रकाशन की इस शृंखला में सर्वमान्य आचार्य कुन्दकुन्द द्वारा रचित आध्यात्मिक ग्रन्थराज 'नियमसार' का प्रकाशन करते हुए हमें अत्यन्त हर्ष का अनुभव हो रहा है।

श्रीमद् कुन्दकुन्दाचार्य द्वारा रचित ग्रन्थों में यद्यपि समयसार, प्रवचनसार, पंचास्तिकायसंग्रह एवं अष्टपाहुड़ ग्रन्थ जितने अधिक प्रसिद्ध हुए, उतनी नियमसार शास्त्र की प्रसिद्धि नहीं हुई; तथापि पूज्य श्री कानजी स्वामी के प्रताप एवं मुमुक्षुओं के सद्भाग्य से आज यह ग्रन्थ भी प्रसिद्धि में आ गया है।

आज से अर्धशतक पूर्व ब्र० शीतलप्रसादजी ने इसकी पद्मप्रभमलधारिदेव द्वारा रचित संस्कृत टीका का हिन्दी में अनुवाद करके प्रकाशित किया था।

तत्पश्चात् पंडित श्री हिम्मतलाल जेठालाल शाह, सोनगढ़ ने इस ग्रन्थ की संस्कृत टीका का गुजराती भाषा में अनुवाद किया, जो सन् १९५१ में श्री दिगम्बर जैन स्वाध्याय मंदिर ट्रस्ट, सोनगढ़ से प्रकाशित किया गया। आपने इस ग्रन्थ की मूल गाथाओं का गुजराती भाषा में पद्यानुवाद भी किया है। पण्डित श्री हिम्मतलालभाई पूज्य गुरुदेव श्री कानजी स्वामी के सानिध्य में रहकर जिनागम का अध्ययन करनेवाले भाग्यशाली विद्वानों में हैं। आपने श्रीमद् कुन्दकुन्द के पंच परमागमों का गुजराती भाषा में प्रामाणिक अनुवाद करके, साथ ही भावपूर्ण पद्यानुवाद करके एक महती आवश्यकता की पूर्ति की है एवं जैनसमाज पर अमाप उपकार किया है। इस अनुवाद के सम्बन्ध में वे स्वयं लिखते हैं :–

"श्री दिगम्बर जैन स्वाध्याय मंदिर ट्रस्ट, सोनगढ़ (सौराष्ट्र) से यह ग्रंथ गुजराती में प्रकाशित हुआ है; जिसमें मूल गाथायें, उनका गुजराती पद्यानुवाद, संस्कृत टीका और उन गाथा व टीका के अक्षरशः गुजराती अनुवाद का समावेश होता है। जहाँ विशेष स्पष्टता की आवश्यकता थी, वहाँ 'कौन्स' अथवा 'फुटनोट' (टिप्पणी) द्वारा स्पष्टता की गई है।

श्री जैनग्रन्थरत्नाकर कार्यालय द्वारा प्रकाशित नियमसार में छपी हुई संस्कृत टीका में जो अशुद्धियाँ थीं, उनमें से अनेक अशुद्धियाँ हस्तलिखित प्रतियों के आधार पर इसमें सुधार ली गई हैं।

अब भी इसमें कहीं-कहीं अशुद्ध पाठ हों – ऐसा लगता है, किन्तु हमें जो तीन हस्तलिखित प्रतियाँ प्राप्त हुई हैं, उनमें शुद्ध पाठ न मिलने के कारण उन अशुद्धियों को नहीं सुधारा जा सका है। अशुद्ध पाठों का अनुवाद करने में बड़ी सावधानी रखी गयी है और पूर्वापरकथन तथा न्याय के साथ जो अधिक से अधिक संगत हो – ऐसा उन पाठों का अनुवाद किया है।

यह अनुवाद करने का महान सौभाग्य मुझे प्राप्त हुआ, वह मेरे लिए अत्यन्त हर्ष का कारण है। परम पूज्य सद्गुरुदेव के आश्रय में इस गहन शास्त्र का अनुवाद हुआ है। परमोपकारी सद्गुरुदेव के पवित्र जीवन के प्रत्यक्ष परिचय विना तथा उनके आध्यात्मिक उपदेश विना इस पामर को जिनवाणी के प्रति लेशमात्र भक्ति या श्रद्धा कहाँ से प्रगट होती, भगवान कुन्दकुन्दाचार्यदेव और उनके शास्त्रों की लेश भी महिमा कहाँ से आती तथा शास्त्रों का अर्थ खोलने की लेश भी शक्ति कहाँ से प्राप्त होती ?

इसप्रकार अनुवाद की समस्त शक्ति का मूल श्री सद्गुरुदेव ही होने से वास्तव में तो सद्गुरुदेव की अमृतवाणी का स्रोत ही – उनके द्वारा प्राप्त हुआ अमूल्य उपदेश ही – यथाकाल इस अनुवाद के रूप में परिणमित हुआ है। जिनके द्वारा सिंचित शक्ति से तथा जिनकी ऊष्मा से मैंने इस गहनशास्त्र को अनूदित करने का साहस किया था और जिनकी कृपा से वह निर्विघ्न समाप्त हुआ है, उन पूज्य परमोपकारी सद्गुरुदेव (श्री कानजी स्वामी) के चरणारविन्द में अत्यन्त भक्तिभाव से मैं वंदन करता हूँ।"

गुजराती भाषा के इस अनुवाद के आधार पर श्री मगनलालजी जैन ललितपुरवालों ने इस ग्रन्थ का हिन्दी भाषा में अनुवाद किया है। उन्होंने सोनगढ़ से प्रकाशित अनेक ग्रन्थों का हिन्दी अनुवाद किया है।

सुपरिचित विद्वान एवं कवि बाबू श्री जुगलकिशोरजी 'युगल' कोटा ने बहुत लगन के साथ इस ग्रन्थ की मूल गाथाओं का हिन्दी भाषा में पद्यानुवाद किया है। जिस पद्यानुवाद का प्रस्तुत प्रकाशन में उपयोग हुआ है।

इस ग्रन्थ का प्रकाशन श्री दिगम्बर जैन स्वाध्याय मन्दिर ट्रस्ट सोनगढ़ से प्रकाशित चतुर्थावृत्ति के संस्करण के आधार पर ऑफसेट पद्धति से हुआ है, अतः ग्रन्थ मूलतः ज्यों का त्यों ही है।

प्रकाशन समिति एवं ट्रस्ट के अनुरोध पर सुप्रसिद्ध चिन्तक एवं अनेक मौलिक कृतियों के प्रणेता डॉ० हुकमचन्दजी भारिल्ल ने एक शोध-खोज पूर्ण प्रस्तावना लिखने की कृपा की है, जिसमें आचार्य कुन्दकुन्द एवं प्रस्तुत ग्रन्थ नियमसार का प्रामाणिक परिचय बोधगम्य भाषा में प्रस्तुत किया है। हमें विश्वास है कि इससे विद्वानों के साथ-साथ आत्मार्थी मुमुक्षु भाइयों को भी लाभ प्राप्त होगा।

उक्त सभी महानुभावों के हम बहुत-बहुत आभारी हैं।

साथ ही श्री बाबूभाई चुन्नीलाल मेहता एवं श्री नेमीचन्दजी पाटनी के भी हम हृदय से आभारी हैं, जिन्होंने समय-समय पर हमें मार्गदर्शन दिया है।

इनके अलावा मुद्रण व्यवस्था में श्री सुरेन्द्रकुमारजी अग्रवाल, दिल्ली एवं श्री सोहनलालजी जैन, जयपुर प्रिण्टर्स आदि महानुभावों द्वारा दिये गये सहयोग को भी हम भुला नहीं सकते।

यद्यपि प्रस्तुत प्रकाशन का लागत मूल्य १८) रुपये आया है, तथापि दानदाताओं की मदद एवं स्वयं ट्रस्ट की ओर से २५% कीमत कम करने पर इस ग्रन्थ का विक्रय मूल्य मात्र १०) रुपये रखा गया है; अतः सभी दानदाताओं का भी हम हृदय से आभार मानते हैं। कीमत कम करनेवाले दानदाताओं की नामावली पृष्ठ आठ पर दी गई है।

यद्यपि श्रीमद् कुन्दकुन्दाचार्य ने 'णियभावणाणिमित्तम्' अर्थात् अपनी भावना के निमित्त से इस ग्रन्थ की रचना की है, तथापि हम सभी अपनी शुद्धात्मतत्त्व के प्राप्ति की भावना में भी इस ग्रन्थ को निमित्त बनावें – ऐसी भावना है।

यहाँ श्री कुन्दकुन्द कहान दिगम्बर जैन तीर्थसुरक्षा ट्रस्ट तथा उसके साहित्य प्रकाशन एवं प्रचार विभाग का, जिसने इन बड़े-बड़े शास्त्रों को प्रकाशित करने का संकल्प किया है; उसकी गतिविधियों का संक्षिप्त परिचय देना अप्रासङ्गिक नहीं होगा :–

श्री कुन्दकुन्द कहान दिगम्बर जैन तीर्थसुरक्षा ट्रस्ट

भगवान महावीर के २५००वें निर्वाण महोत्सव वर्ष में सोनगढ़ में सम्पन्न परमागम मंदिर पंचकल्याणक प्रतिष्ठा महोत्सव के अवसर पर स्व० पूज्य गुरुदेव श्री कानजी स्वामी की छत्र-छाया में उनके मंगल आशीर्वाद से स्थापित श्री कुन्दकुन्द कहान दिगम्बर जैन तीर्थसुरक्षा ट्रस्ट से अब दिगम्बर जैन समाज अपरिचित नहीं रहा है। तीर्थों एवं जीवन्ततीर्थ जिनवाणी की सुरक्षा में तत्पर इस ट्रस्ट ने ७ वर्ष के इस अल्पकाल में ही दिगम्बर जैन समाज में अपना महत्त्वपूर्ण स्थान बना लिया है। इसका जन्म ही प्राकृतिक और अप्राकृतिक आक्रमणों से तीर्थों एवं जीवन्ततीर्थ जिनवाणी की सुरक्षा की पवित्र भावना से हुआ है। समाज से भी इसे आशातीत सहयोग प्राप्त हुआ है तथा इसने भी अपने कार्यों से समाज का मन मोह लिया है।

इस ट्रस्ट का रजिस्ट्रेशन १३ मार्च, १९७६ को बम्बई ट्रस्ट एक्ट के अन्तर्गत हुआ है।

इस ट्रस्ट के प्रमुखत: दो कार्य हैं, जो दिगम्बर जैन तीर्थ एवं जीवन्ततीर्थ जिनवाणी की सुरक्षा से सम्बन्धित हैं। इस दिशा में ट्रस्ट ने महत्त्वपूर्ण कदम उठाये हैं :–

(१) तीर्थक्षेत्रों का जीर्णोद्धार

तीर्थक्षेत्रों पर होने वाले प्राकृतिक आक्रमणों से सुरक्षा हेतु उनका जीर्णोद्धार करना आवश्यक है। एतदर्थ विभिन्न क्षेत्रों को दिनाङ्क १५ जनवरी, १९८४ तक ५ लाख ५० हजार रुपयों की राशि ट्रस्ट की ओर से दी जा चुकी है।

(२) तीर्थ-सर्वेक्षण योजना

अप्राकृतिक आक्रमणों से तीर्थों की सुरक्षा हेतु सम्बन्धित वैधानिक दस्तावेजों का होना आवश्यक है, अत: एक तीर्थ-सर्वेक्षण योजना तैयार की गई है; जिसके अन्तर्गत क्षेत्र का प्रामाणिक इतिहास, आवश्यक दस्तावेज, चल-अचल सम्पत्ति का विवरण आदि जानकारी सुरक्षित रखी जाती है।

तीर्थों की सुरक्षा एवं सर्वेक्षण योजना की सफलता हेतु कार्यकर्त्ताओं को प्रशिक्षित करने के लिए एक कार्यकर्त्ता प्रशिक्षण योजना भी है।

(३) जिनवाणी की शोध, प्रकाशन एवं विक्रय

हमारे प्राचीन ग्रन्थ वर्तमान में यत्र-यत्र अव्यवस्थित और असुरक्षित रूप से पड़े-पड़े नष्ट हो रहे हैं, जिनकी सूची बनाकर उन्हें सुरक्षित रखना सर्वप्रथम कर्त्तव्य जानकर बेंगलौर एवं मद्रास में श्री जैन लिटरेचर रिसर्च इन्स्टीट्यूट की स्थापना की गई है।

इस दिशा में श्री १००८ गोम्मटेश्वर बाहुबली सहस्त्राब्दी महोत्सव के अवसर पर हिन्दी, अंग्रेजी, गुजराती, मराठी, तमिल और कन्नड़ – इसप्रकार छः भाषाओं में सत्साहित्य प्रकाशित करके उसे लागत या उससे भी कम मूल्य में जन-जन तक पहुँचाने की व्यवस्था की गई थी। एतदर्थ ट्रस्ट ने पाँच लाख से भी अधिक रुपये खर्च किये थे।

(४) श्री टोडरमल दिगम्बर जैन सिद्धान्त महाविद्यालय

जिसप्रकार सुयोग्य पुरातत्त्व एवं कानूनविद कार्यकर्त्ताओं के अभाव में तीर्थों की सुरक्षा सम्भव नहीं है, उसीप्रकार जिनागम के मर्मज्ञ विद्वानों के अभाव में जिनवाणी की सुरक्षा एवं प्रचार-प्रसार भी सम्भव नहीं है।

इसी उद्देश्य की पूर्ति हेतु नवीन पीढ़ी में अध्यात्मरुचि सम्पन्न ठोस विद्वान तैयार करने के लिए २४ जुलाई, १९७७ को जयपुर में श्री टोडरमल दिगम्बर जैन सिद्धान्त महाविद्यालय की स्थापना की गई है।

निरन्तर अध्ययन-मनन-चिन्तन का वातावरण एवं एकमात्र आत्महित की तीव्ररुचि इस महाविद्यालय की मौलिक विशेषता है, जिसका वास्तविक श्रेय स्व० पूज्य गुरुदेव श्री कानजी स्वामी द्वारा उत्पन्न आध्यात्मिक क्रान्ति को ही है, जिसके प्रभाव से लाखों व्यक्ति जिनागम के अभ्यास द्वारा आत्महित में तत्पर हुए हैं।

इस महाविद्यालय के छात्र श्री दिगम्बर जैन आचार्य संस्कृत कॉलेज, जयपुर से माध्यमिक शिक्षा बोर्ड, अजमेर की प्रवेशिका एवं उपाध्याय परीक्षा तथा राजस्थान विश्वविद्यालय की जैनदर्शन शास्त्री तथा आचार्य परीक्षा देते हैं; जो क्रमशः सेकेण्डरी, हायर सेकेण्डरी, बी०ए० तथा एम०ए० के समकक्ष हैं। इसके साथ ही बंगीय संस्कृत शिक्षा परिषद्, कलकत्ता की दिगम्बर न्याय प्रथमा, न्याय मध्यमा व न्यायतीर्थ एवं श्री वीतराग-विज्ञान विद्यापीठ परीक्षा बोर्ड जयपुर की प्रवेशिका, विशारद आदि अनेक ग्रन्थशः परीक्षाओं में भी यहाँ के छात्र सम्मिलित होते हैं।

यह लिखते हुए अत्यन्त प्रसन्नता है कि प्रारम्भ से ही प्रतिवर्ष इस महाविद्यालय के छात्र बोर्ड एवं विश्वविद्यालय की परीक्षाओं में सर्वोच्च स्थान प्राप्त करते आ रहे हैं।

विद्यार्थियों के आध्यात्मिक चिन्तन को प्रखर बनाने हेतु विद्वद्वर्य श्री लालचन्दभाई राजकोट, श्री जुगलकिशोरजी 'युगल' कोटा आदि विद्वानों को भी वर्ष में समय-समय पर आमन्त्रित करके छात्रों की आध्यात्मिक प्यास बुझाई जाती है।

उक्त अध्ययन-अध्यापन के साथ-साथ आध्यात्मिक वातावरण को निरन्तर गति प्रदान करने हेतु प्रवचन, अध्यापन, लेखन आदि का समुचित प्रशिक्षण एवं अन्य सम्पूर्ण कार्य डॉ० हुकमचन्दजी भारिल्ल के निर्देशन में होते हैं। छात्रों को जिनागम का ठोस विद्वान तैयार करने के साथ-साथ उनके जीवन को आध्यात्मिक, सात्त्विक, सदाचारमय व निष्पृही बनाना ही संस्था का मुख्य उद्देश्य है।

इस महाविद्यालय के प्राचार्य एवं मंत्री क्रमशः श्री पं० रतनचदजी शास्त्री एवं श्री नेमीचन्दजी पाटनी हैं। छात्रों के अध्यापन कार्य में श्री अभयकुमारजी शास्त्री एम० काम०, श्री राकेशकुमार जैनदर्शनाचार्य, श्री शान्तिकुमारजी पाटील जैनदर्शनाचार्य, श्री प्रेमचन्दजी जैनदर्शनाचार्य, श्री वीरसागरजी शास्त्री, श्रीमती कमलाबाई भारिल्ल, श्री परमेश्वरदासजी मिश्र आदि का भी सहयोग प्राप्त होता है।

इसप्रकार आध्यात्मिक रुचि सम्पन्न विद्वान व प्रवचनकार की दृष्टि से विद्यार्थियों को तैयार किया जाता है। यह महाविद्यालय समाज को प्रतिवर्ष १२ विद्वान (शास्त्री) उपलब्ध कराता है।

(५) सत्साहित्य प्रकाशन एवं प्रचार विभाग

पूज्य गुरुदेव श्री कानजी स्वामी के स्वर्गवास के बाद यह बड़ी व्यग्रता से अनुभव किया जा रहा था कि बड़े-बड़े ग्रन्थों का प्रकाशन दुर्लभ-सा होता जा रहा है। एक तो इन ग्रन्थों के प्रकाशन में लाखों रुपयों की आवश्यकता होती है और दूसरे बहुत समय देने के साथ-साथ शुद्ध प्रकाशन की भी जिम्मेदारी होती है।

इस दिशा में पण्डित टोडरमल स्मारक ट्रस्ट, जयपुर ने समयसार एवं मोक्षमार्गप्रकाशक जैसे बड़े बजट के ग्रन्थों के प्रकाशन का कार्यभार अपने हाथों लिया और उनका प्रकाशन भी किया; परन्तु सभी संस्थाओं की अपनी-अपनी सीमायें हैं, मर्यादायें हैं।

इस क्षेत्र में श्री कुन्दकुन्द कहान दिगम्बर जैन तीर्थसुरक्षा ट्रस्ट ने भी अपने 'जीवन्ततीर्थ जिनवाणी के प्रचार-प्रसार' के उद्देश्य की पूर्ति हेतु अनुकरणीय कदम उठाया। श्री वीतराग-विज्ञान शिक्षण-प्रशिक्षण शिविर, भीलवाड़ा के तुरन्त बाद १६ जून, १६८३ को श्री टोडरमल स्मारक भवन, जयपुर में सम्पन्न तीर्थसुरक्षा ट्रस्ट की मीटिंग में बड़े-बड़े ग्रन्थों के प्रकाशन एवं जिनवाणी का प्रचार-प्रसार सामाजिक स्तर पर घर-घर में हो — इस दृष्टि से विस्तृत विचार-विमर्श किया गया। तथा इस कार्य की पूर्ति हेतु 'साहित्य प्रकाशन एवं प्रचार विभाग' नामक नया विभाग खोला गया; जिसका कार्यालय श्री टोडरमल स्मारक भवन, जयपुर में रखा गया एवं उसकी व्यवस्था का भार मुझे सौंपा गया। इस विभाग के महत्त्वपूर्ण निर्णय लेने हेतु एक समिति का भी गठन हुआ, जिसमें निम्न सदस्य मनोनीत किये गये :—

१. श्री बाबूभाई चुन्नीलाल मेहता　२. डॉ० हुकमचन्दजी भारिल्ल
३. श्री नेमीचन्दजी पाटनी एवं　४. श्री रमणलाल माणेकलाल शाह

इस विभाग द्वारा समयसार नाटक का प्रकाशन तो हो ही चुका है, नियमसार का यह प्रकाशन आपके हाथ में है; एवं पंचास्तिकायसंग्रह का मुद्रण हो गया है, लेकिन बाइन्डिंग बाकी है। मोक्षमार्गप्रकाशक का मुद्रण प्रारम्भ हो चुका है। इनके अलावा श्रुतभवनदीपक नयचक्र, प्रवचनसार व पंचास्तिकायसंग्रह की जयसेनाचार्यदेवकृत संस्कृत टीका, सप्तभङ्गी तरङ्गिणी आदि संस्कृत ग्रन्थों का प्रामणिक हिन्दी अनुवाद, परीक्षामुखसूत्र की सर्वोपयोगी हिन्दी टीका, चिद्विलास, अनुभवप्रकाश आदि ढुंढारी भाषा के ग्रन्थों का प्रामाणिक हिन्दी अनुवाद, श्रावकधर्मप्रकाश का नया संशोधित संस्करण इत्यादि प्रकाशनाधीन हैं।

साहित्य प्रकाशन के साथ ही इस विभाग के द्वारा गाँव-गाँव में तत्त्वप्रचार-प्रसार की गतिविधियों में सक्रियता लाने हेतु प्रचार विभाग के द्वारा आठ विद्वानों की नियुक्ति करने की योजना है, ये विद्वान गाँव-गाँव में भ्रमण करके प्रवचन, पाठशाला, स्वाध्याय, शिविर, युवावर्ग में तत्त्वरुचि इत्यादि तत्त्वप्रचार-प्रसार की विभिन्न महत्त्वपूर्ण गतिविधियों को अधिकतम सक्रिय बनायेंगे।

विगत जुलाई, १६८३ से प्रचार कार्य हेतु श्री अशोककुमारजी लुहाड़िया शास्त्री की नियुक्ति की गई है। इनके कार्यक्रम अत्यधिक सफल रहे हैं और समाज द्वारा सराहे भी गये हैं।

यह कहते हुए मुझे गौरव महसूस हो रहा है कि विगत सात वर्षों में हुई इस ट्रस्ट की सम्पूर्ण प्रगति का वास्तविक श्रेय ट्रस्ट के माननीय अध्यक्ष पण्डित श्री बाबूभाईजी मेहता को ही है, जो ट्रस्ट की समग्र गतिविधियों के प्राण हैं। वर्तमान में आदरणीय श्री बाबूभाईजी की अस्वस्थता के समय पण्डित ज्ञानचन्दजी, विदिशावाले देश भर में घूम-घूमकर तत्त्वप्रचार-प्रसार के साथ-साथ ट्रस्ट का आर्थिक पक्ष और अधिक सुदृढ़ बनाने में सक्रिय हैं।

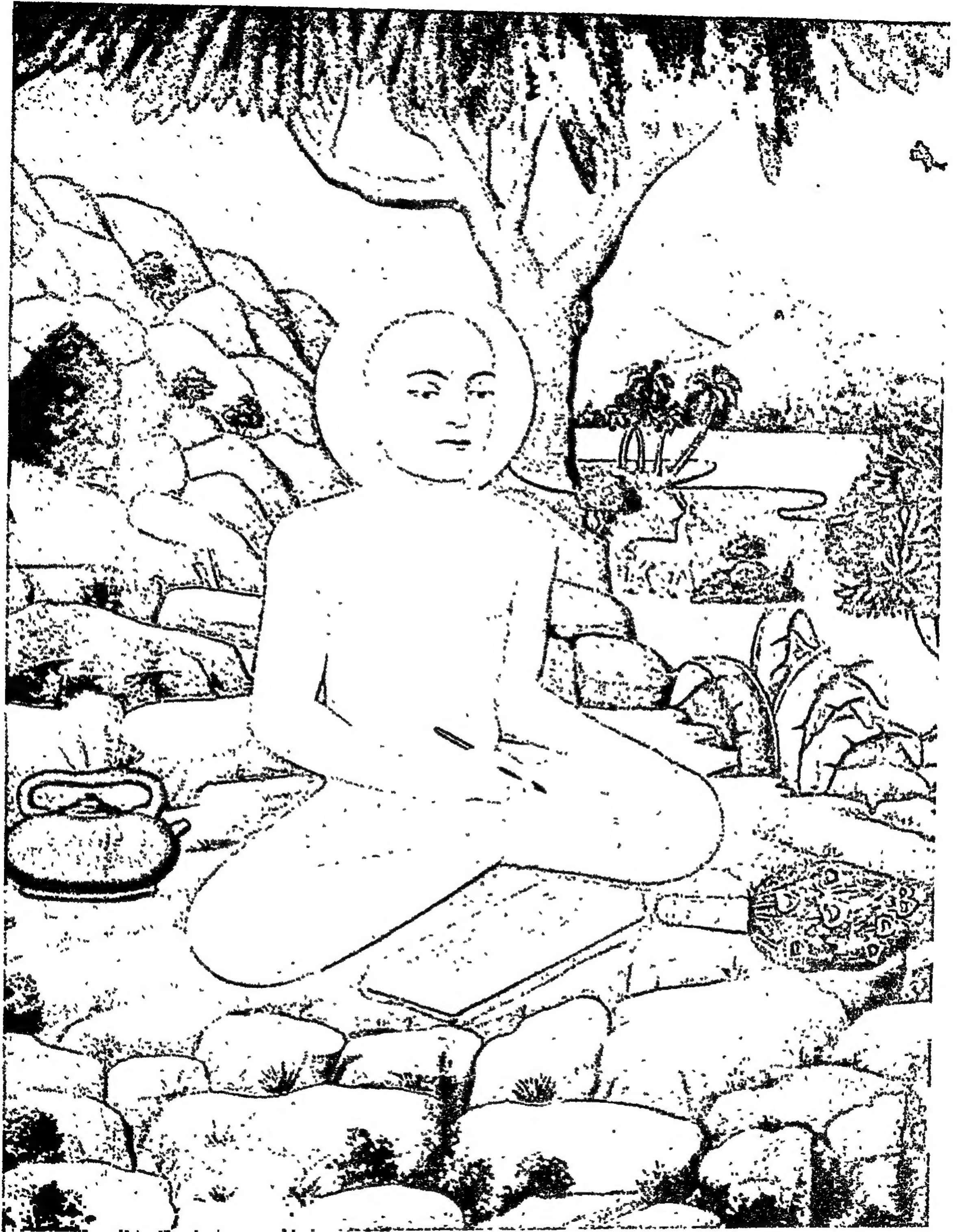
अन्त में पाठकों से सविनय अनुरोध है कि यदि उन्हें प्रस्तुत प्रकाशन में कहीं भी कोई त्रुटि प्रतीत हुई हो तो उससे अवश्य अवगत कराने की कृपा करें, जिससे भविष्य के प्रकाशनों में उनके प्रति सचेत रहा जा सके।

निवेदक :
राकेश कुमार जैन शास्त्री, जैनदर्शनाचार्य
मैनेजर, सत्साहित्य प्रकाशन एवं प्रचार विभाग, जयपुर

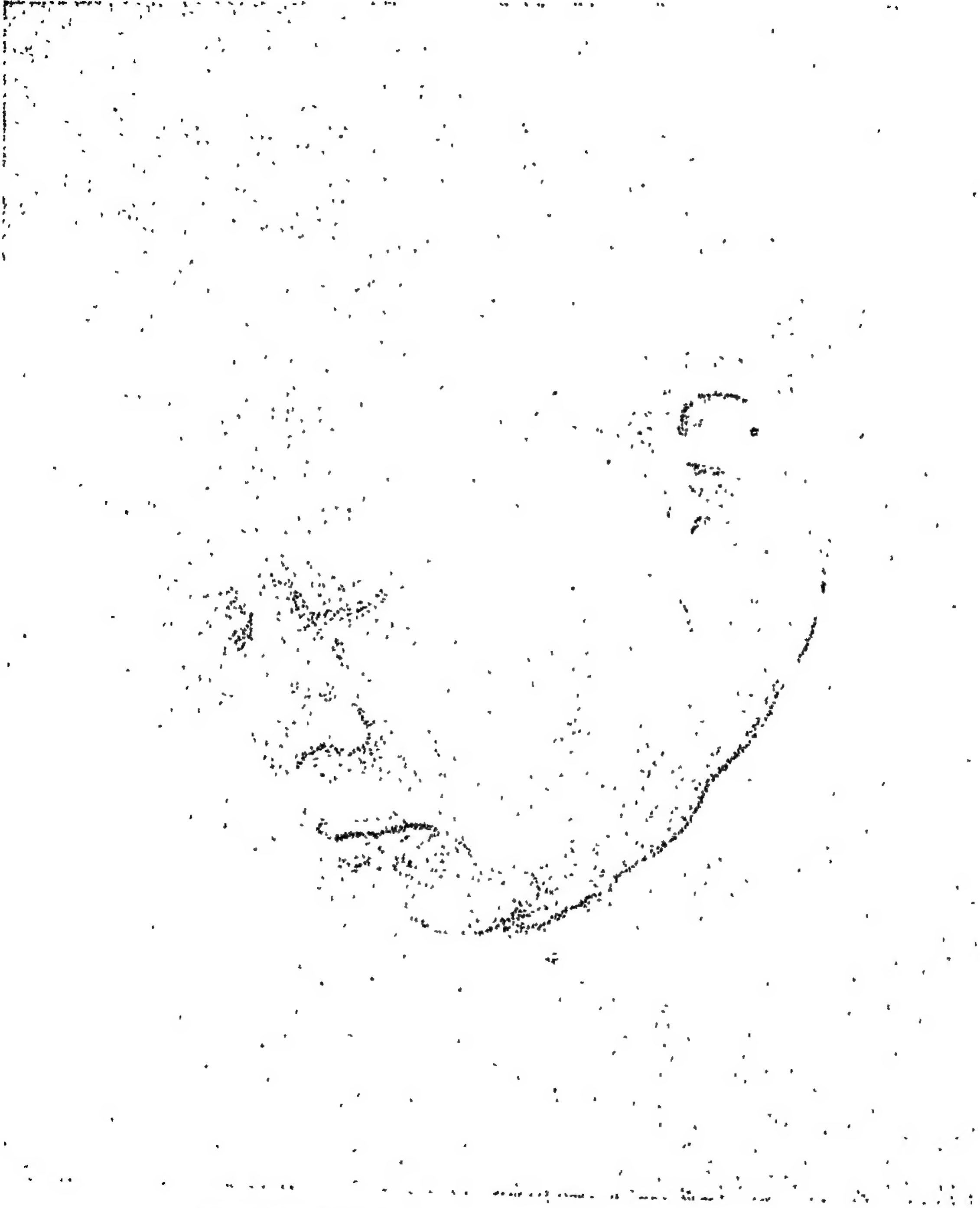
(दिनांक : १ मार्च, १९८४)

प्रस्तुत प्रकाशन की कीमत कम करनेवाले दाताओं की नामावली

१.	श्री रतनलाल गंगवाल, कलकत्ता	२५०१)
२.	श्री शान्तिभाई जवेरी, बम्बई	२५०१)
३.	श्री पूनमचन्द लुहाड़िया, बम्बई	२५०१)
४.	श्रीमती गुलकन्दाबेन, ध०प० श्री सुन्दरलाल जैन, भिण्ड (म०प्र०) हस्ते – ब्र० श्री श्रीचंदजी जैन, सोनगढ़ (गुज०)	५०१)
५.	श्रीमती प्यारीबाई, ध० प० श्री माणिकचन्द जैन मुंगावली (म०प्र०)	५०१)
६.	श्रीमती चम्पादेवी, ध०प० श्री तखतराज जैन, कलकत्ता	३०१)
७.	श्री रावजीभाई जीवराज शहा, फलटण (महा०)	२५१)
८.	श्री छोटालाल भीखाभाई मेहता, बम्बई	२५०)
९.	श्रीमती लीलाबाई छोटालाल मेहता, बम्बई	२५०)
१०.	श्री श्रीराम जैन दिल्ली	२०१)
११.	श्री इन्द्रचन्द्र विजयकुमार जैन, छिन्दवाड़ा (म०प्र०)	१०८)
१२.	श्रीमती शशिप्रभा सोनी, हस्ते – श्री प्रेमचन्द संघी, जयपुर (राज०)	१०१)
१३.	श्रीमती रतनबाई जैन, ध०प० श्री सौभागमल जैन, जयपुर (राज०)	१०१)
१४.	श्री बंडी केशरीमल वेणीचन्द जैन, इन्दौर (म०प्र०)	१०१)
१५.	श्री शिखरचन्द त्रिलोकचन्द सोनी, अजमेर (राज०)	१०१)
१६.	स्व० गौराबाई, ध०प० श्री राजमल जैन, विदिशा (म०प्र०)	१०१)
	कुल :	१०३७१)



निर्जनवन में ताड़पत्र पर शास्त्र-रचना करते हुए
अध्यात्म-शिरोमणि परम पूज्य श्री कुन्दकुन्दाचार्यदेव



आध्यात्मिक सत्पुरुष पूज्य गुरुदेव श्री कानजी स्वामी

प्रस्तावना

आचार्य कुन्दकुन्द और नियमसार

— डॉ० हुकमचन्द भारिल्ल, जयपुर

आचार्य कुन्दकुन्द

जिन-अध्यात्म के प्रतिष्ठापक आचार्य कुन्दकुन्द का स्थान दिगम्बर जिन-आचार्य परम्परा में सर्वोपरि है। दो हजार वर्ष से आज तक लगातार दिगम्बर साधु अपने आपको कुन्दकुन्दाचार्य की परम्परा का कहलाने में गौरव का अनुभव करते रहे हैं।

शास्त्रसभा में गद्दी पर बैठकर प्रवचन करते समय ग्रन्थ और ग्रन्थकार के नाम के साथ-साथ यह उल्लेख भी आवश्यक माना जाता है कि यह ग्रन्थ कुन्दकुन्द की आम्नाय में रचा गया है। प्रवचन के आरम्भ में बोली जानेवाली उक्त पंक्तियाँ इसप्रकार हैं :–

"अस्य मूलग्रन्थकर्त्तारः श्रीसर्वज्ञदेवास्तदुत्तरग्रन्थकर्तारः श्रीगणधरदेवाः प्रतिगणधरदेवास्तेषां वचनानुसारमासाद्य श्रीकुन्दकुन्दाम्नाये............विरचितम्। श्रोतारः सावधानतया शृणवन्तु।"

उक्त पंक्तियों के उपरान्त मंगलाचरणस्वरूप जो छन्द बोला जाता है, उसमें भी भगवान महावीर और गौतम गणधर के साथ एकमात्र आचार्य कुन्दकुन्द का ही समग्र आचार्यपरम्परा में नामोल्लेखपूर्वक स्मरण किया जाता है, शेष सभी को 'आदि' शब्द से ही ग्रहण कर लिया जाता है। इसप्रकार हम देखते हैं कि जिसप्रकार हाथी के पैर में सभी के पैर समाहित हो जाते हैं, उसीप्रकार आचार्य कुन्दकुन्द में समग्र आचार्यपरम्परा समाहित हो जाती है। दिगम्बर परम्परा के प्रवचनकारों द्वारा प्रवचन के आरम्भ में मंगलाचरणस्वरूप बोले जानेवाला उक्त छन्द इसप्रकार है :–

"मंगलं भगवान वीरो, मंगलं गौतमो गणी।
मंगलं कुन्दकुन्दाद्यो, जैनधर्मोऽस्तु मंगलम्॥"

दिगम्बर जिनमन्दिरों में विराजमान लगभग प्रत्येक जिनविम्ब (जिनप्रतिमा या जिन मूर्ति) पर 'कुन्दकुन्दान्वय' उल्लेख पाया जाता है। परवर्ती ग्रन्थकारों ने आपको जिस श्रद्धा के साथ स्मरण किया है, उससे भी यह पता चलता है कि दिगम्बर परम्परा में आपका स्थान बेजोड़ है। आपकी महिमा बतानेवाले शिलालेख भी उपलब्ध हैं।

कतिपय महत्त्वपूर्ण शिलालेख इसप्रकार हैं :-

"कुन्दपुष्प की प्रभा धारण करनेवाली जिनकी कीर्ति द्वारा दिशायें विभूषित हुई हैं, जो चारणों के – चारण ऋद्धिधारी महामुनियों के सुन्दर कर-कमलों के भ्रमर थे और जिन पवित्रात्मा ने भरतक्षेत्र में श्रुत की प्रतिष्ठा की है, वे विभु कुन्दकुन्द इस पृथ्वी पर किसके द्वारा वन्द्य नहीं हैं।"[1]

"यतीश्वर (श्री कुन्दकुन्दस्वामी) रजःस्थान पृथ्वीतल को छोड़कर चार अंगुल ऊपर गमन करते थे, जिससे मैं समझता हूँ कि वे अन्तर व बाह्य रज से अत्यन्त अस्पृष्टता व्यक्त करते थे। (अर्थात् वे अन्तरंग में रागादिमल से तथा बाह्य में धूल से अस्पृष्ट थे।)"[2]

दिगम्बर जैन समाज कुन्दकुन्दाचार्यदेव के नाम एवं काम (महिमा) से जितना परिचित है, उनके जीवन से उतना ही अपरिचित है। लोकेषणा से दूर रहनेवाले जैनाचार्यों की यह विशेषता रही है कि महान से महान ऐतिहासिक कार्य करने के बाद भी अपने व्यक्तिगत जीवन के सम्बन्ध में कहीं कुछ उल्लेख नहीं करते। आचार्य कुन्दकुन्द भी इसके अपवाद नहीं हैं। उन्होंने भी अपने बारे में कहीं कुछ नहीं लिखा है। 'द्वादशानुप्रेक्षा' में मात्र नाम का उल्लेख है।[3] इसीप्रकार 'बोधपाहुड़' में अपने को द्वादशांग के ज्ञाता तथा चौदहपूर्वों का विपुल प्रसार करनेवाले श्रुतकेवली भद्रबाहु का शिष्य लिखा है।[4]

---

[1] वन्द्यो विभुर्भुवि न कैरिह कौण्डकुन्दः कुन्द-प्रभा-प्रणयि-कीर्ति-विभूषिताशः।
यश्चारु-चारण-कराम्बुज-चञ्चरीकश्चक्रे श्रुतस्य भरते प्रयतः प्रतिष्ठाम्॥ (चन्द्रगिरि शिलालेख)

[2] ....कोण्डकुन्दो यतीन्द्रः॥
रजोभिरस्पृष्टतमत्वमन्तर्बाह्येऽपि संव्यञ्जयितुं यतीषः।
रजःपदं भूमितलं विहाय चचार मन्ये चतुरंगुलं सः॥ (विन्ध्यगिरि शिलालेख)

[3] द्वादशानुप्रेक्षा, गाथा ९०

[4] बोधपाहुड़, गाथा ६१-६२

अतः उनके जीवन के संबंध में बाह्य साक्ष्यों पर ही निर्भर करना पड़ता है। बाह्य साक्ष्यों में भी उनके जीवन संबंधी विशेष सामग्री उपलब्ध नहीं है। परवर्ती ग्रन्थकारों ने यद्यपि आपका उल्लेख बड़ी श्रद्धा एवं भक्तिपूर्वक किया है, शिलालेखों में भी उल्लेख पाये जाते हैं। उक्त उल्लेखों से आपकी महानता पर तो प्रकाश पड़ता है; तथापि उनसे भी आपके जीवन के सम्वन्ध में विशेष जानकारी प्राप्त नहीं होती।

बाह्यसाक्ष्य के रूप में उपलब्ध ऐतिहासिक लेखों, प्रशस्तिपत्रों, मूर्तिलेखों, परम्परागत जनश्रुतियों एवं परवर्ती लेखकों के उल्लेखों के आधार पर विद्वानों द्वारा आलोढ़ित जो भी जानकारी आज उपलब्ध है, उसका सार-संक्षेप कुल मिलाकर इसप्रकार है :–

आज से लगभग दो हजार वर्ष पूर्व विक्रम की प्रथम शताव्दी में कौण्डकुन्दपुर (कर्नाटक) में जन्मे कुन्दकुन्द अखिल भारतवर्षीय ख्याति के दिग्गज आचार्य थे। आपके माता-पिता कौन थे और उन्होंने जन्म के समय आपका क्या नाम रखा था ? – यह तो ज्ञात नहीं, पर नन्दिसंघ में दीक्षित होने के कारण दीक्षित होते समय आपका नाम पद्मनन्दी रखा गया था।

विक्रम सम्वत् ४९ में आप नन्दिसंघ के पद पर आसीन हुए और मुनि पद्मनन्दी से आचार्य पद्मनन्दी हो गये।[1] अत्यधिक सम्मान के कारण नाम लेने में संकोच की वृत्ति भारतीय समाज की अपनी सांस्कृतिक विशेषता रही है। महापुरुषों को गाँव के नामों या उपनामों से संबोधित करने की वृत्ति भी इसी का परिणाम है। कौण्डकुन्दपुर के वासी होने से आपको भी कौण्डकुन्दपुर के आचार्य के अर्थ में कौण्डकुन्दाचार्य कहा जाने लगा, जो श्रुतिमधुरता की दृष्टि से कालान्तर में कुन्दकुन्दाचार्य हो गया।

यद्यपि 'आचार्य' पद है, तथापि वह आपके नाम के साथ इसप्रकार घुलमिल गया कि वह नाम का ही एक अंग हो गया। इस सन्दर्भ में चन्द्रगिरि पर्वत के शिलालेखों में अनेकों बार समागत निम्नांकित छन्द उल्लेखनीय हैं :–

"श्रीमन्मुनीन्द्रोत्तमरत्नवर्गा श्री गौतमाद्याप्रभविष्णवस्ते ।
तत्राम्बुधौ सप्तमहर्द्धि-युक्तास्तत्सन्ततौ नन्दिगणे बभूव ॥३॥
श्री पद्मनन्दीत्यनवद्यनामा ह्याचार्य्यशब्दोत्तरकौण्डकुन्दः ।
द्वितीयमासीदभिधानमुद्यच्चरित्रसञ्जातसुचारर्णाद्ध ॥४॥[2]

[1] नन्दिसंघ की पट्टावली
[2] जैन शिलालेख संग्रह, पृष्ठ ३४, ४३, ५८ एवं ७१

मुनीन्द्रों में श्रेष्ठ प्रभावशाली महर्द्धिक गौतमादि रत्नों की रत्नाकर आचार्य परम्परा में नन्दिगण में, श्रेष्ठ चरित्र के धनी, चारण ऋद्धिधारी पद्मनन्दी नाम के मुनिराज हुए, जिनका दूसरा नाम – आचार्य शब्द है अंत में जिसके – ऐसा कौण्डकुन्द था अर्थात् कुन्दकुन्दाचार्य था।"

उक्त छन्दों में तीन बिन्दु अत्यन्त स्पष्ट हैं :–

(१) गौतम गणधर के बाद किसी अन्य का उल्लेख न होकर कुन्दकुन्द का ही उल्लेख है, जो दिगम्बर परम्परा में उनके स्थान को सूचित करता है।

(२) उन्हें चारणऋद्धि प्राप्त थी।

(३) उनका पद्मनन्दी प्रथम नाम था और दूसरा नाम कुन्दकुन्दाचार्य था। 'आचार्य' शब्द नाम का ही अंश बन गया था, जो कि 'आचार्यशब्दोत्तरकौण्डकुन्दः' पद से अत्यन्त स्पष्ट है। यह भी स्पष्ट है कि यह नाम उनके आचार्य पद पर प्रतिष्ठित होने के बाद ही प्रचलित हुआ, परन्तु यह नाम इतना प्रचलित हुआ कि मूल नाम भी विस्मृत-सा हो गया।

उक्त नामों के अतिरिक्त एलाचार्य, वक्रग्रीवाचार्य एवं गृद्धपृच्छाचार्य भी आपके नाम कहे जाते हैं।[1] इस सन्दर्भ में विजयनगर के एक शिलालेख में एक श्लोक पाया जाता है, जो इसप्रकार है :–

"आचार्य कुन्दकुन्दाख्यो वक्रग्रीवो महामुनिः।
एलाचार्यो गृद्धपृच्छ इति तन्नाम पञ्चधा॥"[2]

उक्त सभी नामों में कुन्दकुन्दाचार्य नाम ही सर्वाधिक प्रसिद्ध नाम है। जब उनके मूल नाम पद्मनन्दी को भी बहुत कम लोग जानते हैं तो फिर शेष नामों की तो बात ही क्या करें ?

कुन्दकुन्द जैसे समर्थ आचार्य के भाग्यशाली गुरु कौन थे ? – इस सन्दर्भ में अन्तर्साक्ष्य के रूप में बोधपाहुड़ की जो गाथाएँ उद्धृत की जाती हैं, वे इसप्रकार हैं :–

"सद्दवियारो भूओ भासासुत्तेसु जं जिणे कहियं।
सो तह कहियं णायं सीसेण य भद्दबाहुस्स॥६१॥
बारस अंगवियाणं चउदस पुवंग विउल वित्थरणं।
सुयणाणि भद्दबाहू गमयगुरू भयवओ जयओ॥६२॥

---

[1] श्रुतसागर सूरिः षट्प्राभृत टीका, प्रत्येक प्राभृत की अंतिम पंक्तियाँ

[2] जैन सिद्धान्त भाग १, किरण ४ (तीर्थंकर भगवान महावीर और उनकी आचार्य परम्परा, पृष्ठ १०२)

जो जिनेन्द्रदेव ने कहा है, वही भाषासूत्रों में शब्दविकाररूप से परिणमित हुआ है; उसे भद्रबाहु के शिष्य ने वैसा ही जाना है और कहा भी वैसा ही है।

बारह अंग और चौदह पूर्वों का विपुल विस्तार करनेवाले श्रुतज्ञानी गमकगुरु भगवान भद्रबाहु जयवन्त हों।"

प्रथम (६१वीं) गाथा में यह बात यद्यपि अत्यन्त स्पष्ट है कि बोधपाहुड़ के कर्त्ता आचार्य कुन्दकुन्द भद्रबाहु के शिष्य हैं, तथापि दूसरी (६२वीं) गाथा जहाँ यह बताती है कि वे भद्रबाहु ग्यारह अंग और चौदह पूर्वों के ज्ञाता पंचम श्रुतकेवली ही हैं, वहाँ यह भी बताती है कि वे कुन्दकुन्द के गमकगुरु (परम्परागुरु) हैं, साक्षात् गुरु नहीं।

इसीप्रकार का भाव समयसार की प्रथम गाथा में भी प्राप्त होता है, जो कि इसप्रकार है :-

"वंदित्तु सव्वसिद्धे धुवमचलमणोवमं गदिं पत्ते।
वोच्छामि समयपाहुडमिणमो सुदकेवलीभणिदं ॥१॥

ध्रुव, अचल और अनुपम गति को प्राप्त सर्वसिद्धों को वंदन करके श्रुतकेवली द्वारा कथित समयप्राभृत को कहूँगा।"

इसप्रकार तो उन्हें भगवान महावीर का भी शिष्य कहा जा सकता है क्योंकि वे भगवान महावीर की शासन परम्परा के आचार्य हैं। इस संदर्भ में दर्शनसार की निम्न गाथा पर भी ध्यान देना चाहिए :-

"जइ पउमणंदिणाहो सीमंधरसामिदिव्वणाणेण।
ण विवोहइ तो समणा कहं सुमग्गं पयाणंति ॥

यदि सीमंधरस्वामी (महाविदेह में विद्यमान तीर्थंकरदेव) से प्राप्त हुए दिव्यज्ञान द्वारा श्री पद्मनन्दिनाथ (श्री कुन्दकुन्दाचार्य) ने बोध नहीं दिया होता तो मुनिजन सच्चे मार्ग को कैसे प्राप्त करते?"

क्या इस गाथा के आधार पर उन्हें सीमन्धर भगवान का शिष्य कहा जाय? यहाँ प्रश्न इस बात का नहीं है कि उन्हें कहाँ-कहाँ से ज्ञान प्राप्त हुआ था, वस्तुतः बात यह है कि उनके दीक्षागुरु कौन थे, उन्हें आचार्यपद किससे प्राप्त हुआ था?

जयसेनाचार्यदेव ने पंचास्तिकाय की टीका में उन्हें कुमारनन्दिसिद्धान्तदेव का शिष्य बताया है और नन्दिसंघ की पट्टावली[1] में जिनचन्द्र का शिष्य बताया गया है;

---

[1] जैन सिद्धान्त भास्कर, भाग १, किरण ४, पृष्ठ ७८

किन्तु इन कुमारनन्दी और जिनचन्द्र का भी नाममात्र ही ज्ञात है, इनके सम्बन्ध में भी विशेष जानकारी प्राप्त नहीं होती। हो सकता है आचार्य कुन्दकुन्द के समान उनके दीक्षागुरु के भी दो नाम रहे हों। नन्दिसंघ में दीक्षित होते समय बालब्रह्मचारी अवयस्क होने के कारण उनका नाम कुमारनन्दी रखा गया हो, बाद में पट्ट पर आसीन होते समय वे जिनचन्द्राचार्य नाम से विश्रुत हुए हों। पट्टावली में जिनचन्द्र नामोल्लेख होने का यह कारण भी हो सकता है। पट्टावली में माघनन्दी, जिनचन्द्र और पद्मनन्दी (कुन्दकुन्द) क्रम आता है। नन्दिसंघ में नन्द्यन्त् (नन्दी है अन्त में जिसके) नाम होना सहज प्रतीत होता है।

पञ्चास्तिकाय की तात्पर्यवृत्ति नामक संस्कृत टीका के आरंभ में समागत जयसेनाचार्य का कथन मूलतः इसप्रकार है :-

"अथ श्री कुमारनंदिसिद्धान्तदेवशिष्यैः प्रसिद्धकथान्यायेन पूर्वविदेहं गत्वा वीतराग-सर्वज्ञश्रीसीमंधरस्वामितीर्थंकरपरमदेवं दृष्ट्वा तन्मुखकमलविनिर्गतदिव्यवाणीश्रवणाव-धारितपदार्थाच्छुद्धात्मतत्त्वादिसार्थं गृहीत्वा पुनरप्यागतैः श्रीमत्कुन्दकुन्दाचार्यदेवैः पद्मनन्द्याद्यपराभिधेयैरन्तस्तत्त्वबहिर्तत्त्वगौणमुख्यप्रतिपत्यर्थमथवा शिवकुमारमहाराजादि-संक्षेपरुचिशिष्यप्रतिबोधनार्थं विरचिते पञ्चास्तिकायप्राभृतशास्त्रे यथाक्रमेणाधिकार-शुद्धिपूर्वकं तात्पर्यार्थव्याख्यानं कथ्यते।

श्री कुमारनन्दिसिद्धान्तदेव के शिष्य प्रसिद्धकथान्याय से पूर्वविदेह जाकर वीतराग-सर्वज्ञ श्रीसीमन्धरस्वामी तीर्थंकर परमदेव के दर्शन कर उनके मुखकमल से निसृत दिव्यध्वनि के श्रवण से शुद्धात्मादि तत्त्वों के साथ पदार्थों को अवधारण कर – ग्रहण कर समागत श्री पद्मनन्दी आदि हैं अपरनाम जिनके, उन श्री कुन्दकुन्दाचार्यदेव के द्वारा अन्तस्तत्त्व और बहिर्तत्त्व को गौण और मुख्य प्रतिपत्ति के लिए अथवा शिवकुमारमहाराज आदि संक्षेप रुचिवाले शिष्यों को समझाने के लिए रचित पञ्चास्तिकायप्राभृत शास्त्र में अधिकारों के अनुसार यथाक्रम से तात्पर्यार्थ का व्याख्यान किया जाता है।"

उक्त उद्धरण में प्रसिद्धकथान्याय के आधार पर कुन्दकुन्द के विदेहगमन की चर्चा भी की गई है, जिससे यह प्रतीत होता है कि आचार्य जयसेन के समय (विक्रम की बारहवीं शताब्दी में) यह कथा अत्यधिक प्रसिद्ध थी।

विक्रम की दसवीं सदी के आचार्य देवसेन के दर्शनसार में समागत गाथा में भी कुन्दकुन्दाचार्य के विदेहगमन की चर्चा की गई है। दर्शनसार के अन्त में लिखा है कि मैंने यह दर्शनसार ग्रन्थ पूर्वाचार्यों की गाथाओं का संकलन करके बनाया है। इस स्थिति में

यह बात अत्यन्त स्पष्ट है कि कुन्दकुन्द के विदेहगमन की चर्चा करनेवाली गाथा भी दसवीं शताब्दी के बहुत पहले की हो सकती है।

इस सन्दर्भ में श्रुतसागर सूरि का निम्नांकित कथन भी दृष्टव्य है :-

श्रीपद्मनन्दिकुन्दकुन्दाचार्यवक्रग्रीवाचार्यैलाचार्यगृद्धपिच्छाचार्यनामपञ्चकविराजितेन चतुरंगुलाकाशगमनर्द्धिना पूर्वविदेहपुण्डरीकिणीनगरवन्दितसीमन्धरापरनामस्वयंप्रभजिनेन तच्छ्रुतज्ञानसंबोधितभरतवर्षभव्यजीवेन श्रीजिनचन्द्रसूरिभट्टारकपट्टाभरणभूतेन कलिकाल-सर्वज्ञेन विरचिते षट्प्राभृतग्रन्थे......

श्री पद्मनन्दी, कुन्दकुन्दाचार्य, वक्रग्रीवाचार्य, एलाचार्य एवं गृद्धपिच्छाचार्य - पंचनामधारी; जमीन से चार अंगुल ऊपर आकाश में चलने की ऋद्धिधारी; पूर्वविदेह की पुण्डरीकणी नगरी में विराजित सीमन्धर अपरनाम स्वयंप्रभ तीर्थंकर से प्राप्त ज्ञान से भरतक्षेत्र के भव्यजीवों को संबोधित करनेवाले; श्री जिनचन्द्रसूरि भट्टारक के पट्ट के आभरण; कलिकालसर्वज्ञ (श्री कुन्दकुन्दाचार्यदेव) द्वारा रचित षट्प्राभृत ग्रन्थ में......।"

उक्त कथन में कुन्दकुन्द के पाँच नाम, पूर्वविदेहगमन, आकाशगमन और जिनचन्द्राचार्य के शिष्यत्व के अतिरिक्त उन्हें कलिकालसर्वज्ञ भी कहा गया है।

आचार्य कुन्दकुन्द के सम्बन्ध में प्रचलित कथाओं का अवलोकन भी आवश्यक है।

'ज्ञान प्रबोध' में प्राप्त कथा का संक्षिप्त सार इस प्रकार है :-

"मालवदेश वारापुर नगर में राजा कुमुदचन्द्र राज्य करता था। उसकी रानी का नाम कुमुदचन्द्रिका था। उसके राज्य में कुन्दश्रेष्ठी नामक एक वणिक रहता था। उसकी पत्नी का नाम कुन्दलता था। उनके एक कुन्दकुन्द नामक पुत्र भी था। बालकों के साथ खेलते हुए उस बालक ने एक दिन उद्यान में बैठे हुए जिनचन्द्र नामक मुनिराज के दर्शन किए और उनके उपदेश को अनेक नर-नारियों के साथ बड़े ही ध्यान से सुना।

ग्यारह वर्ष का बालक कुन्दकुन्द उनके उपदेश से इतना प्रभावित हुआ कि वह उनसे दीक्षित हो गया। प्रतिभाशाली शिष्य कुन्दकुन्द को जिनचन्द्राचार्य ने ३३ वर्ष की अवस्था में ही आचार्य पद प्रदान कर दिया।

बहुत गहराई से चिन्तन करने पर भी कोई ज्ञेय आचार्य कुन्दकुन्द को स्पष्ट नहीं हो रहा था। उसी के चिन्तन में मग्न कुन्दकुन्द ने विदेहक्षेत्र में विद्यमान तीर्थंकर सीमंधर भगवान को नमस्कार किया।

वहाँ सीमंधर भगवान के मुख से सहज ही 'सद्धर्मवृद्धिरस्तु' प्रस्फुटित हुआ। समवसरण में उपस्थित श्रोताओं को बहुत आश्चर्य हुआ। नमस्कार करनेवाले के बिना किसको आशीर्वाद दिया जा रहा है ? – यह प्रश्न सबके हृदय में सहज ही उपस्थित हो गया था। भगवान की वाणी में समाधान आया कि भरतक्षेत्र के आचार्य कुन्दकुन्द को यह आशीर्वाद दिया गया है।

वहाँ कुन्दकुन्द के पूर्वभव के दो मित्र चारणऋद्धिधारी मुनिराज उपस्थित थे। वे आचार्य कुन्दकुन्द को वहाँ ले गये। मार्ग में कुन्दकुन्द की मयूरपिच्छि गिर गई, तब उन्होंने गृद्धपृच्छिका से काम चलाया। वे वहाँ सात दिन रहे। भगवान के दर्शन और दिव्यध्वनि श्रवण से उनकी समस्त शंकाओं का समाधान हो गया।

कहते हैं वापिस आते समय वे कोई ग्रन्थ भी लाये थे, पर वह मार्ग में ही गिर गया। तीर्थों की यात्रा करते हुए वे भरतक्षेत्र में आ गये। उनका धर्मोपदेश सुनकर सात सौ स्त्री-पुरुषों ने दीक्षा ली।

कुछ समय पश्चात् गिरि-गिरनार पर श्वेताम्बरों के साथ उनका विवाद हो गया, तब ब्राह्मीदेवी ने स्वीकार किया कि दिगम्बर निर्ग्रन्थ मार्ग ही सच्चा है।

अन्त में अपने शिष्य उमास्वामी को आचार्य पद प्रदानकर वे स्वर्गवासी हो गये।"

एक कथा 'पुण्यास्त्रव कथाकोष' में भी आती है, जिसका सार इसप्रकार है :–

"भरतखण्ड के दक्षिणदेश में 'पिडथनाडू' नाम का प्रदेश है। इस प्रदेश के अन्तर्गत कुरुमरई नाम के ग्राम में करमण्डु नाम का धनिक वैश्य रहता था। उसकी पत्नी का नाम श्रीमती था। उनके यहाँ एक ग्वाला रहता था, जो उनके पशु चराया करता था। उस ग्वाले का नाम मतिवरण था। एक दिन जब वह अपने पशुओं को एक जंगल में ले जा रहा था, उसने बड़े आश्चर्य से देखा कि सारा जंगल दावाग्नि से जलकर भस्म हो गया है, किन्तु मध्य के कुछ वृक्ष हरे-भरे हैं। उसे उसका कारण जानने की बड़ी उत्सुकता हुई। वह उस स्थान पर गया तो उसे ज्ञात हुआ कि यह किसी मुनिराज का निवास स्थान है और वहाँ एक पेटी में आगम ग्रन्थ रखे हैं। वह पढ़ा-लिखा नहीं था। उसने सोचा कि इस आगम ग्रन्थ के कारण ही यह स्थान आग से बच गया है। अतः वह उन्हें बड़े आदर से घर ले आया। उसने उन्हें अपने मालिक के घर में एक पवित्र स्थान पर विराजमान कर दिया और प्रतिदिन उनकी पूजा करने लगा।

कुछ दिनों के पश्चात् एक मुनि उनके घर पर पधारे। सेठ ने उन्हें बड़े भक्तिभाव से आहार दिया। उसीसमय उस ग्वाले ने वह आगम उन मुनि को प्रदान किया। उस दान से मुनि बड़े प्रसन्न हुए और उन्होंने उन दोनों को आशीर्वाद दिया कि यह ग्वाला सेठ के घर में उसके पुत्ररूप में जन्म लेगा। तबतक सेठ के कोई पुत्र नहीं था। मुनि के आशीर्वाद के अनुसार उस ग्वाले ने सेठ के घर में पुत्ररूप में जन्म लिया और बड़ा होने पर वह एक महान मुनि और तत्त्वज्ञानी हुआ। उसका नाम कुन्दकुन्दाचार्य था।"

इसके बाद पूर्वविदेह जाने की कथा भी पूर्ववत् वर्णित है।

इसी से मिलती-जुलती कथा आराधनाकथाकोश में प्राप्त होती है।

आचार्य देवसेन, जयसेन एवं भट्टारक श्रुतसागर जैसे दिग्गज आचार्यों एवं विद्वानों के सहस्राधिक वर्ष प्राचीन उल्लेखों एवं उससे भी प्राचीन प्रचलित कथाओं की उपेक्षा सम्भव नहीं है, विवेक सम्मत भी नहीं कही जा सकती।

अतः उक्त उल्लेखों और कथाओं के आधार पर यह निःसंकोच कहा जा सकता है कि आचार्य कुन्दकुन्द दिगम्बर आचार्य परम्परा के चूड़ामणि हैं। विगत दो हजार वर्षों में हुए दिगम्बर आचार्यों, सन्तों, आत्मार्थी विद्वानों एवं आध्यात्मिक साधकों के आदर्श रहे हैं, मार्गदर्शक रहे हैं; भगवान महावीर और गौतम गणधर के समान प्रातःस्मरणीय रहे हैं, कलिकाल सर्वज्ञ के रूप में स्मरण किये जाते रहे हैं। उन्होंने इसी भव में सदेह विदेहक्षेत्र जाकर सीमंधर अरहन्त परमात्मा के दर्शन किए थे, उनकी दिव्यध्वनि का साक्षात् श्रवण किया था, उन्हें चारणऋद्धि प्राप्त थी। तभी तो कविवर वृन्दावनदास को कहना पड़ा :— "हुए हैं, न होहिंगे; मुनिन्द कुन्दकुन्द से।[1]

विगत दो हजार वर्षों में कुन्दकुन्द जैसे प्रतिभाशाली, प्रभावशाली, पीढ़ियों तक प्रकाश बिखेरनेवाले समर्थ आचार्य न तो हुए ही हैं और पंचम काल के अन्त तक होने की संभावना भी नहीं है।"

भगवान महावीर की उपलब्ध प्रामाणिक श्रुतपरम्परा में आचार्य कुन्दकुन्द के अद्वितीय योगदान की सम्यक् जानकारी के लिए पूर्वपरम्परा का सिंहावलोकन अत्यन्त आवश्यक है।

समयसार के आद्य भाषाटीकाकार पण्डित जयचन्दजी छाबड़ा समयसार की उत्पत्ति का सम्बन्ध बताते हुए लिखते हैं :—

---

[1] प्रवचनसार परमागम (प्रवचनसार छन्दानुवाद)

"यह श्री कुन्दकुन्दाचार्यदेव कृत गाथाबद्ध समयसार नामक ग्रन्थ है। उसकी आत्मख्याति नामक श्री अमृतचन्द्राचार्यदेव कृत संस्कृत टीका है। इस ग्रन्थ की उत्पत्ति का सम्बन्ध इसप्रकार है कि अन्तिम तीर्थंकरदेव सर्वज्ञ वीतराग परम भट्टारक श्री वर्धमानस्वामी के निर्वाण जाने के बाद पाँच श्रुतकेवली हुए, उनमें अन्तिम श्रुतकेवली श्री भद्रबाहुस्वामी हुए।

वहाँ तक तो द्वादशांग शास्त्र के प्ररूपण से व्यवहार-निश्चयात्मक मोक्षमार्ग यथार्थ प्रवर्तता रहा, वाद में काल-दोष से अंगों के ज्ञान की व्युच्छित्ति होती गई और कितने ही मुनि शिथिलाचारी हुए, जिनमें श्वेताम्बर हुए; उन्होंने शिथिलाचार पोषण करने के लिए अलग से सूत्र बनाये, जिनमें शिथिलाचार पोषक अनेक कथायें लिखकर अपना सम्प्रदाय दृढ़ किया – यह सम्प्रदाय अब तक प्रसिद्ध है।

इनके अलावा जो जिनसूत्र की आज्ञा में रहे; उनका आचार यथावत् रहा, प्ररूपणा भी यथावत् रही; वे दिगम्बर कहलाये। इस सम्प्रदायानुसार श्री वर्धमान स्वामी को निर्वाण प्राप्त करने के ६८३ वर्ष के बाद दूसरे भद्रबाहुस्वामी हुए; उनकी परिपाटी में कितने ही वर्ष बाद मुनि हुए, जिन्होंने सिद्धान्तों का प्रतिपादन किया।

एक तो धरसेन नामक मुनि हुए, उनको अग्रायणी पूर्व के पाँचवें वस्तु अधिकार में महाकर्मप्रकृति नामक चौथे प्राभृत का ज्ञान था। उन्होंने यह प्राभृत भूतवली और पुष्पदन्त नाम के मुनियों को पढ़ाया। उन दोनों मुनियों ने आगामी काल-दोष से बुद्धि की मन्दता जानकर उस प्राभृत के अनुसार षट्खण्डसूत्र की रचना करके पुस्तकरूप लिखकर उसका प्रतिपादन किया। उनके बाद जो मुनि (वीरसेन) हुए, उन्होंने उन्हीं सूत्रों को पढ़कर विस्तार से टीका करके धवल, महाधवल, जयधवल आदि सिद्धान्तों की रचना की। उनके बाद उन्हीं टीकाओं को पढ़कर श्री नेमिचन्द्र आदि आचार्यों ने गोम्मटसार, लब्धिसार, क्षपणासार आदि शास्त्र बनाये।

इसप्रकार यह प्रथम सिद्धान्त की उत्पत्ति है। इसमें जीव और कर्म के संयोग से उत्पन्न हुई आत्मा की संसार पर्याय के विस्तार का गुणस्थान, मार्गणास्थान आदि रूप में संक्षेप से वर्णन है। यह कथन तो पर्यायार्थिकनय को मुख्य करके है; इस ही नय को अशुद्धद्रव्यार्थिकनय भी कहते हैं तथा इसी को अध्यात्मभाषा में अशुद्धनिश्चयनय व व्यवहारनय भी कहते हैं।

भद्रबाहुस्वामी की परम्परा में ही दूसरे गुणधर नामक मुनि हुए। उनको ज्ञानप्रवाद पूर्व के दसवें वस्तु अधिकार में तीसरे प्राभृत का ज्ञान था। उनसे उस प्राभृत

को नागहस्ती नामक मुनि ने पढ़ा। उन दोनों मुनियों से यतिनायक नामक मुनि ने पढ़कर उसकी चूर्णिका रूप में छह हजार सूत्रों के शास्त्र की रचना की, जिसकी टीका समुद्धरण नामक मुनि ने बारह हजार सूत्र प्रमाण की।

इसप्रकार आचार्यों की परम्परा से कुन्दकुन्द मुनि उन शास्त्रों के ज्ञाता हुए। इसतरह इस द्वितीय सिद्धान्त की उत्पत्ति हुई। इसमें ज्ञान को प्रधान करके शुद्ध-द्रव्यार्थिकनय का कथन है। अध्यात्मभाषा में आत्मा का ही अधिकार होने से इसको शुद्धनिश्चय तथा परमार्थ भी कहते हैं। इसमें पर्यायार्थिकनय को गौण करके व्यवहार कहकर असत्यार्थ कहा है।

इस जीव को जब तक पर्यायबुद्धि रहती है, तब तक संसार रहता है। जब इसे शुद्धनय का उपदेश पाकर द्रव्यबुद्धि होती है तथा अपने आत्मा को अनादि-अनन्त, एक, सर्व परद्रव्यों व परभावों के निमित्त से उत्पन्न हुए अपने भावों से भिन्न जानता है और अपने शुद्धस्वरूप का अनुभव करके शुद्धोपयोग में लीन होता है; तब यह जीव कर्मों का अभाव करके निर्वाण (मोक्ष) को प्राप्त करता है।

इसप्रकार इस द्वितीय सिद्धान्त की परम्परा में शुद्धनय का उपदेश करनेवाले पञ्चास्तिकाय, प्रवचनसार, समयसार, परमात्मप्रकाश आदि शास्त्र हैं; उनमें समयप्राभृत नामक शास्त्र प्राकृत भाषामय गाथाबद्ध है, उसकी आत्मख्याति नामक संस्कृत टीका श्री अमृतचन्द्राचार्य ने की है।

काल-दोष से जीवों की बुद्धि मन्द होती जा रही है, उसके निमित्त से प्राकृत-संस्कृत के जाननेवाले भी विरले रह गये हैं तथा गुरुओं की परम्परा का उपदेश भी विरला हो गया है; अतः मैंने अपनी बुद्धि-अनुसार अन्य ग्रन्थों का अभ्यास करके इस ग्रन्थ की देशभाषामय वचनिका करना प्रारम्भ किया है।

जो भव्यजीव इसका वाँचन करेंगे, पढ़ेंगे, सुनेंगे तथा उसका तात्पर्य हृदय में धारण करेंगे; उनके मिथ्यात्व का अभाव होगा तथा सम्यग्दर्शन की प्राप्ति होगी – ऐसा अभिप्राय है, अन्य पण्डिताई तथा मान-लोभादि का अभिप्राय नहीं है।

इसमें कहीं बुद्धि की मन्दता तथा प्रमाद से हीनाधिक अर्थ लिखा जाय तो बुद्धि के धारक ज्ञानीजन मूलग्रन्थ देखकर शुद्ध करके वाँचन करना, हास्य मत करना; क्योंकि सत्पुरुषों का स्वभाव गुण-ग्रहण करने का ही होता है – यह मेरी परोक्ष प्रार्थना है।"[1]

---

[1] समयसार प्रस्तावना

इस युग के अन्तिम तीर्थंकर भगवान महावीर की अचेलक परम्परा में आचार्य कुन्दकुन्द का अवतरण उससमय हुआ, जब भगवान महावीर की अचेलक परम्परा को उन जैसे तलस्पर्शी अध्यात्मवेत्ता एवं प्रखरप्रशासक आचार्य की आवश्यकता सर्वाधिक थी। यह समय श्वेताम्बर मत का आरम्भकाल ही था। इससमय वरती गई किसी भी प्रकार की शिथिलता भगवान महावीर के मूलमार्ग के लिए घातक सिद्ध हो सकती थी।

भगवान महावीर की मूल दिगम्बर परम्परा के सर्वमान्य सर्वश्रेष्ठ आचार्य होने के नाते आचार्य कुन्दकुन्द के समक्ष सर्वाधिक महत्त्वपूर्ण दो उत्तरदायित्व थे। एक तो द्वितीय श्रुतस्कन्धरूप परमागम (अध्यात्म-शास्त्र) को लिखितरूप से व्यवस्थित करना और दूसरा शिथिलाचार के विरुद्ध सशक्त आन्दोलन चलाना एवं कठोर कदम उठाना। दोनों ही उत्तरदायित्वों को उन्होंने बखूबी निभाया।

प्रथम श्रुतस्कन्धरूप आगम की रचना धरसेनाचार्य के शिष्य पुष्पदन्त और भूतबली द्वारा हो ही रही थी। द्वितीय श्रुतस्कन्धरूप परमागम का क्षेत्र खाली था। मुक्तिमार्ग का मूल तो परमागम ही है। अतः उसका व्यवस्थित होना आवश्यक ही नहीं, अनिवार्य था; जिसे कुन्दकुन्द जैसे प्रखर आचार्य ही कर सकते थे।

जिनागम में दो प्रकार के मूलनय बताये गये हैं – निश्चय-व्यवहार और द्रव्यार्थिक-पर्यायार्थिक। समयसार व नियमसार में निश्चय-व्यवहार की मुख्यता से एवं प्रवचनसार व पंचास्तिकाय में द्रव्यार्थिक-पर्यायार्थिक की मुख्यता से कथन करके उन्होंने अध्यात्म और वस्तुस्वरूप – दोनों को बहुत ही अच्छी तरह स्पष्ट कर दिया है। उनके ये महान ग्रन्थ आगामी ग्रन्थकारों को आज तक आदर्श रहे हैं, मार्गदर्शक रहे हैं।

अष्टपाहुड़ में उनके प्रशासकरूप के दर्शन होते हैं। इसमें उन्होंने शिथिलाचार के विरुद्ध कठोर भाषा में उस परमसत्य का उद्घाटन किया, जिसके जाने बिना साधकों के भटक जाने के अवसर अधिक थे। इसमें उन्होंने श्वेताम्बर मत का जिस कठोरता से निराकरण किया है, उसे देखकर कभी-कभी ऐसा विकल्प आता है कि कहीं इसे पढ़कर हमारे श्वेताम्बरभाई उनके अध्यात्म से भी दूर न हो जायें। पर यह हमारा भ्रम ही है; क्योंकि आचार्य कुन्दकुन्द के ग्रन्थों को पढ़कर विगत दो हजार वर्ष में जितने श्वेताम्बर बन्धुओं ने दिगम्बर धर्म स्वीकार किया है, उतने किसी अन्य द्वारा नहीं। कविवर पण्डित बनारसीदास एवं आध्यात्मिक सत्पुरुष श्री कानजी स्वामी इसके जाने-माने उदाहरण हैं।

आध्यात्मिक सत्पुरुष श्री कानजी स्वामी के द्वारा तो कुन्दकुन्द के शास्त्रों के माध्यम से लाखों श्वेताम्बरभाइयों को भी दिगम्बर धर्म के प्रति श्रद्धालु बनाया गया है।

यद्यपि आचार्य कुन्दकुन्द दिगम्बर परम्परा के शिरमौर हैं एवं उनके ग्रन्थ दिगम्बर साहित्य की अनुपम निधि हैं; तथापि वर्तमान दिगम्बर जैन समाज उनसे अपरिचित-सा ही था। दिगम्बर समाज की स्थिति का सही रूप जानने के लिए पण्डित कैलाशचन्दजी सिद्धान्ताचार्य, वाराणसी का निम्नलिखित कथन दृष्टव्य है :–

"आज से पचास वर्ष पूर्व तक शास्त्रसभा में शास्त्र बाँचने के पूर्व भगवान कुन्दकुन्द का नाममात्र तो लिया जाता था, किन्तु आचार्य कुन्दकुन्द के समयसार आदि अध्यात्म की चर्चा करनेवाले अत्यन्त विरले थे। आज भी दिगम्बर जैन विद्वानों में भी समयसार का अध्ययन करनेवाले विरले हैं। हमने स्वयं समयसार तब पढ़ा, जब श्री कानजी स्वामी के कारण ही समयसार की चर्चा का विस्तार हुआ; अन्यथा हम भी समयसारी कहकर ब्रह्मचारी शीतलप्रसादजी की हँसी उड़ाया करते थे। यदि कानजी स्वामी का उदय न हुआ होता तो दिगम्बर जैन समाज में भी कुन्दकुन्द के साहित्य का प्रचार न होता।"[1]

परमपूज्य आचार्य कुन्दकुन्द के साथ-साथ इस युग में कुन्दकुन्द को जन-जन तक पहुँचानेवाले पूज्य गुरुदेव श्री कानजी स्वामी का हम जैसे उन लाखों लोगों पर तो अनन्त-अनन्त उपकार है, जिन्होंने साक्षात् उनके मुख से समयसार आदि ग्रन्थों पर प्रवचन सुने हैं और समझ में न आने पर अपनी शंकाओं का सहज समाधान प्राप्त किया है। आज वे हमारे बीच नहीं हैं, पर पैंतालीस वर्ष तक अनवरतरूप से किये गये उनके प्रवचन टेपों एवं पुस्तकों के रूप में हमें आज भी उपलब्ध हैं। आज वे प्रवचन ही हमारे सर्वस्व हैं।

पूज्य गुरुदेव श्री कानजी स्वामी ने आचार्य कुन्दकुन्द रचित परमागमों पर मात्र सरस प्रवचन ही नहीं किये, अपितु उक्त परमागमों के सस्ते सुलभ मनोज्ञ प्रकाशन भी कराये; तथा सोनगढ़ (जिला – भावनगर, गुजरात) में श्री महावीर कुन्दकुन्द परमागम मन्दिर का निर्माण कराके, उसमें संगमरमर के पाटियों पर समयसार, प्रवचनसार, पंचास्तिकाय और नियमसार संस्कृत टीका सहित तथा अष्टपाहुड़ उत्कीर्ण कराकर उन्हें भौतिक दृष्टि से अमर कर दिया है। उक्त परमागम मन्दिर आज एक दर्शनीय तीर्थ बन गया है।

पवित्रता और पुण्य के अद्भुत संगम इस महापुरुष (कानजी स्वामी) के मात्र प्रवचन ही नहीं, अपितु व्यवस्थित जीवन भी अध्ययन की वस्तु है; उसका अध्ययन किया जाना स्वतंत्ररूप से अपेक्षित है, तत्सम्बन्धी विस्तार न तो यहाँ सम्भव ही है और न उचित ही।

---

[1] जैनसन्देश, ४ नवम्बर १९७६, सम्पादकीय

आचार्य कुन्दकुन्द द्वारा रचित उपलब्ध साहित्य इसप्रकार है :-

१. समयसार (समयपाहुड़) २. प्रवचनसार (पवयणसार) ३. नियमसार (णियमसार)
४. पंचास्तिकायसंग्रह (पंचत्थिकायसंगह) ५. अष्टपाहुड़ (अट्ठपाहुड़)

इनके अतिरिक्त द्वादशानुप्रेक्षा (बारस अणुवेक्खा) एवं दशभक्ति भी आपकी कृतियाँ मानी जाती हैं। इसीप्रकार रयणसार और मूलाचार को भी आपकी रचनायें कहा जाता है। कुछ लोग तो कुरल काव्य को भी आपकी कृति मानते हैं।[1]

उल्लेखों के आधार पर कहा जाता है कि आपने षट्खण्डागम के प्रथम तीन खण्डों पर 'परिकर्म' नामक टीका लिखी थी, किन्तु वह आज उपलब्ध नहीं होती।

इसीप्रकार यह भी कहा जाता है कि आपने चौरासी पाहुड़ लिखे थे, किन्तु आज उक्त साहित्य के अतिरिक्त और कोई ग्रन्थ उपलब्ध नहीं है।

अष्टपाहुड़ में निम्नलिखित आठ पाहुड़ संगृहीत हैं :-

(१) दंसणपाहुड़ (२) सुत्तपाहुड़ (३) चारित्तपाहुड़ (४) बोधपाहुड़
(५) भावपाहुड़ (६) मोक्खपाहुड़ (७) लिंगपाहुड़ एवं (८) सीलपाहुड़

समयसार जिन-अध्यात्म का प्रतिष्ठापक अद्वितीय महान शास्त्र है। प्रवचनसार और पंचास्तिकायसंग्रह भी जैनदर्शन में प्रतिपादित वस्तुव्यवस्था के विशद् विवेचन करनेवाले जिनागम के मूल ग्रन्थराज हैं। ये तीनों ग्रन्थराज परवर्ती दिगम्बर जैन साहित्य के मूलाधार रहे हैं। उक्त तीनों को नाटकत्रयी, प्राभृतत्रयी और कुन्दकुन्दत्रयी भी कहा जाता है।

उक्त तीनों ग्रन्थराजों पर कुन्दकुन्द के लगभग एक हजार वर्ष बाद एवं आज से एक हजार वर्ष पहले आचार्य अमृतचन्द्रदेव ने संस्कृत भाषा में गम्भीर टीकायें लिखी हैं। समयसार, प्रवचनसार एवं पंचास्तिकाय पर आचार्य अमृतचन्द्र द्वारा लिखी गई टीकाओं के सार्थक नाम क्रमशः 'आत्मख्याति', 'तत्त्वप्रदीपिका' एवं 'समयव्याख्या' हैं।

इन पर आचार्य अमृतचन्द्र से लगभग तीन सौ वर्ष बाद आचार्य जयसेन द्वारा लिखी गई 'तात्पर्यवृत्ति' नामक सरल-सुबोध संस्कृत टीकायें भी उपलब्ध हैं।

नियमसार पर परमवैरागी मुनिराज श्री पद्मप्रभमलधारिदेव ने विक्रम की बारहवीं सदी में संस्कृत भाषा में 'तात्पर्यवृत्ति' नामक टीका लिखी, जो वैराग्यभाव एवं शान्तरस से सराबोर है, भिन्न प्रकार की अद्भुत टीका है।

अष्टपाहुड़ के आरम्भिक छह पाहुड़ों पर विक्रम की सोलहवीं सदी में लिखी गई भट्टारक श्रुतसागरसूरि की संस्कृत टीका प्राप्त होती है, जो षट्पाहुड़ नाम से प्रकाशित

[1] रयणसार प्रस्तावना

हुई है। षट्पाहुड़ कोई स्वतंत्र कृति नहीं है, अपितु अष्टपाहुड़ के आरम्भिक छह पाहुड़ ही षट्पाहुड़ नाम से जाने जाते हैं।

यहाँ इन सब पर विस्तृत चर्चा करना न तो संभव है और न आवश्यक ही। यहाँ तो अब प्रस्तुत कृति नियमसार के प्रतिपाद्य पर दृष्टिपात् करना प्रसंगप्राप्त है।

नियमसार

आचार्य भगवन्तों द्वारा शास्त्रों की रचना आत्मार्थीजनों के हितार्थ की जाती रही है। व्यक्तिविशेष के संबोधनार्थ भी अनेक महत्वपूर्ण ग्रन्थों का प्रणयन हुआ है। स्वान्तः सुखाय या भक्तिवश भी महत्वपूर्ण ग्रन्थ लिखे गये हैं।

यह नियमसार नामक परमागम न तो व्यक्तिविशेष के संबोधनार्थ ही लिखा गया है और न सामान्यरूप से आत्मार्थीजनों के हितार्थ इसका प्रणयन हुआ है, भक्ति भी इसका हेतु नहीं है। इस ग्रन्थाधिराज का प्रणयन आचार्य कुन्दकुन्द ने अपने दैनिक पाठ के लिये किया था। इसमें जहाँ एक ओर परमवीतरागी विरक्त सन्त की अन्तरोन्मुखी पावन भावना का तरल प्रवाह है तो दूसरी ओर अन्तरोन्मुखी पुरुषार्थ का उद्दाम वेग भी है। यह अपने प्रकार की अनुपम बेजोड़ कृति है।

यह ग्रन्थाधिराज तत्त्वोपदेशक एवं प्रशासक पट्टाचार्य कुन्दकुन्द की रचना नहीं; यह तो इन सबसे पूर्णतः विरक्त, परम पारिणामिकभाव में ही अनुरक्त, वीतरागी सन्त, अन्तरोन्मुखी कुन्दकुन्द की कृति है। इसमें कुन्दकुन्द का अन्तरङ्ग व्यक्त हुआ है। उपदेश, आदेश, अनुशासन-प्रशासन कुन्दकुन्द की मजबूरी थी, जीवन नहीं। उनका हार्द नियमसार है।

'सन्तों का कुछ भी गुप्त नहीं होता'– इस रीति के कारण ही महाभाग्य से यह आत्मार्थीजनों को उपलब्ध हो गया है। इसकी प्रतिपादन शैली अन्तरोन्मुखी भावना प्रधान है। सद्भाग्य से इसे पद्मप्रभमलधारिदेव जैसे अन्तरोन्मुखी, भावनाप्रधान, परमवैरागी टीकाकार भी उपलब्ध हो गये हैं; जिन्होंने इस पर समरसी टीका एवं उसके बीच-बीच में वैराग्यरस से ओत-प्रोत छन्द लिखकर आत्मोन्मुखी आत्मार्थीजनों का अनन्त-अनन्त उपकार किया है।

इसमें सन्देह नहीं कि नियमसार नामक परमागम[१] की रचना दिगम्बर परम्परा के सर्वश्रेष्ठ आचार्य कुन्दकुन्द ने सम्पूर्णतः स्वान्तःसुखाय ही की है।

---

[१] नियमसार के टीकाकार पद्मप्रभमलधारिदेव ने अनेक स्थानों पर नियमसार को परमागम कहा है। जैसे – छन्द ५,६ एवं गाथा १ की टीका

जैसा कि उनके निम्नांकित कथन से स्पष्ट है :—

"णियभावणाणिमित्तं मए कदं णियमसारणामसुदं ।
णच्चा जिणोवदेसं पुव्वावरदोसणिम्मुक्कं ।।१८७।।

पूर्वापर दोषरहित जिनोपदेश को जानकर मैंने निजभावनानिमित्त से इस नियमसार नामक शास्त्र की रचना की है ।"

इस ग्रन्थ के संस्कृत टीकाकार मुनिराज श्री पद्मप्रभमलधारिदेव इसे भागवतशास्त्र कहते हैं तथा इसके अध्ययन का फल शाश्वतसुख की प्राप्ति बताते हुए कहते हैं :—

"भागवतं शास्त्रमिदं निर्वाणसुन्दरीसमुद्भवपरमवीतरागात्मकनिर्व्याबाधनिरंतर-अनंगपरमानन्दप्रदं निरतिशयनित्यशुद्धनिरंजननिजकारणपरमात्मभावनाकारणं समस्त-नयनिचयांचितं पंचमगतिहेतुभूतं पंचेन्द्रियप्रसरवर्जितगातमात्रपरिग्रहेण निर्मितमिदं ये खलु निश्चयव्यवहारनययोरविरोधेन जानन्ति ते खलु महान्तः समस्ताध्यात्मशास्त्रहृदयवेदिनः परमानन्दवीतरागसुखाभिलाषिणः परित्यक्तबाह्याभ्यन्तरचतुर्विंशतिपरिग्रहप्रपंचाः त्रिकाल-निरूपाधिस्वरूपनिरतनिजकारणपरमात्मस्वरूपश्रद्धानपरिज्ञानाचरणात्मकभेदोपचारकल्पना-निरपेक्षस्वस्थरत्नत्रयपरायणाः सन्तः शब्दब्रह्मफलस्य शास्वतसुखस्य भोक्तारो भवन्तीति ।[1]

यह नियमसार नामक भागवतशास्त्र निर्वाणसुन्दरी से उत्पन्न, परमवीतरागात्मक, निराबाध, अनंग परमानन्द को निरन्तर देनेवाला है; निरतिशय, नित्यशुद्ध, निरंजन, निजकारणपरमात्मा की भावना का कारण है; समस्तनयों के समूह से शोभित है; पंचमगति का हेतु है तथा देहमात्र है परिग्रह जिनके — ऐसे पंचेन्द्रियजयी निर्ग्रन्थ मुनिराज श्री कुन्दकुन्दाचार्यदेव द्वारा रचित है ।

ऐसे इस भागवतशास्त्र नियमसार को जो निश्चय और व्यवहारनय के अविरोध से जानते हैं, वे महापुरुष समस्त अध्यात्मशास्त्रों के हृदय को जाननेवाले, परमानन्दरूप वीतराग सुख के अभिलाषी, बाह्याभ्यन्तर चौबीस प्रकार के परिग्रह के प्रपंचों के त्यागी त्रिकाल निरूपाधिस्वरूप में निरत, निजकारणपरमात्मा के स्वरूप के श्रद्धान-ज्ञान-आचरणात्मक भेदोपचारकल्पना से निरपेक्ष स्वस्थ रत्नत्रय में परायण शब्दब्रह्म के फलरूप शाश्वत सुख के भोक्ता होते हैं ।"

निजशुद्धात्मस्वरूप के ज्ञान, श्रद्धान एवं ध्यान बिना चार गति और चौरासी लाख योनियों में परिभ्रमण करते हुए प्राणियों के लिए अनन्त दुःखों से मुक्ति के लिये

[1] नियमसार गाथा १८७ की तात्पर्यवृति नामक संस्कृत टीका

निजात्मा का ज्ञान, श्रद्धान एवं ध्यान ही एकमात्र नियम से करने योग्य कार्य है। निजात्मा के श्रद्धान, ज्ञान एवं ध्यानरूप सम्यग्दर्शन, ज्ञान और चारित्र ही नियम होने से नियमसार के प्रतिपाद्य विषय हैं। नियम के साथ सार शब्द का प्रयोग विपरीताभिनिवेश के निषेध के लिए किया गया है।

जैसा कि आचार्यदेव स्वयं लिखते हैं :–

"णियमेण य जं कज्जं तं णियमं णाणदंसणचरित्तं।
विवरीयपरिहरत्थं भणिदं खलु सारमिदि वयणं ।।३।।

नियम से करने योग्य जो दर्शन, ज्ञान और चारित्ररूप कार्य हैं; वे ही नियम हैं। विपरीत अर्थात मिथ्यादर्शन-ज्ञान-चारित्र के परिहार के लिए नियम के साथ सार शब्द का प्रयोग किया गया है।"

यद्यपि नियमसार का प्रतिपाद्य सम्यग्दर्शन-ज्ञान-चारित्ररूप नियम ही है, तथापि इसमें तत्संबंधित और भी अनेक विषय आ गये हैं, जिनका उल्लेख तात्पर्यवृत्तिकार ने इसप्रकार किया है :–

"किञ्चास्य खलु निखिलागमार्थसार्थप्रतिपादनसमर्थस्य नियमशब्दसंसूचितविशुद्ध-मोक्षमार्गस्य अंचितपंचास्तिकायपरिसनाथस्य संचितपंचाचारप्रपंचस्य षड्द्रव्यविचित्रस्य सप्ततत्त्वनवपदार्थगर्भीकृतस्य पंचभावप्रपंचप्रतिपादनपरायणस्य निश्चयप्रतिक्रमणप्रत्याख्यान-प्रायश्चित्तपरमालोचनानियमव्युत्सर्गप्रभृतिसकलपरमार्थक्रियाकाण्डाडंबरसमृद्धस्य उपयोगत्रय-विशालस्य परमेश्वरस्य शास्त्रस्य······।[1]

और यह नियमसार नामक शास्त्र समस्त आगम के अर्थसमूह का प्रतिपादन करने में समर्थ है, इसमें नियम शब्द से सूचित विशुद्ध मोक्षमार्ग का प्रतिपादन है, यह पंचास्तिकाय के निरूपण से शोभित है; इसमें दर्शनाचार, ज्ञानाचार, चारित्राचार, तपाचार एवं वीर्याचार – इन पाँच आचारों का विस्तृत विवेचन है, इसमें छह द्रव्यों का विविध विवेचन तथा सात तत्त्व एवं नव पदार्थ भी समाये हुए हैं तथा इसमें पंचभावों का प्रतिपादन भी बड़ी ही प्रवीणता से किया गया है। निश्चय-प्रतिक्रमण, निश्चय-प्रत्याख्यान, निश्चय-प्रायश्चित्त, परम-आलोचना, नियम, व्युत्सर्ग आदि सम्पूर्ण परमार्थ क्रियाकाण्ड के आडम्बर से यह नियमसार नामक पारमेश्वरी शास्त्र समृद्ध है तथा तीन उपयोगों से सुसम्पन्न है।"

---

[1] नियमसार गाथा १८७ की तात्पर्यवृत्ति नामक संस्कृत टीका

१८७ गाथाओं में प्रतिपादित उक्त सम्पूर्ण विषय-वस्तु को नियमसार में निम्नलिखित बारह अधिकारों में विभाजित किया गया है :–

(१) जीवाधिकार	(२) अजीवाधिकार
(३) शुद्धभावाधिकार	(४) व्यवहारचारित्राधिकार
(५) परमार्थप्रतिक्रमणाधिकार	(६) निश्चयप्रत्याख्यानाधिकार
(७) परमालोचनाधिकार	(८) शुद्धनिश्चयप्रायश्चित्ताधिकार
(९) परमसमाधि-अधिकार	(१०) परमभक्ति-अधिकार
(११) निश्चयपरमावश्यकाधिकार	(१२) शुद्धोपयोगाधिकार

जीवाधिकार में उन्नीस गाथायें हैं। जिनमें मंगलाचरण और ग्रन्थ प्रतिज्ञा के बाद मोक्ष और मोक्षमार्ग की चर्चा की गई है तथा प्रतिपाद्य विषय के आधार पर नियमसार नाम की सार्थकता बताई गई है।

इसके बाद रत्नत्रयरूप नियम का निरूपण आरम्भ होता है। सर्वप्रथम व्यवहार सम्यग्दर्शन के प्रतिपादन में आप्त और आगम के स्वरूप का प्रतिपादन है।

इसप्रकार आठ गाथायें तो आरंभिक भूमिकारूप ही हैं। नौवीं गाथा में छह द्रव्यों के नाम बताकर दशवीं गाथा से जीवद्रव्य की चर्चा आरम्भ होती है, जो दश गाथाओं में समाप्त होती है।

इसके बाद अठारह गाथाओं में अजीवाधिकार है; जिसमें पुद्गल, धर्म, अधर्म, आकाश और काल – इन पाँच अचेतन द्रव्यों का सामान्य वर्णन है।

ये दोनों अधिकार तो सामान्य ही हैं। नियमसार की विशेषता तो तीसरे शुद्धभावाधिकार की प्रथम गाथा से आरंभ होती है, जिसमें जीवादि बाह्यतत्त्वों को हेय बताया गया है तथा कर्मोपाधिजनित गुणपर्यायों से भिन्न आत्मा को उपादेय कहा है। इसके बाद उनचासवीं गाथा तक सभी प्रकार के परभावों व विभावभावों से आत्मा को भिन्न बताते हुए पचासवीं गाथा में आचार्य कहते हैं :–

"पुव्वुत्तसयलभावा परदव्वं परसहावमिदि हेयं।
सगदव्वमुवादेयं अंतरतच्चं हवे अप्पा ॥५०॥

पूर्वोक्त सभी भाव परस्वभाव हैं, परद्रव्य हैं; इसलिए हेय हैं। अन्तस्तत्त्वरूप स्वद्रव्य ही उपादेय है।"

इसके बाद सम्यग्दर्शन-ज्ञान का स्वरूप बताकर चारित्र का स्वरूप बताने की प्रतिज्ञा करते हैं और सर्वप्रथम व्यवहारचारित्राधिकार नामक चतुर्थ अधिकार में

व्यवहारचारित्र का स्वरूप समझाते हैं; जिसमें पाँच व्रतों, पाँच समितियों एवं तीन गुप्तियों का वर्णन है। तत्पश्चात् पंचपरमेष्ठी के स्वरूप का निरूपण है।

इसप्रकार छहत्तरवीं गाथा तक व्यवहारचारित्राधिकार समाप्त हो जाता है। अब निश्चयचारित्र के अन्तर्गत परमार्थप्रतिक्रमणाधिकार आरम्भ होता है।

इस अधिकार की आरम्भिक पाँच गाथाओं को टीकाकार पद्मप्रभमलधारिदेव पंचरत्न कहते हैं; इनमें नारकादि, गुणस्थानादि, बालकादि, रागादि एवं क्रोधादिभावों का निश्चय से आत्मा कर्त्ता, कारयिता, अनुमंता व कारण नहीं है – यह बताया गया है। इसके बाद एक गाथा में यह स्पष्ट किया गया है कि उक्त भावना से जिस माध्यस्थ्यभाव की उत्पत्ति होती है, उसे निश्चयचारित्र कहते हैं। फिर प्रतिक्रमण की चर्चा आरम्भ होती है। यह अधिकार चौरानवेवीं गाथा तक चलता है।

इस अधिकार के सम्पूर्ण प्रतिपादन का सार यह है कि आत्माराधना ही वस्तुतः परमार्थप्रतिक्रमण है।

निष्कर्ष के रूप में निम्नांकित गाथा को प्रस्तुत किया जा सकता है :–

"झाणणिलीणो साहू परिचागं कुणइ सव्वदोसाणं।
तम्हा दु झाणमेव हि सव्वदिचारस्स पडिकमणं ॥९३॥

ध्यान में लीन साधु सब दोषों का परित्याग करते हैं; इसलिए ध्यान ही वास्तव में सर्व अतिचार का प्रतिक्रमण है।"

पच्चानवेवीं गाथा से निश्चयप्रत्याख्यानाधिकार आरम्भ होता है, जो एक सौ छहवीं गाथा तक चलता है। इसके बाद एक सौ बारहवीं गाथा तक परमालोचनाधिकार है।

परमार्थप्रत्याख्यान और परम-आलोचना अधिकार परमार्थप्रतिक्रमण के समान ध्यानरूप ही हैं। प्रतिक्रमण में ध्यान द्वारा भूतकाल के दोषों का निराकरण होता है, तो आलोचना और प्रत्याख्यान में वर्तमान और भविष्य का, मात्र यही अन्तर है।

यह बात निम्नांकित गाथा पर ध्यान देने पर स्पष्ट हो जाती है :–

"मोत्तूण सयलजप्पमणागयसुहमसुहवारणं किच्चा।
अप्पाणं जो झायदि पच्चक्खाणं हवे तस्स ॥९५॥

समस्त जल्प (वचनविस्तार) को छोड़कर तथा अनागत शुभ-अशुभ का निवारण करके जो आत्मा को ध्याता है, उसे प्रत्याख्यान है।"

इसमें अनागत शब्द ध्यान देने योग्य है, इससे सिद्ध होता है कि प्रत्याख्यान भविष्यसम्बन्धी दोषों के त्याग से सम्बन्धित होता है।

इसके बाद आठवाँ शुद्धनिश्चयप्रायश्चित्ताधिकार आरंभ होता है, जो एक सौ इक्कीसवीं गाथा तक चलता है। इसमें भी आत्मध्यान को ही शुद्धनिश्चयप्रायश्चित्त कहा गया है। इसमें तो साफ-साफ लिखा है –

"किं बहुणा भणिएण दु वरतवचरणं महेसिणं सव्वं।
पायच्छित्तं जाणह अणेयकम्माण खयहेऊ ।।११७।।

अधिक कहने से क्या ? अनेक कर्मों के क्षय का हेतु महर्षियों द्वारा किया गया तपश्चरण ही प्रायश्चित्त जानो।"

यद्यपि इसमें तपश्चरण को शुद्धनिश्चयप्रायश्चित्त कहा गया है, तथापि ध्यान ही तो सर्वोत्कृष्ट तप है; अतः ध्यान ही शुद्धनिश्चयप्रायश्चित्त हुआ। आगे चलकर ध्यान को भी स्पष्टरूप से शुद्धनिश्चयप्रायश्चित्त कहा गया है।

इसके बाद परमसमाधि-अधिकार आरम्भ होता है, जिसकी पहली गाथा में ही कहा गया है :–

"वयणोच्चारणकिरियं परिचत्ता वीयरायभावेण।
जो झायदि अप्पाणं परमसमाही हवे तस्स ।।१२२।।

वचनोच्चारण क्रिया त्यागकर वीतरागभाव से जो आत्मा को ध्याता है, उसे परमसमाधि है।"

इसके बाद लगातार एक सौ तेतीसवीं गाथा तक इसी बात को अनेक प्रकार से पुष्ट किया गया है। पद्मप्रभमलधारिदेव का वह कलश, जिसके आधार पर उन्हें भावी तीर्थंकर कहा जाता है, परमसमाधि-अधिकार में ही आता है। उक्त दो सौ बारहवाँ कलश मूलतः इसप्रकार है :–

"आत्मा नित्यं तपसि नियमे संयमे सच्चरित्रे तिष्टत्युच्चैः परमयमिनः शुद्धदृष्टेर्मनश्चेत्।
तस्मिन् बाढं भवभयहरे भावितीर्थाधिनाथे साक्षादेषा सहजसमता प्रास्तरागाभिरामे ।।

यदि शुद्ध दृष्टिवन्त जीव ऐसा समझता है कि परममुनि को तप में, नियम में, संयम में और सच्चारित्र में सदा आत्मा ही ऊर्ध्व रहता है तो राग के नाश के कारण उस भवभयहर अभिराम भावितीर्थनाथ को यह साक्षात् सहजसमता निश्चित है।"

इसके बाद एक सौ चौतीसवीं गाथा से दशवाँ परमभक्ति-अधिकार आरम्भ होता है, जो एक सौ चालीसवीं गाथा तक चलता है। परमभक्ति का स्वरूप स्पष्ट करने के लिए इस अधिकार में समागत पद्मप्रभमलधारिदेव द्वारा लिखित निम्नांकित कलशों को प्रस्तुत करना उचित प्रतीत होता है। जिनमें समस्त परमभक्ति-अधिकार का सारांश समाहित है।

"आत्मानमात्मनात्मायं युनक्त्येव निरन्तरम् ।
स योगभक्तियुक्तः स्यन्निश्चयेन मुनीश्वरः ।।२२८।।

जो यह आत्मा आत्मा को आत्मा के साथ निरन्तर जोड़ता है, वह निश्चय से योगभक्तिवाला मुनीश्वर है ।

सम्यक्त्वेऽस्मिन् भवभयहरे शुद्धबोधे चरित्रे भक्तिं कुर्यादनिशमतुलां यो भवच्छेददक्षाम् ।
कामक्रोधाद्यखिलदुरघव्रातनिर्मुक्तचेताः भक्तो भक्तो भवति सततं श्रावकः संयमी वा ।।२२०।।

जो भवभय के हरनेवाले इस सम्यक्त्व, शुद्धज्ञान एवं चारित्र की भवछेदक अतुल भक्ति निरन्तर करता है; वह काम-क्रोधादि समस्त दुष्ट पापसमूह से मुक्त चित्तवाला जीव चाहे श्रावक हो या संयमी हो – निरन्तर भक्त है, भक्त है ।"

इसके बाद एक सौ इकतालीसवीं गाथा से निश्चय परमावश्यक अधिकार आरंभ होता है, जो एक सौ अट्ठावनवीं गाथा तक चलता है । एक सौ बियालीसवीं गाथा में आचार्य ने आवश्यक का जो व्युत्पत्त्यर्थ बताया है, वह अपने आप में अद्‌भुत एवं दृष्टव्य है :–

"ण वसो अवसो अवसस्स कम्म वावस्सयं ति बोद्धव्वा ।

जो अन्य के वश नहीं है, वह 'अवश' है और अवश का कर्म 'आवश्यक' है – ऐसा जानना चाहिये ।"

अन्यवश का विस्तृत स्पष्टीकरण आगे की अनेक गाथाओं में किया गया है, जिनमें बताया गया है कि शुभाशुभभाव में रहनेवाला व द्रव्य-गुण-पर्याय के चिन्तन में मग्न आत्मा अन्यवश है, आत्मस्वरूप में संलग्न आत्मा ही स्ववश है ।

इस सन्दर्भ में निम्नांकित कलश दृष्टव्य है :–

"अन्यवशः संसारी मुनिवेषधरोपि दुःखभाङ्नित्यम् ।
स्ववशो जीवन्मुक्तः किंचिन्न्यूनो जिनेश्वरादेषः ।।२४३।।

जो जीव अन्यवश है; वह भले ही मुनिवेषधारी हो, तथापि संसारी है, नित्य दुख भोगनेवाला है । जो जीव स्ववश है; वह जीवन्मुक्त है, जिनेश्वर से किंचित् ही न्यून है ।"

इसके बाद एक सौ उनसाठवीं गाथा से शुद्धोपयोगाधिकार आरम्भ होता है, जो अन्तिम अधिकार है और अन्त तक अर्थात् एक सौ सत्यासीवीं गाथा तक चलता है । वह प्रसिद्ध गाथा, जिसमें केवली भगवान पर को व्यवहार से जानते हैं और निश्चय से स्व को – यह बताया गया है; इस अधिकार की पहली ही गाथा है । आगे चलकर आत्मा के स्व-परप्रकाशक स्वरूप का युक्तिसंगत विस्तृत स्पष्टीकरण किया गया है ।

अन्त में निर्वाण अर्थात् सिद्धदशा का वर्णन किया गया है ।

दूसरी गाथा में मार्ग और मार्गफल की जो बात आरम्भ की थी, एक सौ पच्यासीवीं गाथा में उस कथन को दुहराते हुए उपसंहार किया गया है।

अन्त में एक महत्वपूर्ण चेतावनी दी गई है, जो उन्हीं के शब्दों में इसप्रकार है :–

"ईसाभावेण पुणो केई णिंदंति सुन्दरं मग्गं।
तेसिं वयणं सोच्चाऽभत्तिं मा कुणह जिणमग्गे ॥१८६॥

यदि कोई ईर्ष्याभाव से इस सुन्दर मार्ग की निन्दा करें तो उनके वचन सुनकर इस जिनमार्ग में अभक्ति मत करना।"

इसप्रकार हम देखते हैं कि सम्पूर्ण नियमसार में एक ही ध्वनि है कि परम पारिणामिक भावरूप निजशुद्धात्मा की आराधना में ही समस्त धर्म समाहित हैं। इसके अतिरिक्त जो भी शुभाशुभ विकल्प एवं शुभाशुभ क्रियाएँ हैं, उन्हें धर्म कहना मात्र उपचार है। अतः प्रत्येक आत्मार्थी का एकमात्र कर्तव्य इन उपचरित धर्मों से विरत हो एकमात्र निजशुद्धात्मतत्त्व की आराधना में निरत होना ही है।

निजशुद्धात्मतत्त्व का ज्ञान, श्रद्धान एवं आचरण (लीनता) ही निश्चय रत्नत्रय है, नियम है। प्रतिक्रमण, प्रत्याख्यान, आलोचना, प्रायश्चित्त, परमसमाधि, परमभक्ति, परमावश्यक आदि इसी के विशेष हैं; अतः इसी में समाहित हैं।

आचार्यदेव स्वयं कहते हैं कि वचनरूप प्रतिक्रमणादि तो स्वाध्याय हैं, ध्यान नहीं; अतः ग्राह्य नहीं। ध्यानरूप निश्चय प्रतिक्रमणादि ही करने योग्य हैं। यदि शक्तिहीनता के कारण ध्यानरूप निश्चय प्रतिक्रमणादि सम्भव न हो तो श्रद्धानरूप प्रतिक्रमण करना। तात्पर्य यह है कि श्रद्धा में ऐसा स्वीकार करना कि वास्तविक प्रतिक्रमणादि तो आत्मा के ध्यानरूप ही हैं, वचनादिरूप नहीं हैं; अर्थात् श्रद्धेय, ध्येय, आराध्य तो एक आत्मा ही है। तत्सम्बन्धी मूल कथन इसप्रकार है :–

"वयणमयं पडिकमणं वयणमयं पच्चखाण णियमं च।
आलोयण वयणमयं तं सव्वं जाण सज्झायं ॥१५३॥
जदि सक्कदि कादुं जे पडिकमणादिं करेज्ज झाणमयं।
सत्तिविहीणो जा जइ सद्दहणं चेव कायव्वं ॥१५४॥

वचनमय प्रतिक्रमण, वचनमय प्रत्याख्यान, वचनमय नियम और वचनमय आलोचना– इन सबको स्वाध्याय जानो।

अहो! यदि किया जा सके तो ध्यानमय प्रतिक्रमणादि करो, यदि शक्तिविहीन होने से ध्यानमय प्रतिक्रमणादि न कर सको तो तब तक श्रद्धान ही कर्त्तव्य है।"

यद्यपि मोहाछन्न दुखी जगत को देख करुणावंत आचार्य भगवन्त श्री कुन्दकुन्दाचार्य समयसार जैसे ग्रन्थाधिराजों की रचना करते हैं, करुणा से विगलित हो उपदेश देते हैं, आदेश देते हैं, विविध युक्तियों एवं उदाहरणों से वस्तुस्वरूप समझाते हैं; तथापि अन्तर में भलीभाँति जानते हैं कि इसप्रकार के विकल्पों में उलझना आत्महित की दृष्टि से हितकर नहीं है, उचित नहीं है। अतः स्वयं को सम्बोधित करते हुए अथवा दूसरों को समझाने के विकल्प में उलझे अन्तेवासियों (निकटवर्ती शिष्यों) को समझाते हुए कहते हैं :-

"णाणाजीवा णाणाकम्मं णाणाविहं हवे लद्धी।
तम्हा वयणविवादं सगपरसमएहिं वज्जिज्जो ॥१५६॥
लद्धूणं णिहि एक्को तस्स फलं अणुहवेइ सुजणत्ते।
तह णाणी णाणणिहिं भुंजेइ चइत्तु परतत्ति ॥१५७॥

जीव नानाप्रकार के हैं, कर्म नानाप्रकार के हैं और लब्धियाँ भी नानाप्रकार की हैं; अतः स्वमत और परमतवालों के साथ वचनविवाद उचित नहीं है, निषेध योग्य है।

जिसप्रकार कोई व्यक्ति निधि को पाकर अपने वतन में गुप्तरूप से रहकर उसके फल को भोगता है, उसीप्रकार ज्ञानी भी परिजनों से दूर रह-गुप्त रह ज्ञाननिधि को भोगता है।"

इसप्रकार हम देखते हैं कि यह नियमसार नामक परमागम मुख्यतः मोक्षमार्ग के निरुपचार निरूपण का अनुपम ग्रन्थाधिराज है। यह मात्र विद्वानों के ही अध्ययन की वस्तु नहीं, अपितु प्रत्येक आत्मार्थी के दैनिक पाठ की चीज है।

इस युग में आचार्य कुन्दकुन्द के सम्पूर्ण साहित्य के गहन अध्येता एवं प्रबल-प्रचारक आध्यात्मिक सत्पुरुष श्री कानजी स्वामी नियमसार पर प्रवचन करते हुए आनन्द-विभोर होकर कहते हैं :-

"परम पारिणामिकभाव को प्रकाशित करनेवाला श्री नियमसार परमागम और उसकी टीका की रचना छठवें-सातवें गुणस्थान में झूलते हुए महासमर्थ मुनिवरों द्वारा द्रव्य के साथ पर्याय की एकता साधते-साधते हो गई है। जैसे शास्त्र और टीका रचे गये हैं, वैसा ही स्वसंवेदन वे स्वयं कर रहे थे। परम पारिणामिकभाव के अन्तर्अनुभव को ही उन्होंने शास्त्र में उतारा है; प्रत्येक अक्षर शाश्वत, टंकोत्कीर्ण, परमसत्य, निरपेक्ष, कारणशुद्धपर्याय, स्वरूपप्रत्यक्ष सहजज्ञान आदि विषयों का निरूपण करके तो मुनिवरों ने अध्यात्म की अनुभवगम्य अत्यंतात्यंत सूक्ष्म और गहन बात को इस शास्त्र में स्पष्ट किया है।

सर्वोत्कृष्ट परमागम श्री समयसार में भी इन विषयों का इतने स्पष्टरूप से निरूपण नहीं है। अहो ! जिसप्रकार कोई पराक्रमी कहा जानेवाला पुरुष वन में जाकर

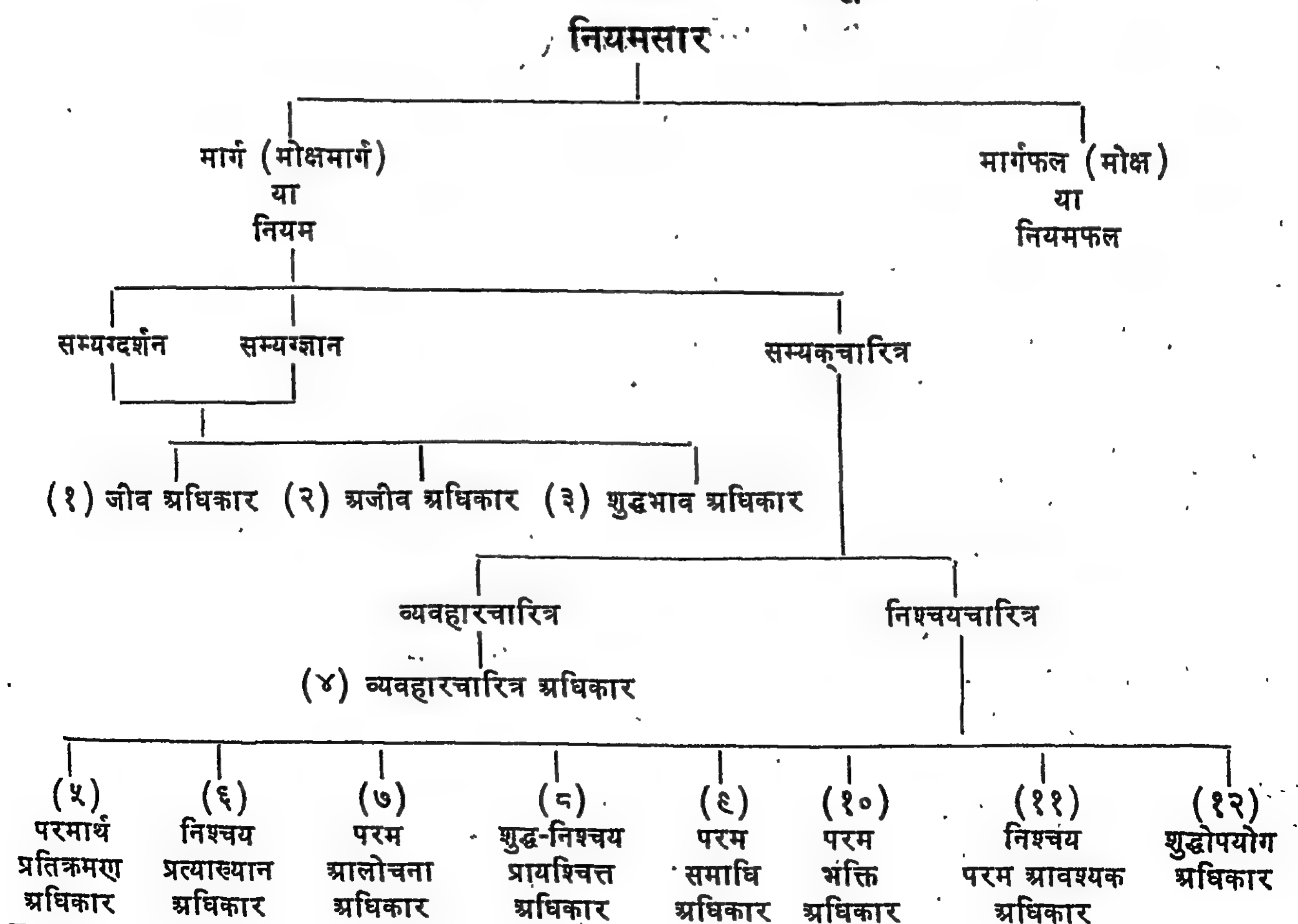
सिंहनी का दूध दुह लाता है, उसीप्रकार आत्मपराक्रमी महा मुनिवरों ने वन में बैठे-बैठे अन्तर का अमृत दुहा है। सर्वसंग परित्यागी निर्ग्रन्थों ने, वन में रहकर सिद्ध भगवन्तों से बातें की हैं और अनन्त सिद्ध भगवन्त किसप्रकार सिद्धि को प्राप्त हुए हैं, उसका इतिहास इसमें भर दिया है।"

'परम पारिणामिकभावरूप निज शुद्धात्मतत्त्व ही एकमात्र आराध्य है, उपास्य है, श्रद्धेय है, ध्येय है, परमज्ञेय है। इसके श्रद्धान, ज्ञान एवं ध्यानरूप पावन परिणतियाँ ही साधन हैं, मार्ग हैं, रत्नत्रय हैं, नियम हैं। तथा इन्हीं पावन परिणतियों की परिपूर्णता ही साध्य है, मार्गफल है, निर्वाण है।' – इस परमार्थ सत्य का प्रतिपादक ही यह नियमसार नामक परमागम है।

मेरे साथ सम्पूर्ण जगत भी इस अमृत के सागर में निरन्तर आकण्ठ निमग्न रहे – इस पावन भावना के साथ विराम लेता हूँ।

दिनाङ्क : २९-१-८४ – (डॉ०) हुकमचन्द भारिल्ल

नियमसार के विषय-विभाजन का सूचक चार्ट



भगवान श्री कुन्दकुन्दाचार्यदेव के सम्बन्ध में

अभिलेख एवं उल्लेख

वन्द्यो विभुर्भुवि न कैरिह कौण्डकुन्दः
कुन्द-प्रभा-प्रणयि-कीर्ति-विभूषिताशः ।
यश्चारु-चारण-कराम्बुज-चञ्चरीक-
श्चक्रे श्रुतस्य भरते प्रयतः प्रतिष्ठाम् ।।

[चन्द्रगिरि पर्वत का शिलालेख]

अर्थ :— कुन्द-पुष्प की प्रभा धारण करनेवाली जिनकी कीर्ति द्वारा दिशाएँ विभूषित हुई हैं, जो चारणों के — चारणऋद्धिधारी महामुनियों के — सुन्दर हस्त-कमलों के भ्रमर थे और जिन पवित्रात्मा ने भरतक्षेत्र में श्रुत की प्रतिष्ठा की है, वे विभु कुन्दकुन्द इस पृथ्वी पर किससे वन्द्य नहीं हैं ?

❀ ❀ ❀ ❀

······कौण्डकुन्दो यतीन्द्रः ।।
रजोभिरस्पृष्टतमत्वमन्त-
र्बाह्येऽपि संव्यञ्जयितुं यतीशः ।
रजःपदं भूमितलं विहाय
चचार मन्ये चतुरंगुलं सः ।।

[विन्ध्यगिरि पर्वत का शिलालेख]

अर्थ :— यतीश्वर (श्री कुन्दकुन्दस्वामी) रजःस्थान को — भूमितल को — छोड़कर चार अंगुल ऊपर आकाश में गमन करते थे, उसके द्वारा मैं ऐसा समझता हूँ कि वे अन्तर में तथा बाह्य में रज से (अपनी) अत्यन्त अस्पृष्टता व्यक्त करते थे। (अर्थात् वे अन्तरङ्ग में रागादिक मल से और बाह्य में धूल से अस्पृष्ट थे।)

जइ पउमणंदिणाहो सीमंधरसामिदिव्वणाणेण ।
ण विबोहइ तो समणा कहं सुमग्गं पयाणंति ।।

[दर्शनसार]

अर्थ :- यदि श्री सीमंधर स्वामी (महाविदेहक्षेत्र के वर्तमान तीर्थंकरदेव) से प्राप्त हुए दिव्यज्ञान द्वारा श्री पद्मनन्दिनाथ ने (श्री कुन्दकुन्दाचार्यदेव ने) तत्त्वबोध न दिया होता तो मुनिजन सच्चे मार्ग को कैसे जानते ?

❃ ❃ ❃ ❃

जास के मुखार-विन्द तें प्रकाश भास-वृन्द ।
स्याद्वाद जैन बैन इन्दु कुन्दकुन्द से ।।
तास के अभ्यास तें विकास भेदज्ञान होत ।
मूढ़ सो लखै नहीं कुबुद्धि कुन्दकुन्द से ।।
देत हैं अशीस शीस नाय इन्द्र चन्द्र जाहि ।
मोह-मार-खण्ड मार्तण्ड कुन्दकुन्द से ।।
शुद्धबुद्धि-वृद्धिदा प्रसिद्धरिद्धि-सिद्धिदा ।
हुए हैं न होंहिगे मुनिन्द कुन्दकुन्द से ।। ६६ ।।

[प्रवचनसार परमागम]

❃ ❃ ❃ ❃

हे कुन्दकुन्दादि आचार्यों ! आपके वचन भी स्वरूपानुसंधान में इस पामर को परम उपकारभूत हुए हैं, उसके लिये मैं आपको अत्यन्त भक्तिपूर्वक नमस्कार करता हूँ ।

[श्रीमद् राजचन्द्र]

विषयानुक्रमणिका

१२. शुद्धोपयोगाधिकार

श्री समयसार स्तुति

(हरिगीत)

संसारी जीवनां भावमरणो टालवा करुणा करी,
सरिता वहावी सुधा-तणी प्रभु वीर ! तें संजीवनी ।
शोषाती देखी सरितने करुणाभीना हृदये करी,
मुनिकुन्द संजीवनी समयप्राभृत तणे भाजन भरी ।।१।।

(अनुष्टुप्)

कुन्दकुन्द रच्युं शास्त्र, साथिया अमृते पूर्या ।
ग्रंथाधिराज ! तारामां भावो ब्रह्मांडना भर्या ।।२।।

(शिखरिणी)

अहो ! वाणी तारी प्रशमरस-भावे नितरती,
मुमुक्षु ने पाती अमृतरस अंजलि भरीभरी ।
अनादिनी मूर्छा विष-तणी त्वराथी उतरती,
विभावेथी थंभी स्वरूप भणी दौड़े परिणती ।।३।।

(शार्दूलविक्रीड़ित)

तूं छे निश्चयग्रन्थ भङ्ग सगला व्यवहारना भेदवा,
तूं प्रज्ञाछीणी ज्ञान ने उदयनी संधि सहु छेदवा ।
साथी साधकनो तूं भानु जगनो संदेश महावीरनो,
विसामो भवक्लांतना हृदयनो, तूं पन्थ मुक्ति-तणो ।।४।।

(वसंततिलका)

सूण्ये तने रसनिबन्ध शिथिल थाय,
जाण्ये तने हृदय ज्ञानी तणां जणाय ।
तूं रूचतां जगतनी रुचि आलसे सौ,
तूं रीझतां सकलज्ञायकदेव रीझे ।।५।।

(अनुष्टुप्)

बनावूं पत्र कुन्दननां, रत्नों ना अक्षरो लखी ।
तथापि कुन्दसूत्रोनां अंकाये मूल्य ना कदी ।।६।।



❀ श्री सर्वज्ञवीतरागाय नमः ❀

शास्त्र-स्वाध्याय का प्रारम्भिक मंगलाचरण



ओंकारं बिन्दुसंयुक्तं नित्यं ध्यायन्ति योगिनः ।
कामदं मोक्षदं चैव ॐकाराय नमोनमः ॥१॥

अविरलशब्दघनौघ प्रक्षालितसकलभूतलकलङ्का ।
मुनिभिरुपासिततीर्था सरस्वती हरतु नो दुरितान् ॥२॥

अज्ञानतिमिरान्धानां ज्ञानाञ्जनशलाकया ।
चक्षुरुन्मीलितं येन तस्मै श्री गुरवे नमः ॥३॥

❀ ❀ ❀

卐 श्री परमगुरवे नमः, परम्पराचार्यश्रीगुरवे नमः 卐

❀ ❀ ❀

सकलकलुषविध्वंसकं, श्रेयसां परिवर्धकं, धर्मसम्बन्धकं, भव्यजीवमनःप्रतिबोधकारकं, पुण्यप्रकाशकं, पापप्रणाशकमिदं शास्त्रं-श्रीसमयसारनामधेयं; अस्य मूलग्रन्थकर्तारः श्रीसर्वज्ञ-देवास्तदुत्तरग्रन्थ-कर्तारः श्रीगणधरदेवाः प्रतिगणधरदेवास्तेषां वचनानुसारमासाद्य आचार्यश्रीकुन्दकुन्दाचार्यदेवविरचितम् ।

॥ श्रोतारः सावधानतया शृण्वन्तु ॥

❀ ❀ ❀

मंगलं भगवान वीरो मंगलं गौतमो गणी ।
मंगलं कुन्दकुन्दार्यो जैनधर्मोऽस्तु मंगलम् ॥४॥

सर्वमंगलमांगल्यं सर्वकल्याणकारकं ।
प्रधानं सर्वधर्माणां जैनं जयतु शासनम् ॥५॥



परमात्मने नमः

श्रीमद्भगवत्कुन्दकुन्दाचार्यदेवप्रणीतः

नियमसारः

— १ —

जीव अधिकारः

श्रीपद्मप्रभमलधारिदेवविरचिततात्पर्यवृत्तिसमुपेतः ।

(मालिनी)

त्वयि सति परमात्मन्मादृशान्मोहमुग्धान्
कथमतनुवशत्वान्बुद्धकेशान्यजेऽहम् ।
सुगतमगधरं वा वागधीशं शिवं वा
जितभवमभिवन्दे भासुरं श्रीजिनं वा ॥१॥

मूल गाथाओंका तथा तात्पर्यवृत्ति नामक टीकाका

हिन्दी अनुवाद

[प्रथम, ग्रन्थके आदिमें श्रीमद्भगवत्कुन्दकुन्दाचार्यदेवविरचित प्राकृतगाथा-बद्ध इस "नियमसार" नामक शास्त्रकी "तात्पर्यवृत्ति" नामक संस्कृत टीकाके रचयिता मुनि श्री पद्मप्रभमलधारिदेव सात श्लोकों द्वारा मंगलाचरणादि करते हैं:—]

[श्लोकार्थ:—] हे परमात्मा ! तेरे होते हुए मैं अपने जैसे (संसारियों जैसे) मोहमुग्ध और कामवश बुद्धको तथा ब्रह्मा–विष्णु–महेशको क्यों पूजूं ? (नहीं

(अनुष्टुभ्)

वाचं वाचंयमीन्द्राणां वक्त्रवारिजवाहनम् ।
वन्दे नयद्वयायत्तवाच्यसर्वस्वपद्धतिम् ॥२॥

(शालिनी)

सिद्धान्तोद्धश्रीधवं सिद्धसेनं
तर्काब्जार्कं भट्टपूर्वाकलंकम् ।

पूजुंगा ।) जिसने भवोंको जीता है उसकी मैं वन्दना करता हूँ—उसे प्रकाशमान ऐसे श्रीजिन कहो, [1]सुगत कहो, [2]गिरिधर कहो, [3]वागीश्वर कहो या [4]शिव कहो ।१।

[श्लोकार्थः—] [5]वाचंयमीन्द्रोंका (–जिनदेवोंका) मुखकमल जिसका वाहन है और दो नयोंके आश्रयसे सर्वस्व कहनेकी जिसकी पद्धति है उस वाणीकी (जिनभगवन्तोंकी स्याद्वादमुद्रित वाणीकी) मैं वन्दना करता हूँ ।२।

[श्लोकार्थः—] उत्तम सिद्धान्तरूपी श्रीके पति सिद्धसेन मुनीन्द्रकी, [6]तर्ककमलके सूर्य भट्ट अकलंक मुनीन्द्रकी, [7]शब्दसिन्धुके चन्द्र पूज्यपाद मुनीन्द्रकी और तद्विद्यासे (–सिद्धान्तादि तीनोंके ज्ञानसे) समृद्ध वीरनन्दि मुनीन्द्रकी मैं वन्दना करता हूँ ।३।

१–बुद्धको सुगत कहा जाता है । सुगत अर्थात् [१] शोभनीकताको प्राप्त, अथवा [२] सम्पूर्णताको प्राप्त । श्री जिनभगवान [१] मोहरागद्वेषका अभाव होनेके कारण शोभनीकताको प्राप्त हैं, और [२] केवलज्ञानादिको प्राप्त कर लिया है इसलिये सम्पूर्णताको प्राप्त हैं; इसलिये उन्हें यहाँ सुगत कहा है ।

२–कृष्णको गिरिधर [अर्थात् पर्वतको धारण कर रखनेवाले] कहा जाता है । श्री जिनभगवान अनन्तवीर्यवान् होनेसे उन्हें यहाँ गिरिधर कहा है ।

३–ब्रह्माको अथवा बृहस्पतिको वागीश्वर [अर्थात् वाणीके अधिपति] कहा जाता है । श्री जिनभगवान दिव्यवाणीके प्रकाशक होनेसे उन्हें यहाँ वागीश्वर कहा है ।

४–महेशको [शंकरको] शिव कहा जाता है । श्री जिनभगवान कल्याणस्वरूप होनेसे उन्हें यहाँ शिव कहा गया है ।

५–वाचंयमीन्द्र=मुनियोंमें प्रधान अर्थात् जिनदेव; मौन सेवन करनेवालों में श्रेष्ठ अर्थात् जिनदेव; वाक्संयमियोंमें इन्द्र समान अर्थात् जिनदेव । [वाचंयमी=मुनि; मौन सेवन करनेवाले; वाणीके संयमी ।]

६–तर्ककमलके सूर्य=तर्करूपी कमलको प्रफुल्लित करनेमें सूर्य समान ।

७–शब्दसिन्धुके चन्द्र=शब्दरूपी समुद्रको उछालनेमें चन्द्र समान ।

शब्दाब्धीन्दुं पूज्यपादं च वन्दे ।
तद्विद्याढ्यं वीरनन्दिं व्रतीन्द्रम् ॥३॥

(अनुष्टुभ्)

अपवर्गाय भव्यानां शुद्धये स्वात्मनः पुनः ।
वक्ष्ये नियमसारस्य वृत्तिं तात्पर्य्यसंज्ञिकाम् ॥४॥

किं च—

(आर्या)

गुणधरगणधररचितं श्रुतधरसन्तानतस्तु सुव्यक्तम् ।
परमागमार्थसार्थं वक्तुममुं के वयं मन्दाः ॥५॥

अपि च—

(अनुष्टुभ्)

अस्माकं मानसान्युच्चैः प्रेरितानि पुनः पुनः ।
परमागमसारस्य रुच्या मांसलयाऽधुना ॥६॥

(अनुष्टुभ्)

पञ्चास्तिकायषड्द्रव्यसप्ततत्त्वनवार्थकाः ।
प्रोक्ताः सूत्रकृता पूर्वं प्रत्याख्यानादिसत्क्रियाः ॥७॥

[श्लोकार्थ:—] भव्योंके मोक्षके लिये तथा निज आत्माकी शुद्धिके हेतु नियमसारकी "तात्पर्यवृत्ति" नामक टीका मैं कहूँगा ।४।

पुनश्च—

[श्लोकार्थ:—] गुणके धारण करनेवाले गणधरोंसे रचित और श्रुतधरोंकी परम्परासे अच्छी तरह व्यक्त किये गये इस परमागमके अर्थसमूहका कथन करनेमें हम मन्दबुद्धि तो कौन ? ।५।

तथापि—

[श्लोकार्थ:—] इस समय हमारा मन परमागमके सारकी पुष्ट रुचिसे पुनः पुनः अत्यन्त प्रेरित हो रहा है । [उस रुचिसे प्रेरित होनेके कारण "तात्पर्यवृत्ति" नामकी यह टीका रची जा रही है ।] ।६।

[श्लोकार्थ:—] सूत्रकारने पहले पाँच अस्तिकाय, छह द्रव्य, सात तत्त्व और नव पदार्थ तथा प्रत्याख्यानादि सत्क्रियाका कथन किया है (अर्थात् भगवान् कुन्दकुन्दाचार्यदेवने इस शास्त्रमें प्रथम पाँच अस्तिकाय आदि और पश्चात् प्रत्याख्यानादि सत्क्रियाका कथन किया है) ।७।

अलमलमतिविस्तरेण । स्वस्ति साक्षादस्मै विवरणाय ।

अथ सूत्रावतारः—

णमिऊण जिणं वीरं अणंतवरणाणदंसणसहावं ।
वोच्छामि णियमसारं केवलिसुदकेवलीभणिदं ॥१॥

नत्वा जिनं वीरं अनन्तवरज्ञानदर्शनस्वभावम् ।
वक्ष्यामि नियमसारं केवलिश्रुतकेवलिभणितम् ॥१॥

अथात्र जिनं नत्वेत्यनेन शास्त्रस्यादावसाधारणं मङ्गलमभिहितम् ।

नत्वेत्यादि—अनेकजन्माटवीप्रापणहेतून् समस्तमोहरागद्वेषादीन् जयतीति जिनः । वीरो विक्रान्तः. वीरयते शूरयते विक्रामति कर्मारातीन् विजयत इति वीरः—श्रीवर्द्धमानसन्मति-

---

अति विस्तारसे बस होओ, बस होओ । साक्षात् यह विवरण जयवन्त वर्तो ।

अब (श्रीमद्भगवत्कुन्दकुन्दाचार्यदेवविरचित) गाथासूत्रका अवतरण किया जाता है:—

गाथा १

अन्वयार्थः—[अनन्तवरज्ञानदर्शनस्वभावं] अनन्त और उत्कृष्ट ज्ञानदर्शन जिनका स्वभाव है ऐसे (—केवलज्ञानी और केवलदर्शनी) [जिनं वीरं] जिन वीरको [नत्वा] नमन करके [केवलिश्रुतकेवलिभणितं] केवली तथा श्रुतकेवलियोंका कहा हुआ [नियम-सारं] नियमसार [वक्ष्यामि] मैं कहूंगा ।

टीकाः—यहाँ "जिनं नत्वा" इस गाथासे शास्त्रके आदिमें असाधारण मङ्गल कहा है ।

"नत्वा" इत्यादि पदोंका तात्पर्य कहा जाता है:—

अनेक जन्मरूप अटवीको प्राप्त करानेके हेतुभूत समस्त मोहरागद्वेषादिकको जो जीत लेता है वह "जिन" है । "वीर" अर्थात् विक्रान्त (—पराक्रमी) ; वीरता प्रगट करे, शौर्य प्रगट करे, विक्रम (पराक्रम) दर्शाये, कर्मशत्रुओं पर विजय प्राप्त करे, वह "वीर" है । ऐसे वीरको—जो कि श्री वर्द्धमान, श्री सन्मतिनाथ, श्री अतिवीर तथा

नमकर अनन्तोत्कृष्ट दर्शन–ज्ञानमय जिन वीरको ।
कहुँ नियमसार सु केवली श्रुतकेवली परिकथितको ॥१॥

नाथमहतिमहावीराभिधानैः सनाथः परमेश्वरो महादेवाधिदेवः पश्चिमतीर्थनाथः त्रिभुवनसचराचरद्रव्यगुणपर्यायैकसमयपरिच्छित्तिसमर्थसकलविमलकेवलज्ञानदर्शनाभ्यां युक्तो यस्तं प्रणम्य वक्ष्यामि कथयामीत्यर्थः । कम् ? नियमसारम् । नियमशब्दस्तावत् सम्यग्दर्शनज्ञानचारित्रेषु वर्तते; नियमसार इत्यनेन शुद्धरत्नत्रयस्वरूपमुक्तम् । किंविशिष्टम् ? केवलिश्रुतकेवलिभणितम् । केवलिनः सकलप्रत्यक्षज्ञानधराः, श्रुतकेवलिनः सकलद्रव्यश्रुतधरास्तैः केवलिभिः श्रुतकेवलिभिश्च भणितं सकलभव्यनिकुरम्बहितकरं नियमसाराभिधानं परमागमं वक्ष्यामीति विशिष्टेष्टदेवतास्तवनानन्तरं सूत्रकृता पूर्वसूरिणा श्रीकुन्दकुन्दाचार्यदेवगुरुणा प्रतिज्ञातम् । इति सर्वपदानां तात्पर्य्यमुक्तम् ।

(मालिनी)

जयति जगति वीरः शुद्धभावास्तमारः
त्रिभुवनजनपूज्यः पूर्णबोधैकराज्यः ।
नतदिविजसमाजः प्रास्तजन्मद्रुबीजः
समवसृतिनिवासः केवलश्रीनिवासः ॥८॥

श्री महावीर—इन नामोंसे युक्त हैं, जो परमेश्वर हैं, महादेवाधिदेव हैं, अन्तिम तीर्थनाथ हैं, जो तीन भुवनके, सचराचर, द्रव्य—गुण—पर्यायसे कहे जानेवाले समयको (समस्त द्रव्योंको) जानने—देखनेमें समर्थ ऐसे सकलविमल (—सर्वथा निर्मल) केवलज्ञानदर्शनसे संयुक्त हैं उन्हें—नमन करके कहता हूँ । क्या कहता हूँ ? "नियमसार" कहता हूँ । "नियम" शब्द प्रथम तो, सम्यग्दर्शनज्ञानचारित्रके लिये है । "नियमसार" ("नियमका सार") ऐसा कहकर शुद्ध रत्नत्रयका स्वरूप कहा है । कैसा है वह ? केवलियों तथा श्रुतकेवलियोंने कहा हुआ है । "केवली" वे सकलप्रत्यक्ष ज्ञानके धारण करनेवाले और 'श्रुतकेवली' वे सकल द्रव्यश्रुतके धारण करनेवाले; ऐसे केवलियों तथा श्रुतकेवलियोंने कहा हुआ, सकल भव्यसमूहको हितकर, "नियमसार" नामका परमागम मैं कहता हूँ । इसप्रकार विशिष्ट इष्टदेवताका स्तवन करके, फिर सूत्रकार पूर्वाचार्य श्री कुन्दकुन्दाचार्यदेवगुरुने प्रतिज्ञा की ।

—इसप्रकार सर्व पदोंका तात्पर्य कहा गया ।

[अब, पहली गाथाकी टीका पूर्ण करते हुए टीकाकार मुनिराज श्री पद्मप्रभमलधारिदेव श्लोक कहते हैं :]

मग्गो मग्गफलं ति य दुविहं जिणसासणे समक्खादं ।
मग्गो मोक्खउवाओ तस्स फलं होइ णिव्वाणं ॥२॥

मार्गो मार्गफलमिति च द्विविधं जिनशासने समाख्यातम् ।
मार्गो मोक्षोपायः तस्य फलं भवति निर्वाणम् ॥२॥

मोक्षमार्गतत्फलस्वरूपनिरूपणोपन्यासोऽयम् ।

'सम्यग्दर्शनज्ञानचारित्राणि मोक्षमार्गः' इति वचनात्, मार्गस्तावच्छुद्धरत्नत्रयं, मार्गफलमपुनर्भवपुरन्ध्रिकास्थूलभालस्थललीलालंकारतिलकता। द्विविधं किलैवं परमवीतरागसर्वज्ञशासने

[श्लोकार्थः—] शुद्धभाव द्वारा *मारका (कामका) जिन्होंने नाश किया है, तीन भुवनके जनोंको जो पूज्य हैं, पूर्ण ज्ञान जिनका एक राज्य है, देवोंका समाज जिन्हें नमन करता है, जन्मवृक्षका बीज जिन्होंने नष्ट किया है, समवसरणमें जिनका निवास है और केवलश्री (–केवलज्ञानदर्शनरूपी लक्ष्मी) जिनमें वास करती है, वे वीर जगतमें जयवन्त वर्तते हैं ।८।

गाथा २

अन्वयार्थः—[**मार्गः मार्गफलम्**] मार्ग और मार्गफल [**इति च द्विविधं**] ऐसे दो प्रकारका [**जिनशासने**] जिन शासनमें [**समाख्यातम्**] कथन किया गया है; [**मार्गः मोक्षोपायः**] मार्ग मोक्षोपाय है और [**तस्य फलं**] उसका फल [**निर्वाणं भवति**] निर्वाण है ।

टीकाः—यह, मोक्षमार्ग और उसके फलके स्वरूपनिरूपणकी सूचना (–उन दोनोंके स्वरूपके निरूपणकी प्रस्तावना) है ।

"सम्यग्दर्शनज्ञानचारित्राणि मोक्षमार्गः (सम्यग्दर्शन, सम्यग्ज्ञान और सम्यक्चारित्र मोक्षमार्ग है)" ऐसा (शास्त्रका) वचन होनेसे, मार्ग तो शुद्धरत्नत्रय है और मार्गफल मुक्तिरूपी रमणीके विशाल भालप्रदेशमें शोभा–अलङ्काररूप तिलकपना है (अर्थात् मार्गफल मुक्तिरूपी रमणीको वरण करना है) । इस प्रकार वास्तवमें (मार्ग

---

* मार=[१] कामदेव; [२] हिंसा; [३] मरण ।

है मार्गका अरु मार्ग–फलका कथन जिन–शासन विषें ।
है मार्ग मोक्षउपाय अरु निर्वाण उसका फल कहें ॥२॥

चतुर्थज्ञानधारिभिः पूर्वसूरिभिः समाख्यातम् । परमनिरपेक्षतया निजपरमात्मतत्त्वसम्यक्श्रद्धान-परिज्ञानानुष्ठानशुद्धरत्नत्रयात्मकमार्गो मोक्षोपायः, तस्य शुद्धरत्नत्रयस्य फलं स्वात्मोपलब्धिरिति ।

(पृथ्वी)

क्वचिद् व्रजति कामिनीरतिसमुत्थसौख्यं जनः
क्वचिद् द्रविणरक्षणे मतिमिमां च चक्रे पुनः ।
क्वचिज्जिनवरस्य मार्गमुपलभ्य यः पन्डितो
निजात्मनि रतो भवेद् व्रजति मुक्तिमेतां हि सः ॥९॥

णियमेण य जं कज्जं तं णियमं णाणदंसणचरित्तं ।
विवरीयपरिहरत्थं भणिदं खलु सारमिदि वयणं ॥३॥

और मार्गफल ऐसा) दो प्रकारका, चतुर्थज्ञानधारी (-मनःपर्ययज्ञानके धारण करनेवाले) पूर्वाचार्योंने परमवीतराग सर्वज्ञके शासनमें कथन किया है । निज परमात्मतत्त्वके सम्यक्श्रद्धान-ज्ञान-अनुष्ठानरूप *शुद्धरत्नत्रयात्मक मार्ग परम निरपेक्ष होनेसे मोक्षका उपाय है और उस शुद्धरत्नत्रयका फल स्वात्मोपलब्धि (-निज शुद्ध आत्माकी प्राप्ति) है ।

[अब दूसरी गाथाकी टीका पूर्ण करते हुए टीकाकार मुनिराज श्लोक कहते हैं :]

[श्लोकार्थः—] मनुष्य कभी कामिनीके प्रति रतिसे उत्पन्न होनेवाले सुखकी ओर गति करता है और फिर कभी धनरक्षाकी बुद्धि करता है । जो पण्डित कभी जिनवरके मार्गको प्राप्त करके निज आत्मामें रत हो जाते हैं, वे वास्तवमें इस मुक्तिको प्राप्त होते हैं ।९।

---

* शुद्धरत्नत्रय अर्थात् निज परमात्मतत्त्वकी सम्यक् श्रद्धा; उसका सम्यक् ज्ञान और उसका सम्यक् आचरण परकी तथा भेदोंकी लेश भी अपेक्षा रहित होनेसे वह शुद्धरत्नत्रय मोक्षका उपाय है; उस शुद्धरत्नत्रयका फल शुद्ध आत्माकी पूर्ण प्राप्ति अर्थात् मोक्ष है ।

जो नियमसे कर्तव्य दर्शन-ज्ञान-व्रत यह नियम है ।
यह सार पद विपरीतके परिहार हित परिकथित है ॥३॥

नियमेन च यत्कार्यं स नियमो ज्ञानदर्शनचारित्रम् ।
विपरीतपरिहारार्थं भणितं खलु सारमिति वचनम् ।।३।।

अत्र नियमशब्दस्य सारत्वप्रतिपादनद्वारेण स्वभावरत्नत्रयस्वरूपमुक्तम् ।

यः सहजपरमपारिणामिकभावस्थितः स्वभावानन्तचतुष्टयात्मकः शुद्धज्ञानचेतनापरिणामः स नियमः । नियमेन च निश्चयेन यत्कार्यं प्रयोजनस्वरूपं ज्ञानदर्शनचारित्रम् । ज्ञानं तावत् तेषु त्रिषु परद्रव्यनिरवलंबत्वेन निःशेषतोन्तर्मुखयोगशक्तेः सकाशात् निजपरमतत्त्व-

---

गाथा ३

अन्वयार्थः—[सः नियमः] नियम अर्थात् [नियमेन च] नियमसे (निश्चित) [यत् कार्यं] जो करने योग्य हो वह अर्थात् [ज्ञानदर्शनचारित्रम्] ज्ञानदर्शनचारित्र । [विपरीतपरिहारार्थं] विपरीतके परिहार हेतुसे (ज्ञानदर्शनचारित्रसे विरुद्ध भावोंका त्याग करनेके लिये) [खलु] वास्तवमें [सारम् इति वचनम्] "सार" ऐसा वचन [भणितम्] कहा है ।

टीकाः—यहां (इस गाथामें), "नियम" शब्दको "सार" शब्द क्यों लगाया है उसके प्रतिपादन द्वारा स्वभावरत्नत्रयका स्वरूप कहा है ।

जो सहज [1]परम पारिणामिक भावसे स्थित, स्वभाव–अनन्तचतुष्टयात्मक [2]शुद्धज्ञानचेतनापरिणाम सो [3]नियम (–कारणनियम) है । नियम (–कार्यनियम) अर्थात् निश्चयसे (निश्चित) जो करने योग्य—प्रयोजनस्वरूप—हो वह अर्थात्

१–इस परम पारिणामिक भावमें "पारिणामिक" शब्द होने पर भी वह उत्पादव्ययरूप परिणामको सूचित करनेके लिये नहीं है तथा पर्यायार्थिकनयका विषय नहीं है; यह परम पारिणामिक भाव तो उत्पादव्ययनिरपेक्ष एकरूप है और द्रव्यार्थिकनयका विषय है । [विशेषके लिये हिन्दी समयसार गाथा ३२०, पृष्ठ ४२३ पर श्री जयसेनाचार्यदेवकी संस्कृत टीका और बृहद् द्रव्यसंग्रह गाथा १३ की टीका, ३४–३५ पृष्ठ देखो ।]

२–इस शुद्धज्ञानचेतनापरिणाममें "परिणाम" शब्द होने पर भी वह उत्पादव्ययरूप परिणामको सूचित करनेके लिये नहीं है और पर्यायार्थिक नयका विषय नहीं है; यह शुद्धज्ञानचेतनापरिणाम तो उत्पाद-व्ययनिरपेक्ष एकरूप है और द्रव्यार्थिक नयका विषय है ।

३–यह नियम सो कारणनियम है, क्योंकि वह सम्यग्ज्ञानदर्शनचारित्ररूप कार्यनियमका कारण है । [कारणनियमके आश्रयसे कार्यनियम प्रगट होता है ।]

परिज्ञानम् उपादेयं भवति। दर्शनमपि भगवत्परमात्मसुखाभिलाषिणो जीवस्य शुद्धान्तस्तत्त्व-विलासजन्मभूमिस्थाननिजशुद्धजीवास्तिकायसमुपजनितपरमश्रद्धानमेव भवति। चारित्रमपि निश्चयज्ञानदर्शनात्मककारणपरमात्मनि अविचलस्थितिरेव। अस्य तु नियमशब्दस्य निर्व्वाणकारणस्य विपरीतपरिहारार्थत्वेन सारमिति भणितं भवति।

(आर्या)

इति विपरीतविमुक्तं रत्नत्रयमनुत्तमं प्रपद्याहम्।
अपुनर्भवभामिन्यां समुद्भवमनंगशं यामि ॥१०॥

ज्ञानदर्शनचारित्र। उन तीनोंमेंसे प्रत्येकका स्वरूप कहा जाता है:—(१) परद्रव्यका अवलम्बन लिये बिना निःशेषरूपसे अन्तर्मुख योगशक्तिमेंसे उपादेय (–उपयोगको सम्पूर्णरूपसे अन्तर्मुख करके ग्रहण करनेयोग्य) ऐसा जो निज परमतत्त्वका परिज्ञान (–जानना) सो ज्ञान है। (२) भगवान परमात्माके सुखाभिलाषी जीवको शुद्ध अन्तः तत्त्वके [1]विलासका जन्मभूमिस्थान जो निज शुद्ध जीवास्तिकाय उससे उत्पन्न होनेवाला जो परम श्रद्धान वही दर्शन है। (३) निश्चयज्ञानदर्शनात्मक कारणपरमात्मामें अविचल स्थिति (–निश्चलरूपसे लीन रहना) ही चारित्र है। यह ज्ञानदर्शनचारित्रस्वरूप नियम निर्वाणका [2]कारण है। उस "नियम" शब्दको [3]विपरीतके परिहार हेतु "सार" शब्द जोड़ा गया है।

[अब तीसरी गाथा की टीका पूर्ण करते हुए श्लोक कहा जाता है :]

[श्लोकार्थः—] इसप्रकार मैं विपरीत रहित (–विकल्परहित) [4]अनुत्तम रत्नत्रयका आश्रय करके मुक्तिरूपी रमणीसे उत्पन्न अनङ्ग (–अशरीरी, अतीन्द्रिय, आत्मिक) सुखको प्राप्त करता हूं।१०।

१–विलास=क्रीड़ा, आनन्द, मौज।

२–कारण जैसा ही कार्य होता है; इसलिये स्वरूपमें स्थिरता करने का अभ्यास ही वास्तवमें अनन्त काल तक स्वरूपमें स्थिर रह जाने का उपाय है।

३–विपरीत=विरुद्ध। [व्यवहाररत्नत्रयरूप विकल्पोंको—पराश्रित भावोंको—छोड़कर मात्र निर्विकल्प ज्ञानदर्शनचारित्रका ही – शुद्धरत्नत्रयका ही—स्वीकार करने हेतु "नियम" के साथ "सार" शब्द जोड़ा है।]

४–अनुत्तम=जिससे उत्तम कोई दूसरा नहीं है ऐसा; सर्वोत्तम; सर्वश्रेष्ठ।

णियमं मोक्खउवाओ तस्स फलं हवदि परमणिव्वाणं ।
एदेसिं तिण्हं पि य पत्तेयपरूवणा होइ ॥४॥

नियमो मोक्षोपायस्तस्य फलं भवति परमनिर्वाणम् ।
एतेषां त्रयाणामपि च प्रत्येकप्ररूपणा भवति ॥४॥

रत्नत्रयस्य भेदकरणलक्षणकथनमिदम् ।

मोक्षः साक्षादखिलकर्मप्रध्वंसनेनासादितमहानन्दलाभः । पूर्वोक्तनिरुपचाररत्नत्रय-परिणतिस्तस्य महानन्दस्योपायः । अपि चैषां ज्ञानदर्शनचारित्राणां त्रयाणां प्रत्येकप्ररूपणा भवति । कथम्, इदं ज्ञानमिदं दर्शनमिदं चारित्रमित्यनेन विकल्पेन । दर्शनज्ञानचारित्राणां लक्षणं वक्ष्यमाणसूत्रेषु ज्ञातव्यं भवति ।

गाथा ४

अन्वयार्थः—[नियमः] (रत्नत्रयरूप) नियम [मोक्षोपायः] मोक्षका उपाय है; [तस्य फलं] उसका फल [परमनिर्वाणं भवति] परम निर्वाण है । [अपि च] पुनश्च (भेदकथन द्वारा अभेद समझानेके हेतु) [एतेषां त्रयाणां] इन तीनोंका [प्रत्येकप्ररूपणा] भेद करके भिन्न-भिन्न निरूपण [भवति] होता है ।

टीकाः—रत्नत्रयके भेद करनेके सम्बन्धमें और उनके लक्षणोंके सम्बन्धमें यह कथन है ।

समस्त कर्मोंके नाशद्वारा साक्षात् प्राप्त किया जानेवाला महा आनन्दका लाभ सो मोक्ष है । उस महा आनन्द का उपाय पूर्वोक्त निरुपचार रत्नत्रयरूप परिणति है । पुनश्च (निरुपचार रत्नत्रयरूप अभेदपरिणतिमें अन्तर्भूत रहे हुए) इन तीनका—ज्ञान, दर्शन और चारित्रका—भिन्न-भिन्न निरूपण होता है । किसप्रकार ? यह ज्ञान है, यह दर्शन है, यह चारित्र है—इसप्रकार भेद करके । (इस शास्त्रमें) जो गाथासूत्र आगे कहे जायेंगे उनमें दर्शन-ज्ञान-चारित्रके लक्षण ज्ञात होंगे ।

[अब, चौथी गाथाकी टीका पूर्ण करते हुए श्लोक कहा जाता है :]

है नियम मोक्ष-उपाय उसका फल परम निर्वाण है ।
इन तीनका ही भेद पूर्वक भिन्न भिन्न विधान है ॥४॥

(मंदाक्रांता)

मोक्षोपायो भवति यमिनां शुद्धरत्नत्रयात्मा
ह्यात्मा ज्ञानं न पुनरपरं दृष्टिरन्याऽपि नैव ।
शीलं तावन्न भवति परं मोक्षुभिः प्रोक्तमेतद्
बुद्ध्वा जन्तुर्न पुनरुदरं याति मातुः स भव्यः ॥११॥

अत्तागमतच्चाणं सद्दहणादो हवेइ सम्मत्तं ।
ववगयअसेसदोसो सयलगुणप्पा हवे अत्तो ॥५॥

आप्तागमतत्त्वानां श्रद्धानाद्भवति सम्यक्त्वम् ।
व्यपगताशेषदोषः सकलगुणात्मा भवेदाप्तः ॥५॥

व्यवहारसम्यक्त्वस्वरूपाख्यानमेतत् ।

आप्तः शंकारहितः । शंका हि सकलमोहरागद्वेषादयः । आगमः तन्मुखारविन्दविनिर्गतसमस्तवस्तुविस्तारसमर्थनदक्षः चतुरवचनसंदर्भः । तत्त्वानि च बहिस्तत्त्वान्तस्तत्त्वपरमात्म-

---

[श्लोकार्थः—] मुनियोंको मोक्षका उपाय शुद्धरत्नत्रयात्मक (शुद्धरत्नत्रय-परिणतिरूप परिणमित) आत्मा है । ज्ञान इससे कोई अन्य नहीं है, दर्शन भी इससे कोई अन्य नहीं है और शील (चारित्र) भी अन्य नहीं है ।—यह, मोक्षको प्राप्त करनेवालोंने (अरिहन्तभगवन्तोंने) कहा है । इसे जानकर जो जीव पुनः माताके उदरमें नहीं आता, वह भव्य है ।११।

गाथा ५

अन्वयार्थः—[आप्तागमतत्त्वानां] आप्त, आगम और तत्त्वोंकी [श्रद्धानात्] श्रद्धासे [सम्यक्त्वम्] सम्यक्त्व [भवति] होता है; [व्यपगताशेषदोषः] जिसके अशेष (समस्त) दोष दूर हुए हैं ऐसा जो [सकलगुणात्मा] सकलगुणमय पुरुष [आप्तः भवेत्] वह आप्त है ।

टीका:—यह व्यवहारसम्यक्त्वके स्वरूपका कथन है ।

आप्त अर्थात् शंकारहित । शंका अर्थात् सकल मोहरागद्वेषादिक (दोष) ।

रे ! आप्त–आगम–तत्त्वका श्रद्धान वह सम्यक्त्व है ।
निःशेषदोषविहीन जो गुणसकलमय सो आप्त है ॥५॥

तत्त्वभेदभिन्नानि अथवा जीवाजीवास्रवसंवरनिर्जराबन्धमोक्षाणां भेदात्सप्तधा भवन्ति। तेषां सम्यक्श्रद्धानं व्यवहारसम्यक्त्वमिति।

(आर्या)

भवभयभेदिनि भगवति भवतः किं भक्तिरत्र न समस्ति।
तर्हि भवाम्बुधिमध्यग्राहमुखान्तर्गतो भवसि ॥१२॥

छुहतण्हभीरुरोसो रागो मोहो चिंता जरा रुजा मिच्चू।
सेदं खेद मदो रइ विम्हियणिद्दा जणुव्वेगो ॥६॥

क्षुधा तृष्णा भयं रोषो रागो मोहश्चिन्ता जरा रुजा मृत्युः।
स्वेदः खेदो मदो रतिः विस्मयनिद्रे जन्मोद्वेगौ ॥६॥

आगम अर्थात् आप्तके मुखारविन्दसे निकली हुई, समस्त वस्तुविस्तारका स्थापन करनेमें समर्थ ऐसी चतुर वचनरचना। तत्त्व बहिःतत्त्व और अन्तःतत्त्वरूप परमात्मतत्त्व ऐसे (दो) भेदोंवाले हैं अथवा जीव, अजीव, आस्रव, संवर, निर्जरा, बन्ध तथा मोक्ष ऐसे भेदोंके कारण सात प्रकारके हैं। उनका (—आप्तका, आगमका और तत्त्वका) सम्यक् श्रद्धान सो व्यवहारसम्यक्त्व है।

[अब, पाँचवीं गाथाकी टीका पूर्ण करते हुए श्लोक कहा जाता है:]

[श्लोकार्थ:—] भवके भयका भेदनकरनेवाले इन भगवानके प्रति क्या तुझे भक्ति नहीं है ? तो तू भवसमुद्रके मध्यमें रहनेवाले मगरके मुखमें है।१२।

गाथा ६

अन्वयार्थः—[क्षुधा] क्षुधा, [तृष्णा] तृषा, [भयं] भय, [रोषः] रोष (क्रोध), [रागः] राग, [मोहः] मोह, [चिन्ता] चिन्ता, [जरा] जरा, [रुजा] रोग, [मृत्युः] मृत्यु, [स्वेदः] स्वेद (पसीना), [खेदः] खेद, [मदः] मद,

---

है दोष अष्टादश कहे रति मोह, चिन्ता, मद, जरा।
भय, दोष, राग, रु जन्म, निद्रा, रोग, खेद, क्षुधा, तृषा ॥६॥

अष्टादशदोषस्वरूपाख्यानमेतत् ।

असातावेदनीयतीव्रमंदक्लेशकरी क्षुधा । असातावेदनीयतीव्रतीव्रतरमंदमंदतरपीडया समुपजाता तृषा । इहलोकपरलोकात्राणागुप्तिमरणवेदनाकस्मिकभेदात् सप्तधा भवति भयम् । क्रोधनस्य पुंसस्तीव्रपरिणामो रोषः । रागः प्रशस्तोऽप्रशस्तश्च; दानशीलोपवासगुरुजनवैयावृत्त्यादिसमुद्भवः प्रशस्तरागः, स्त्रीराजचौरभक्तविकथालापाकर्णनकौतूहलपरिणामो ह्यप्रशस्तरागः । चातुर्वर्ण्यश्रमणसंघवात्सल्यगतो मोहः प्रशस्त इतरोऽप्रशस्त एव । चिन्तनं धर्मशुक्लरूपं प्रशस्त-

[रतिः] रति, [विस्मयनिद्रे] विस्मय, निद्रा, [जन्मोद्वेगौ] जन्म और उद्वेग [–अरति] —(यह अठारह दोष हैं) ।

टीकाः—यह अठारह दोषोंके स्वरूपका कथन है ।

(१) असातावेदनीय सम्बन्धी तीव्र अथवा मंद क्लेशकी करनेवाली वह क्षुधा है (अर्थात् विशिष्ट–खास प्रकारके–असातावेदनीय कर्मके निमित्तसे होनेवाली जो विशिष्ट शरीर–अवस्था उस पर झुकाव करनेसे मोहनीय कर्मके निमित्तसे होनेवाला जो खानेकी इच्छारूप दुःख वह क्षुधा है) । (२) असातावेदनीय सम्बन्धी तीव्र, तीव्रतर (–अधिक तीव्र), मन्द अथवा मंदतर पीड़ासे उत्पन्न होनेवाली वह तृषा है (अर्थात् विशिष्ट असातावेदनीय कर्मके निमित्तसे होनेवाली जो विशिष्ट शरीर–अवस्था उस पर झुकाव करनेसे मोहनीय कर्मके निमित्तसे होनेवाला जो पीनेकी इच्छारूप दुःख वह तृषा है) । (३) इस लोकका भय, परलोकका भय, अरक्षाभय, अगुप्तिभय, मरणभय, वेदनाभय तथा अकस्मातभय इसप्रकार भय सात प्रकारके हैं । (४) क्रोधी पुरुषका तीव्र परिणाम वह रोष है । (५) राग प्रशस्त और अप्रशस्त होता है; दान, शील, उपवास तथा गुरुजनोंकी वैयावृत्त्य आदिमें उत्पन्न होनेवाला वह प्रशस्त राग है और स्त्री सम्बन्धी, राजा सम्बन्धी, चोर सम्बन्धी तथा भोजन सम्बन्धी विकथा कहने तथा सुननेके कौतूहलपरिणाम वह अप्रशस्त राग है । (६) *चार प्रकारके श्रमणसंघके प्रति वात्सल्य सम्बन्धी मोह वह प्रशस्त है और उससे अतिरिक्त मोह अप्रशस्त ही है ।

---

* श्रमणके चार प्रकार इसप्रकार हैं:—(१) ऋषि, (२) मुनि, (३) यति और (४) अनगार । ऋद्धिवाले श्रमण वे ऋषि हैं; अवधिज्ञान, मनःपर्ययज्ञान अथवा केवलज्ञानवाले श्रमण वे मुनि हैं; उपशमक अथवा क्षपक श्रेणीमें आरूढ़ श्रमण वे यति हैं; और सामान्य साधु वे अनगार हैं ।—ऐसे चार प्रकारका श्रमणसंघ है ।

मितरदप्रशस्तमेव। तिर्यङ्मानवानां वयःकृतदेहविकार एव जरा। वातपित्तश्लेष्मणां वैषम्यसंजातकलेवरविपीडैव रुजा। सादिसनिधनमूर्तेन्द्रियविजातीयनरनारकादिविभावव्यञ्जनपर्यायविनाश एव मृत्युरित्युक्तः। अशुभकर्मविपाकजनितशरीरायाससमुपजातपूतिगंधसम्बन्धवासनावासितवार्बिन्दुसंदोहः स्वेदः। अनिष्टलाभः खेदः। सहजचतुरकवित्वनिखिलजनताकर्णामृतस्यंदिसहजशरीरकुलबलैश्वर्यैरात्माहंकारजननो मदः। मनोज्ञेषु वस्तुषु परमा प्रीतिरेव रतिः। परमसमरसीभावभावनापरित्यक्तानां क्वचिदपूर्वदर्शनाद्विस्मयः। केवलेन शुभकर्मणा, केवलेनाशुभकर्मणा, मायया, शुभाशुभमिश्रेण देवनारकतिर्यङ्मनुष्यपर्यायेषूत्पत्तिर्जन्म। दर्शनावरणीयकर्मोदयेन प्रत्यस्तमितज्ञानज्योतिरेव निद्रा। इष्टवियोगेषु विक्लवभाव एवोद्वेगः। एभिर्महादोषैर्व्याप्तास्त्रयो लोकाः। एतैर्विनिर्मुक्तो वीतरागसर्वज्ञ इति।

(७) धर्मरूप तथा शुक्लरूप चिन्तन (–चिन्ता, विचार) प्रशस्त है और उसके अतिरिक्त (आर्त्तरूप तथा रौद्ररूप चिन्तन) अप्रशस्त ही है। (८) तिर्यञ्चों तथा मनुष्योंको वयकृत देहविकार (–आयुके कारण होनेवाली शरीरकी जीर्णदशा) वही जरा है। (९) वात, पित्त और कफकी विषमतासे उत्पन्न होनेवाली कलेवर (–शरीर) सम्बन्धी पीड़ा वही रोग है। (१०) सादि–सनिधन, मूर्त इन्द्रियोंवाले, विजातीय नरनारकादि विभावव्यंजनपर्यायका जो विनाश उसीको मृत्यु कहा गया है। (११) अशुभ कर्मके विपाकसे जनित, शारीरिक श्रमसे उत्पन्न होनेवाला, जो दुर्गन्धके सम्बन्धके कारण बुरी गन्धवाले जलबिन्दुओंका समूह वह स्वेद है। (१२) अनिष्टकी प्राप्ति (अर्थात् कोई वस्तु अनिष्ट लगना) वह खेद है। (१३) सर्व जनताके (–जनसमाजके) कानोंमें अमृत उँडेलनेवाले सहज चतुर कवित्वके कारण, सहज (सुन्दर) शरीरके कारण, सहज (उत्तम) कुलके कारण, सहज बलके कारण तथा सहज ऐश्वर्यके कारण आत्मामें जो अहङ्कारकी उत्पत्ति वह मद है। (१४) मनोज्ञ (मनोहर–सुन्दर) वस्तुओंमें परम प्रीति सो रति है। (१५) परम समरसीभावकी भावना रहित जीवोंको (परम समताभावके अनुभव रहित जीवोंको) कभी पूर्वकालमें न देखा हुआ देखनेके कारण होनेवाला भाव वह विस्मय है। (१६) केवल शुभ कर्मसे देवपर्यायमें जो उत्पत्ति, केवल अशुभ कर्मसे नारकपर्यायमें जो उत्पत्ति, मायासे तिर्यंचपर्यायमें जो उत्पत्ति और शुभाशुभ मिश्र कर्मसे मनुष्यपर्यायमें जो उत्पत्ति, सो जन्म है। (१७) दर्शनावरणीय कर्मके उदयसे जिसमें ज्ञानज्योति अस्त हो जाती है वही निद्रा है। (१८) इष्टके वियोगमें विक्लवभाव (घबराहट) ही उद्वेग है।—इन (अठारह) महा दोषोंसे तीनलोक व्याप्त हैं। वीतराग सर्वज्ञ इन दोषोंसे विमुक्त हैं।

तथा चोक्तम्—

"सो धम्मो जत्थ दया सो वि तवो विसयणिग्गहो जत्थ ।
दसअठ्ठदोसरहिओ सो देवो णत्थि सन्देहो ॥"

[वीतराग सर्वज्ञको द्रव्य–भाव घातिकर्मोंका अभाव होनेसे उन्हें भय, रोष, राग, मोह, शुभाशुभ चिन्ता, खेद, मद, रति, विस्मय, निद्रा तथा उद्वेग कहांसे होंगे ?

और उनको समुद्र जितने सातावेदनीयकर्मोदयके मध्य विन्दु जितना असातावेदनीयकर्मोदय वर्तता है वह, मोहनीयकर्मके बिलकुल अभावमें, लेशमात्र भी क्षुधा या तृषाका निमित्त कहांसे होगा ? नहीं होगा; क्योंकि चाहे जितना असातावेदनीय कर्म हो तथापि मोहनीयकर्मके अभावमें दुःखकी वृत्ति नहीं हो सकती; तो फिर यहां तो जहां अनन्तगुने सातावेदनीयकर्मके मध्य अल्पमात्र (–अविद्यमान जैसा) असातावेदनीयकर्म वर्तता है वहां क्षुधा–तृषाकी वृत्ति कहांसे होगी ? क्षुधा–तृषाके सद्भावमें अनन्त सुख, अनन्त वीर्य आदि कहांसे सम्भव होंगे ? इसप्रकार वीतराग सर्वज्ञको क्षुधा (तथा तृषा) न होनेसे उन्हें कवलाहार भी नहीं होता। कवलाहारके बिना भी उनके (अन्य मनुष्योंको असम्भवित ऐसे), सुगन्धित, सुरसयुक्त, सप्तधातुरहित परमौदारिक शरीररूप नोकर्माहारके योग्य, सूक्ष्म पुद्गल प्रतिक्षण आते हैं और इसलिये शरीरस्थिति रहती है।

और पवित्रताका तथा पुण्यका ऐसा सम्बन्ध होता है अर्थात् घातिकर्मोंका अभावको और शेष रहे अघाति कर्मोंका ऐसा सहज सम्बन्ध होता है कि वीतराग सर्वज्ञको उन शेष रहे अघातिकर्मोंके फलरूप परमौदारिक शरीरमें जरा, रोग तथा स्वेद नहीं होते।

और केवली भगवानको भवान्तरमें उत्पत्तिके निमित्तभूत शुभाशुभ भाव न होनेसे उन्हें जन्म नहीं होता; और जिस देहवियोगके पश्चात् भवान्तरप्राप्तिरूप जन्म नहीं होता उस देहवियोगको मरण नहीं कहा जाता।

[इसप्रकार वीतराग सर्वज्ञ अठारह दोष रहित हैं।]

इसीप्रकार (अन्य शास्त्रमें गाथा द्वारा) कहा है कि:—

"[गाथार्थः—] वह धर्म है जहाँ दया है, वह तप है जहाँ विषयोंका निग्रह है, वह देव है जो अठारह दोष रहित है; इस सम्बन्धमें संशय नहीं है।"

तथा चोक्तं श्रीविद्यानन्दस्वामिभिः—

(मालिनी)

"अभिमतफलसिद्धेरभ्युपायः सुबोधः
स च भवति सुशास्त्रात्तस्य चोत्पत्तिराप्तात् ।
इति भवति स पूज्यस्तत्प्रसादात्प्रबुद्धैः
न हि कृतमुपकारं साधवो विस्मरंति ॥"

तथा हि—

(मालिनी)

शतमखशतपूज्यः प्राज्यसद्बोधराज्यः
स्मरतिरसुरनाथः प्रास्तदुष्टाघयूथः ।
पदनतवनमाली भव्यपद्मांशुमाली
दिशतु शमनिशं नो नेमिरानन्दभूमिः ॥१३॥

और श्री विद्यानन्दिस्वामीने (श्लोक द्वारा) कहा है किः—

"[श्लोकार्थः—] इष्ट फलकी सिद्धिका उपाय सुबोध है (अर्थात् मुक्तिकी प्राप्तिका उपाय सम्यग्ज्ञान है), सुबोध सुशास्त्रसे होता है, सुशास्त्रकी उत्पत्ति आप्तसे होती है; इसलिये उनके प्रसादके कारण आप्त पुरुष बुधजनों द्वारा पूजनेयोग्य हैं (अर्थात् मुक्ति सर्वज्ञदेवकी कृपाका फल होनेसे सर्वज्ञदेव ज्ञानियों द्वारा पूजनीय हैं), क्योंकि किये हुए उपकारको साधु पुरुष (सज्जन) भूलते नहीं हैं।"

और (छठवीं गाथाकी टीका पूर्ण करते हुए टीकाकार मुनिराज श्री पद्मप्रभमलधारिदेव श्लोक द्वारा सर्वज्ञ भगवान श्री नेमिनाथकी स्तुति करते हैं):—

[श्लोकार्थः—] जो सौ इन्द्रोंसे पूज्य हैं, जिनका सद्बोधरूपी (सम्यग्ज्ञानरूपी) राज्य विशाल है, कामविजयी (लौकांतिक) देवोंके जो नाथ हैं, दुष्ट पापोंके समूहका जिन्होंने नाश किया है, श्री कृष्ण जिनके चरणोंमें नमे हैं, भव्यकमलके जो सूर्य हैं (अर्थात् भव्योंरूपी कमलोंको विकसित करने में जो सूर्य समान हैं), वे आनन्दभूमि नेमिनाथ (—आनन्दके स्थानरूप नेमिनाथ भगवान) हमें शाश्वत सुख प्रदान करें।१३।

णिस्सेसदोसरहिओ केवलणाणाइपरमविभवजुदो ।

सो परमप्पा उच्चइ तव्विवरीओ ण परमप्पा ॥७॥

निःशेषदोषरहितः केवलज्ञानादिपरमविभवयुतः ।

स परमात्मोच्यते तद्विपरीतो न परमात्मा ॥ ७ ॥

तीर्थंकरपरमदेवस्वरूपाख्यानमेतत् ।

आत्मगुणघातकानि घातिकर्माणि ज्ञानदर्शनावरणान्तरायमोहनीयकर्माणि, तेषां निरवशेषेण प्रध्वंसान्निश्शेषदोषरहितः अथवा पूर्वसूत्रोपात्ताष्टादशमहादोषनिर्मूलनान्निःशेषदोषनिर्मुक्त इत्युक्तः । सकलविमलकेवलबोधकेवलदृष्टिपरमवीतरागात्मकानन्दाद्यनेकविभवसमृद्धः । यस्त्वेवंविधः त्रिकालनिरावरणनित्यानंदैकस्वरूपनिजकारणपरमात्मभावनोत्पन्नकार्यपरमात्मा स

गाथा ७

अन्वयार्थः—[निःशेषदोषरहितः] (ऐसे) निःशेष दोषसे जो रहित है और [केवलज्ञानादिपरमविभवयुतः] केवलज्ञानादि परम वैभवसे जो संयुक्त है, [सः] वह [परमात्मा उच्यते] परमात्मा कहलाता है; [तद्विपरीतः] उससे विपरीत [परमात्मा न] वह परमात्मा नहीं है ।

टीकाः—यह तीर्थंकर परमदेवके स्वरूपका कथन है ।

आत्माके गुणोंका घात करनेवाले घातिकर्म—ज्ञानावरणीयकर्म, दर्शनावरणीयकर्म, अन्तरायकर्म तथा मोहनीयकर्म—हैं; उनका निरवशेषरूपसे प्रध्वंस कर देनेके कारण (कुछ भी शेष रखे बिना नाश कर देनेसे) जो "निःशेषदोषरहित" हैं अथवा पूर्व सूत्रमें (छठवीं गाथामें) कहे हुए अठारह महादोषोंको निर्मूल कर दिया है इसलिये जिन्हें "निःशेषदोषरहित" कहा गया है और जो "सकलविमल (–सर्वथा निर्मल) केवलज्ञान–केवलदर्शन, परमवीतरागात्मक आनन्द इत्यादि अनेक वैभवसे समृद्ध" हैं,

---

सब दोष रहित अनन्तज्ञान–दृगादि परम विभवमयी ।

परमात्म है वह, किन्तु तद्विपरीत परमात्मा नहीं ॥ ७ ॥

एव भगवान् अर्हन् परमेश्वरः । अस्य भगवतः परमेश्वरस्य विपरीतगुणात्मकाः सर्वे देवाभिमानदग्धा अपि संसारिण इत्यर्थः ।

तथा चोक्तं श्रीकुन्दकुन्दाचार्यदेवैः—

"तेजो दिट्ठी णाणं इड्ढी सोक्खं तहेव ईसरियं ।
तिहुवणपहाणदइयं माहप्पं जस्स सो अरिहो ॥"

तथा चोक्तं श्रीमदमृतचन्द्रसूरिभिः—

ऐसे जो परमात्मा—अर्थात् त्रिकालनिरावरण, [1]नित्यानन्द–एकस्वरूप निज कारणपरमात्माकी भावनासे उत्पन्न कार्यपरमात्मा, वही भगवान अर्हंत् परमेश्वर हैं । इन भगवान परमेश्वरके गुणोंसे विपरीत गुणोंवाले समस्त (देवाभास), भले देवत्वके अभिमानसे दग्ध हों तथापि, संसारी हैं ।—ऐसा (इस गाथाका) अर्थ है ।

इसीप्रकार (भगवान) श्री कुन्दकुन्दाचार्यदेवने ([2]प्रवचनसारकी गाथामें) कहा है कि:—

"[गाथार्थः—] तेज (भामण्डल), दर्शन (केवलदर्शन), ज्ञान (केवलज्ञान), ऋद्धि (समवसरणादि विभूति), सौख्य (अनन्त अतीन्द्रिय सुख), (इन्द्रादिक भी दासरूपसे वर्ते ऐसा) ऐश्वर्य, और (तीन लोकके अधिपतियोंके वल्लभ होनेरूप) त्रिभुवनप्रधानवल्लभपना—ऐसा जिनका माहात्म्य है, वे अर्हंत हैं ।"

और इसीप्रकार (आचार्यदेव) श्रीमद् अमृतचन्द्रसूरिने (आत्मख्यातिके २४ वें श्लोकमें—कलशमें) कहा है कि:—

१– नित्यानन्द–एकस्वरूप=नित्य आनन्द ही जिसका एक स्वरूप है ऐसा । [कारणपरमात्मा त्रिकाल आवरण रहित है और नित्य आनंद ही उसका एक स्वरूप है । प्रत्येक आत्मा शक्ति–अपेक्षासे निरावरण एवं आनन्दमय ही है इसलिये प्रत्येक आत्मा कारणपरमात्मा है; जो कारणपरमात्माको भाता है—उसीका आश्रय करता है, वह व्यक्ति—अपेक्षासे निरावरण और आनन्दमय होता है अर्थात् कार्यपरमात्मा होता है । शक्तिमेंसे व्यक्ति होती है, इसलिये शक्ति कारण है और व्यक्ति कार्य है । ऐसा होनेसे शक्तिरूप परमात्माको कारणपरमात्मा कहा जाता है और व्यक्त परमात्माको कार्यपरमात्मा कहा जाता है ।

२– देखो, श्री परमश्रुतप्रभावकमंडल द्वारा प्रकाशित 'प्रवचनसार' पृष्ठ ८८ ।

(शार्दूलविक्रीडित)

"कांत्यैव स्नपयंति ये दशदिशो धाम्ना निरुन्धंति ये
धामोद्दाममहस्विनां जनमनो मुष्णन्ति रूपेण ये ।
दिव्येन ध्वनिना सुखं श्रवणयोः साक्षात्क्षरंतोऽमृतं
वंद्यास्तेऽष्टसहस्रलक्षणधरास्तीर्थेश्वराः सूरयः ॥"

तथाहि—

(मालिनी)

जगदिदमजगच्च ज्ञाननीरेरुहान्त-
र्भ्रमरवदवभाति प्रस्फुटं यस्य नित्यम् ।
तमपि किल यजेहं नेमितीर्थंकरेशं
जलनिधिमपि दोर्भ्यामुत्तराम्यूर्ध्ववीचिम् ॥१४॥

तस्स मुहुग्गदवयणं पुव्वावरदोसविरहियं सुद्धं ।
आगममिदि परिकहियं तेण दु कहिया हवंति तच्चत्था ॥८॥

"[श्लोकार्थः—] जो कान्तिसे दशों दिशाओंको धोते हैं—निर्मल करते हैं, जो तेज द्वारा अत्यन्त तेजस्वी सूर्यादिकके तेजको ढँक देते हैं, जो रूपसे जनोंके मन हर लेते हैं, जो दिव्यध्वनि द्वारा (भव्योंके) कानोंमें मानों कि साक्षात् अमृत बरसाते हों ऐसा सुख उत्पन्न करते हैं और जो एक हजार तथा आठ लक्षणोंको धारण करते हैं वे तीर्थङ्करसूरि वंद्य हैं ।"

और (सातवीं गाथाकी टीका पूर्ण करते हुए टीकाकार मुनिराज श्री पद्मप्रभमलधारिदेव श्लोक द्वारा श्री नेमिनाथ तीर्थंकरकी स्तुति करते हैं) :—

[श्लोकार्थः—] जिसप्रकार कमलके भीतर भ्रमर समा जाता है उसीप्रकार जिनके ज्ञानकमलमें यह जगत तथा अजगत (—लोक तथा अलोक) सदा स्पष्टरूपसे समा जाते हैं—ज्ञात होते हैं, उन नेमिनाथ तीर्थङ्करभगवानको मैं सचमुच पूजता हूँ कि जिससे ऊँची तरंगोंवाले समुद्रको भी (—दुस्तर संसारको भी) दो भुजाओंसे पार कर लूं ।१४।

परमात्म–वाणी शुद्ध पूर्वापर रहित निर्दोष है ।
आगम वही, देती वही तत्त्वार्थका उपदेश है ॥८॥

तस्य मुखोद्गतवचनं पूर्व्वापरदोषविरहितं शुद्धम् ।
आगममिति परिकथितं तेन तु कथिता भवन्ति तत्त्वार्थाः ॥८॥

परमागमस्वरूपाख्यानमेतत् ।

तस्य खलु परमेश्वरस्य वदनवनजविनिर्गतचतुरवचनरचनाप्रपंचः पूर्वापरदोषविरहितः, तस्य भगवतो रागाभावात् पापसूत्रवद्धिंसादिपापक्रियाभावाच्छुद्धः परमागम इति परिकथितः । तेन परमागमामृतेन भव्यैः श्रवणांजलिपुटपेयेन मुक्तिसुन्दरीमुखदर्पणेन संसरणवारिनिधिमहावर्तनिमग्नसमस्तभव्यजनतादत्तहस्तावलम्बनेन सहजवैराग्यप्रासादशिखरशिखामणिना अक्षुण्ण-

---

गाथा ८

अन्वयार्थः—[तस्य मुखोद्गतवचनं] उनके मुखसे निकली हुई वाणी जो कि [पूर्वापरदोषविरहितं शुद्धम्] पूर्वापर दोष रहित (–आगे पीछे विरोध रहित) और शुद्ध है, उसे [आगमम् इति परिकथितं] आगम कहा है; [तेन तु] और उसे [तत्त्वार्थाः] तत्त्वार्थ [कथिताः भवन्ति] कहे हैं ।

टीकाः—यह, परमागमके स्वरूपका कथन है ।

उन (पूर्वोक्त) परमेश्वरके मुखकमलसे निकली हुई चतुर वचनरचनाका विस्तार—जो कि "पूर्वापर दोष रहित" है और उन भगवानको रागका अभाव होनेसे पापसूत्रकी भाँति हिंसादि पापक्रियाशून्य होनेसे "शुद्ध" है वह—परमागम कहा गया है । उस परमागमने—कि जो (परमागम) भव्योंको कर्णरूपी अञ्जलिपुटसे पीनेयोग्य अमृत है, जो मुक्तिसुन्दरीके मुखका दर्पण है (अर्थात् जो परमागम मुक्तिका स्वरूप दरशाता है), जो संसारसमुद्रके महा भँवरमें निमग्न समस्त भव्यजनोंको हस्तावलम्बन (हाथका सहारा) देता है, जो सहज वैराग्यरूपी महलके शिखरका *शिखामणि है, जो कभी न देखे हुए (–अनजाने, अननुभूत, जिस पर स्वयं पहले कभी नहीं गया है ऐसे) मोक्ष–महलकी प्रथम सीढ़ी है और जो कामभोगसे उत्पन्न होनेवाले अप्रशस्त

---

* शिखामणि=शिखरके ऊपरका रत्न; चूड़ामणि; कलंगीका रत्न ।

[परमागम सहज वैराग्यरूपी महलके शिखामणि समान है, क्योंकि परमागमका तात्पर्य सहज वैराग्यकी उत्कृष्टता है ।]

मोक्षप्रासादप्रथमसोपानेन स्मरभोगसमुद्भूताप्रशस्तरागांगारैःपच्यमानसमस्तदीनजनतामहत्क्लेशनिर्नाशनसमर्थसजलजलदेन कथिताः खलु सप्त तत्त्वानि नव पदार्थाश्चेति ।

तथा चोक्तं श्रीसमन्तभद्रस्वामिभिः—

(आर्या)

"अन्यूनमनतिरिक्तं याथातथ्यं विना च विपरीतात् ।
निःसन्देहं वेद यदाहुस्तज्ज्ञानमागमिनः ॥"

(हरिणी)

ललितललितं शुद्धं निर्वाणकारणकारणं
निखिलभविनामेतत्कर्णामृतं जिनसद्वचः ।
भवपरिभवारण्यज्वालित्विषां प्रशमे जलं
प्रतिदिनमहं वन्दे वन्द्यं सदा जिनयोगिभिः ॥१५॥

रागरूप अंगारों द्वारा सिकते हुए समस्त दीन जनोंके महाक्लेशका नाश करनेमें समर्थ सजल मेघ (—पानीसे भरा हुआ बादल) है, उसने—वास्तवमें सात तत्त्व तथा नव पदार्थ कहे हैं ।

इसीप्रकार (आचार्यदेव) श्री समन्तभद्रस्वामीने (रत्नकरण्डश्रावकाचारमें ४२ वें श्लोक द्वारा) कहा है कि :—

[श्लोकार्थः—] जो न्यूनता बिना, अधिकता बिना, विपरीतता बिना यथातथ वस्तुस्वरूपको निःसन्देहरूपसे जानता है उसे [1]आगमियों ज्ञान (—सम्यग्ज्ञान) कहते हैं ।

[अब, आठवीं गाथाकी टीका पूर्ण करते हुए टीकाकार मुनिराज श्लोक द्वारा जिनवाणीको—जिनागमको वन्दन करते हैं :]

[श्लोकार्थः—] जो (जिनवचन) [2]ललितमें ललित हैं, जो शुद्ध हैं, जो निर्वाणके कारणका कारण हैं, जो सर्व भव्योंके कर्णोंको अमृत हैं, जो भवभवरूपी अरण्यके उग्र दावानलको शांत करनेमें जल हैं और जो जैन योगियों द्वारा सदा वंद्य हैं, ऐसे इन जिनभगवानके सद्वचनोंको (सम्यक् जिनागमको) मैं प्रतिदिन वन्दन करता हूँ ।१५।

१– आगमियों=आगमवन्तों; आगमके ज्ञाताओं ।

२– ललितमें ललित=अत्यन्त प्रसन्नता उत्पन्न करें ऐसे; अतिशय मनोहर ।

जीवा पोग्गलकाया धम्माधम्मा य काल आयासं ।
तच्चत्था इदि भणिदा णाणागुणपज्जएहिं संजुत्ता ॥९॥

जीवाः पुद्गलकाया धर्माधर्मौ च काल आकाशम् ।
तत्त्वार्था इति भणिताः नानागुणपर्यायैः संयुक्ताः ॥९॥

अत्र षण्णां द्रव्याणां पृथक्पृथक् नामधेयमुक्तम् ।

स्पर्शनरसनघ्राणचक्षुःश्रोत्रमनोवाक्कायायुरुच्छ्वासनिःश्वासाभिधानैर्दशभिः प्राणैः जीवति जीविष्यति जीवितपूर्वो वा जीवः । संग्रहनयोऽयमुक्तः । निश्चयेन भावप्राणधारणाज्जीवः । व्यवहारेण द्रव्यप्राणधारणाज्जीवः । शुद्धसद्भूतव्यवहारेण केवलज्ञानादिशुद्धगुणानामाधारभूतत्वा-त्कार्यशुद्धजीवः । अशुद्धसद्भूतव्यवहारेण मतिज्ञानादिविभावगुणानामाधारभूतत्वादशुद्धजीवः ।

गाथा ९

अन्वयार्थः—[जीवाः] जीव, [पुद्गलकायाः] पुद्गलकाय, [धर्माधर्मौ] धर्म, अधर्म, [कालः] काल, [च] और [आकाशम्] आकाश—[तत्त्वार्थाः इति भणिताः] यह तत्त्वार्थ कहे हैं, जो कि [नानागुणपर्यायैः संयुक्ताः] विविध गुण–पर्यायोंसे संयुक्त हैं ।

टीकाः—यहां (इस गाथामें) छह द्रव्योंके पृथक्–पृथक् नाम कहे गये हैं ।

स्पर्शन, रसन, घ्राण, चक्षु, श्रोत्र, मन, वचन, काय, आयु और श्वासोच्छ्वास नामक दस प्राणोंसे (संसारदशामें) जो जीता है, जियेगा और पूर्वकालमें जीता था वह "जीव" है ।—यह संग्रहनय कहा । निश्चयसे भावप्राण धारण करनेके कारण "जीव" है । व्यवहारसे द्रव्यप्राण धारण करनेके कारण "जीव" है । शुद्ध-सद्भूत-व्यव-हारसे केवलज्ञानादि शुद्धगुणोंका आधार होनेके कारण "*कार्यशुद्ध जीव" है । अशुद्ध–सद्भूत–व्यवहारसे मतिज्ञानादि विभावगुणोंका आधार होनेके कारण "अशुद्ध जीव" है । शुद्धनिश्चयसे सहजज्ञानादि परमस्वभावगुणोंका आधार होनेके कारण "*कारणशुद्ध जीव" है । यह (जीव) चेतन है; इसके चेतन गुण हैं । यह अमूर्त है;

* प्रत्येक जीव शक्ति-अपेक्षासे शुद्ध है अर्थात् सहजज्ञानादिक सहित है इसलिये प्रत्येक जीव "कारणशुद्ध जीव" है; जो कारणशुद्ध जीवको भाता है—उसीका आश्रय करता है, वह व्यक्ति–अपेक्षासे शुद्ध

षट् द्रव्य पुद्गल, जीव, धर्म, अधर्म, कालाकाश हैं ।
ये विविध गुण–पर्ययसे संयुक्त षट् तत्त्वार्थ हैं ॥९॥

शुद्धनिश्चयेन सहजज्ञानादिपरमस्वभावगुणानामाधारभूतत्वात्कारणशुद्धजीवः । अयं चेतनः । अस्य चेतनगुणाः । अयममूर्तः । अस्यामूर्तगुणाः । अयं शुद्धः । अस्य शुद्धगुणाः । अयमशुद्धः । अस्याशुद्धगुणाः । पर्यायश्च । तथा गलनपूरणस्वभावसनाथः पुद्गलः । श्वेतादिवर्णाधारो मूर्तः । अस्य हि

इसके अमूर्त गुण हैं । यह शुद्ध है; इसके शुद्ध गुण हैं । यह अशुद्ध है; इसके अशुद्ध गुण हैं । पर्याय भी इसीप्रकार है ।

और जो गलन–पूरणस्वभाव सहित है (अर्थात् पृथक् होने और एकत्रित होनेके स्वभाववाला है) वह पुद्गल है । यह (पुद्गल) श्वेतादि वर्णोंके आधारभूत मूर्त है; इसके मूर्त गुण हैं । यह अचेतन है; इसके अचेतन गुण हैं ।

[1]स्वभावगतिक्रियारूप और विभावगतिक्रियारूप परिणत जीव–पुद्गलोंको स्वभावगतिका और विभावगतिका निमित्त सो धर्म है ।

[2]स्वभावस्थितिक्रियारूप और विभावस्थितिक्रियारूप परिणत जीव–पुद्गलोंको स्थितिका (–स्वभावस्थितिका तथा विभावस्थितिका) निमित्त सो अधर्म है ।

(–केवलज्ञानादि सहित) होता है अर्थात् "कार्यशुद्ध जीव" होता है । शक्तिमेंसे व्यक्ति होती है, इसलिये शक्ति कारण है और व्यक्ति कार्य है । ऐसा होनेसे शक्तिरूप शुद्धतावाले जीवको कारणशुद्ध जीव कहा जाता है और व्यक्त शुद्धतावाले जीवको कार्यशुद्ध जीव कहा जाता है । [कारणशुद्ध अर्थात् कारण-अपेक्षासे शुद्ध अर्थात् शक्ति-अपेक्षासे शुद्ध । कार्यशुद्ध अर्थात् कार्य-अपेक्षासे शुद्ध अर्थात् व्यक्ति-अपेक्षासे शुद्ध ।]

१– चौदहवें गुणस्थानके अन्तमें जीव ऊर्ध्वगमनस्वभावसे लोकान्तमें जाता है वह जीवकी स्वभावगतिक्रिया है और संसारावस्थामें कर्मके निमित्तसे गमन करता है वह जीवकी विभावगतिक्रिया है । एक पृथक् परमाणु गति करता है वह पुद्गलकी स्वभावगतिक्रिया है और पुद्गलस्कन्ध गमन करता है वह पुद्गलकी (स्कन्धके प्रत्येक परमाणुकी) विभावगतिक्रिया है । इस स्वाभाविक तथा वैभाविक गतिक्रियामें धर्मद्रव्य निमित्तमात्र है ।

२– सिद्धदशामें जीव स्थिर रहता है वह जीवकी स्वाभाविक स्थितिक्रिया है और संसारदशामें स्थिर रहता है वह जीवकी वैभाविक स्थितिक्रिया है । अकेला परमाणु स्थिर रहता है वह पुद्गलकी स्वाभाविक स्थितिक्रिया है और स्कन्ध स्थिर रहता है वह पुद्गलकी (स्कन्धके प्रत्येक परमाणुकी) वैभाविक स्थितिक्रियाहै । इस जीव-पुद्गलकी स्वाभाविक तथा वैभाविक स्थितिक्रियामें अधर्मद्रव्य निमित्तमात्र है ।

मूर्तगुणाः । अयमचेतनः । अस्याचेतनगुणाः । स्वभावविभावगतिक्रियापरिणतानां जीवपुद्गलानां स्वभावविभावगतिहेतुः धर्मः । स्वभावविभावस्थितिक्रियापरिणतानां तेषां स्थितिहेतुरधर्मः । पंचानामवकाशदानलक्षणमाकाशम् । पंचानां वर्तनाहेतुः कालः । चतुर्णाममूर्तानां शुद्धगुणाः, पर्यायाश्चैतेषां तथाविधाश्च ।

(मालिनी)

इति जिनपतिमार्गाम्भोधिमध्यस्थरत्नं
द्युतिपटलजटालं तद्धि षड्द्रव्यजातम् ।
हृदि सुनिशितबुद्धिर्भूषणार्थं विधत्ते
स भवति परमश्रीकामिनीकामरूपः ॥१६॥

जीवो उवओगमओ उवओगो णाणदंसणो होइ ।
णाणुवओगो दुविहो सहावणाणं विहावणाणं ति ॥१०॥

(शेष) पाँच द्रव्योंको अवकाशदान (अवकाश देना) जिसका लक्षण है वह आकाश है ।

(शेष) पाँच द्रव्योंको वर्तनाका निमित्त वह काल है ।

(जीवके अतिरिक्त) चार अमूर्त द्रव्योंके शुद्ध गुण हैं; उनकी पर्यायें भी वैसी (शुद्ध ही) हैं ।

[अब, नवमी गाथाकी टीका पूर्ण करते हुए टीकाकार मुनिराज श्लोक द्वारा छह द्रव्यकी श्रद्धा के फलका वर्णन करते हैं :]

[श्लोकार्थः—] इसप्रकार उस षट्द्रव्यसमूहरूपी रत्नको—जो कि (रत्न) तेजके अम्बारके कारण किरणोंवाला है और जो जिनपतिके मार्गरूपी समुद्रके मध्यमें स्थित है उसे—जो तीक्ष्ण बुद्धिवाला पुरुष हृदयमें भूषणार्थ (शोभाके लिये) धारण करता है, वह पुरुष परमश्रीरूपी कामिनीका वल्लभ होता है (अर्थात् जो पुरुष अन्तरंगमें छह द्रव्यकी यथार्थ श्रद्धा करता है वह मुक्तिलक्ष्मीका वरण करता है) ।१६।

उपयोगमय है जीव, वह उपयोग दर्शन-ज्ञान है ।
ज्ञानोपयोग स्वभाव और विभाव द्विविध विधान है ॥१०॥

जीव उपयोगमयः उपयोगो ज्ञानदर्शनं भवति ।
ज्ञानोपयोगो द्विविधः स्वभावज्ञानं विभावज्ञानमिति ॥१०॥

अत्रोपयोगलक्षणमुक्तम् ।

आत्मनश्चैतन्यानुवर्ती परिणामः स उपयोगः । अयं धर्मः । जीवो धर्मी । अनयोः सम्बन्धः प्रदीपप्रकाशवत् । ज्ञानदर्शनविकल्पेनासौ द्विविधः । अत्र ज्ञानोपयोगोऽपि स्वभाव-विभावभेदाद् द्विविधो भवति । इह हि स्वभावज्ञानम् अमूर्तम् अव्याबाधम् अतीन्द्रियम् अविनश्वरम् । तच्च कार्यकारणरूपेण द्विविधं भवति । कार्यं तावत् सकलविमलकेवलज्ञानम् । तस्य कारणं परमपारिणामिकभावस्थितत्रिकालनिरुपाधिरूपं सहजज्ञानं स्यात् । केवलं विभावरूपाणि ज्ञानानि त्रीणि कुमतिकुश्रुतविभङ्गभाञ्जि भवंति । एतेषाम् उपयोगभेदानां ज्ञानानां भेदो वक्ष्यमाणसूत्रयोर्द्वयोर्बोद्धव्य इति ।

गाथा १०

अन्वयार्थः—[जीवः] जीव [उपयोगमयः] उपयोगमय है। [उपयोगः] उपयोग [ज्ञानदर्शनं भवति] ज्ञान और दर्शन है। [ज्ञानोपयोगः द्विविधः] ज्ञानोपयोग दो प्रकारका है : [स्वभावज्ञानं] स्वभावज्ञान और [विभावज्ञानम् इति] विभावज्ञान।

टीकाः—यहाँ (इस गाथामें) उपयोगका लक्षण कहा है।

आत्माका चैतन्य-अनुवर्ती (चैतन्यका अनुसरण करके वर्तनेवाला) परिणाम सो उपयोग है। उपयोग धर्म है, जीव धर्मी है। दीपक और प्रकाश जैसा उनका सम्बन्ध है। ज्ञान और दर्शनके भेदसे यह उपयोग दो प्रकारका है (अर्थात् उपयोगके दो प्रकार हैं : ज्ञानोपयोग और दर्शनोपयोग)। इनमें ज्ञानोपयोग भी स्वभाव और विभावके भेदके कारण दो प्रकारका है (अर्थात् ज्ञानोपयोगके भी दो प्रकार हैं : स्वभावज्ञानोपयोग और विभावज्ञानोपयोग)। उनमें स्वभावज्ञान अमूर्त, अव्याबाध, अतीन्द्रिय और अविनाशी है; वह भी कार्य और कारणरूपसे दो प्रकारका है (अर्थात् स्वभावज्ञानके भी दो प्रकार हैं : कार्यस्वभावज्ञान और कारणस्वभावज्ञान)। कार्य तो सकलविमल (सर्वथा निर्मल) केवलज्ञान है और उसका कारण परम पारिणामिकभावसे स्थित त्रिकालनिरुपाधिक सहजज्ञान है। केवल विभावरूप ज्ञान तीन हैं : कुमति, कुश्रुत और विभङ्ग।

इस उपयोगके भेदरूप ज्ञानके भेद, अब कहे जानेवाले दो सूत्रों द्वारा (११ और १२ वीं गाथा द्वारा) जानना।

(मालिनी)

अथ सकलजिनोक्तज्ञानभेदं प्रबुद्ध्वा
परिहृतपरभावः स्वस्वरूपे स्थितो यः ।
सपदि विशति यत्तच्चिच्चमत्कारमात्रं
स भवति परमश्रीकामिनीकामरूपः ॥१७॥

केवलमिंदियरहियं असहायं तं सहावणाणं ति ।
सण्णाणिदरवियप्पे विहावणाणं हवे दुविहं ॥११॥

[भावार्थ:—चैतन्यानुविधायी परिणाम वह उपयोग है । उपयोग दो प्रकारका है : (१) ज्ञानोपयोग और (२) दर्शनोपयोग । ज्ञानोपयोगके भी दो प्रकार हैं : (१) स्वभावज्ञानोपयोग और (२) विभावज्ञानोपयोग । स्वभावज्ञानोपयोग भी दो प्रकारका है : (१) कार्यस्वभावज्ञानोपयोग (अर्थात् केवलज्ञानोपयोग) और (२) कारणस्वभावज्ञानोपयोग (अर्थात् *सहजज्ञानोपयोग) । विभावज्ञानोपयोग भी दो प्रकारका है : (१) सम्यक् विभावज्ञानोपयोग और (२) मिथ्या विभावज्ञानोपयोग (अर्थात् केवल विभावज्ञानोपयोग) । सम्यक् विभावज्ञानोपयोगके चार भेद (सुमतिज्ञानोपयोग, सुश्रुतज्ञानोपयोग, सुअवधिज्ञानोपयोग और मनःपर्ययज्ञानोपयोग) अब अगली दो गाथाओंमें कहेंगे । मिथ्या विभावज्ञानोपयोगके अर्थात् केवल विभावज्ञानोपयोगके तीन भेद हैं : (१) कुमतिज्ञानोपयोग, (२) कुश्रुतज्ञानोपयोग और (३) विभङ्गज्ञानोपयोग अर्थात् कुअवधिज्ञानोपयोग] ।

[अब दसवीं गाथाकी टीका पूर्ण करते हुए टीकाकार मुनिराज श्लोक कहते हैं :]

[श्लोकार्थ:—] जिनेन्द्रकथित समस्त ज्ञानके भेदोंको जानकर जो पुरुष परभावोंका परिहार करके निज स्वरूपमें रहते हुए शीघ्र चैतन्यचमत्कारमात्र तत्त्वमें

---

* सहजज्ञानोपयोग परमपारिणामिकभावसे स्थित है तथा त्रिकाल उपाधि रहित है; उसमेंसे (सर्वको जाननेवाला) केवलज्ञानोपयोग प्रगट होता है । इसलिये सहजज्ञानोपयोग कारण है और केवलज्ञानोपयोग कार्य है । ऐसा होनेसे सहजज्ञानोपयोगको कारणस्वभावज्ञानोपयोग कहा जाता है और केवलज्ञानोपयोगको कार्यस्वभावज्ञानोपयोग कहा जाता है ।

इन्द्रिय-रहित, असहाय, केवल वह स्वाभाविक ज्ञान है ।
दो विधि विभाविक-ज्ञान सम्यक् और मिथ्याज्ञान है ॥११॥

सरगाणं चउभेयं मदिसुदओही तहेव मरगपज्जं ।
अरगाणं तिवियप्पं मदियाई भेददो चेव ॥१२॥

केवलमिन्द्रियरहितं असहायं तत्स्वभावज्ञानमिति ।
संज्ञानेतरविकल्पे विभावज्ञानं भवेद् द्विविधम् ॥११॥

संज्ञानं चतुर्भेदं मतिश्रुतावधयस्तथैव मनःपर्ययम् ।
अज्ञानं त्रिविकल्पं मत्यादेर्भेदतश्चैव ॥१२॥

अत्र च ज्ञानभेदलक्षणमुक्तम् ।

निरुपाधिस्वरूपत्वात् केवलम्, निरावरणस्वरूपत्वात् क्रमकरणव्यवधानापोढम्, अप्रतिवस्तुव्यापकत्वात् असहायम्, तत्कार्यस्वभावज्ञानं भवति । कारणज्ञानमपि तादृशं भवति ।

प्रविष्ट हो जाता है—गहरा उतर जाता है, वह पुरुष परमश्रीरूपी कामिनीका वल्लभ होता है (अर्थात् मुक्तिसुन्दरीका पति होता है) ।१७।

गाथा ११-१२

अन्वयार्थः—[केवलम्] जो (ज्ञान) केवल, [इन्द्रियरहितम्] इन्द्रियरहित और [असहायं] असहाय है, [तत्] वह [स्वभावज्ञानम् इति] स्वभावज्ञान है; [संज्ञानेतरविकल्पे] सम्यग्ज्ञान और मिथ्याज्ञानरूप भेद किये जाने पर, [विभावज्ञानं] विभावज्ञान [द्विविधं भवेत्] दो प्रकारका है ।

[संज्ञानं] सम्यग्ज्ञान [चतुर्भेदं] चार भेदवाला है : [मतिश्रुतावधयः तथा एव मनःपर्य्ययम्] मति, श्रुत, अवधि तथा मनःपर्यय; [अज्ञानं च एव] और अज्ञान (–मिथ्याज्ञान) [मत्यादेः भेदतः] मति आदिके भेदसे [त्रिविकल्पम्] तीन भेदवाला है ।

टीकाः—यहाँ (इन गाथाओंमें) ज्ञानके भेद कहे हैं ।

जो उपाधि रहित स्वरूपवाला होनेसे *केवल है, आवरण रहित स्वरूपवाला

---

* केवल=अकेला, शुद्ध, मिलावट रहित (–निर्भेल)

मति, श्रुत, अवधि, अरु मनःपर्यय चार सम्यग्ज्ञान है ।
अरु कुमति, कुश्रुत, कुअवधि ये तीन भेद मिथ्याज्ञान है ॥१२॥

कुतः, निजपरमात्मस्थितसहजदर्शनसहजचारित्रसहजसुखसहजपरमचिच्छक्तिनिजकारणसमयसार-स्वरूपाणि च युगपत् परिच्छेत्तुं समर्थत्वात् तथाविधमेव । इति शुद्धज्ञानस्वरूपमुक्तम् ।

इदानीं शुद्धाशुद्धज्ञानस्वरूपभेदस्त्वयमुच्यते । अनेकविकल्पसनाथं मतिज्ञानम् उपलब्धिभावनोपयोगाच्च अवग्रहादिभेदाच्च बहुबहुविधादिभेदाद्वा । लब्धिभावनाभेदाच्छ्रुतज्ञानं द्विविधम् । देशसर्वपरमभेदादवधिज्ञानं त्रिविधम् ऋजुविपुलमतिविकल्पान्मनःपर्ययज्ञानं च द्विविधम् । परमभावस्थितस्य सम्यग्दृष्टेरेतत्संज्ञानचतुष्कं भवति । मतिश्रुतावधिज्ञानानि मिथ्यादृष्टिं परिप्राप्य कुमतिकुश्रुतविभङ्गज्ञानानीति नामान्तराणि प्रपेदिरे ।

होनेसे क्रम, इन्द्रिय और (देश–कालादि) [1]व्यवधान रहित है, एक–एक वस्तुमें व्याप्त नहीं होता (–समस्त वस्तुओंमें व्याप्त होता है) इसलिये असहाय है, वह कार्य–स्वभावज्ञान है। कारणज्ञान भी वैसा ही है। काहेसे ? निज परमात्मामें विद्यमान सहजदर्शन, सहजचारित्र, सहजसुख और सहजपरमचित्शक्तिरूप निज कारणसमयसारके स्वरूपोंको युगपद् जाननेमें समर्थ होनेसे वैसा ही है। इसप्रकार शुद्ध ज्ञानका स्वरूप कहा।

अब यह (निम्नानुसार), शुद्धाशुद्ध ज्ञानका स्वरूप और भेद कहे जाते हैं: [2]उपलब्धि, भावना और उपयोगसे तथा [3]अवग्रहादि भेदसे अथवा [4]बहु, बहुविध आदि भेदसे मतिज्ञान अनेक भेदवाला है। लब्धि और भावनाके भेदसे श्रुतज्ञान दो प्रकारका है। देश, सर्व और परमके भेदसे (अर्थात् देशावधि, सर्वावधि तथा परमावधि ऐसे

१–व्यवधान=आड़, परदा, अन्तर, आँतर–दूरी, विघ्न।

२–मतिज्ञान तीन प्रकारका है: उपलब्धि, भावना और उपयोग। मतिज्ञानावरणका क्षयोपशम जिसमें निमित्त है ऐसी अर्थग्रहणशक्ति (–पदार्थको जाननेकी शक्ति) सो उपलब्धि है; जाने हुए पदार्थके प्रति पुनःपुनः चिंतन सो भावना है; "यह काला है" "यह पीला है" इत्यादिरूप अर्थग्रहणव्यापार (–पदार्थको जाननेका व्यापार) सो उपयोग है।

३–मतिज्ञान चार भेदवाला है: अवग्रह, ईहा (–विचारणा), अवाय (–निर्णय) और धारणा। [विशेषके लिये "मोक्षशास्त्र (सटीक)" देखें।]

४–मतिज्ञान बारह भेदवाला है: बहु, एक, बहुविध, एकविध, क्षिप्र, अक्षिप्र, अनिःसृत, निःसृत, अनुक्त, उक्त, ध्रुव तथा अध्रुव। [विशेषके लिये "मोक्षशास्त्र (सटीक)" देखें।]

अत्र सहजज्ञानं शुद्धान्तस्तत्त्वपरमतत्त्वव्यापकत्वात् स्वरूपप्रत्यक्षम् । केवलज्ञानं सकलप्रत्यक्षम् । 'रूपिष्ववधेः' इति वचनादवधिज्ञानं विकलप्रत्यक्षम् । तदनन्तभागवस्त्वंशग्राहकत्वान्मनःपर्ययज्ञानं च विकलप्रत्यक्षम् । मतिश्रुतज्ञानद्वितयमपि परमार्थतः परोक्षं व्यवहारतः प्रत्यक्षं च भवति ।

किं च उक्तेषु ज्ञानेषु साक्षान्मोक्षमूलमेकं निजपरमतत्त्वनिष्ठसहजज्ञानमेव । अपि च पारिणामिकभावस्वभावेन भव्यस्य परमस्वभावत्वात् सहजज्ञानादपरमुपादेयं न समस्ति ।

अनेन सहजचिद्विलासरूपेण सदा सहजपरमवीतरागशर्मामृतेन अप्रतिहतनिरावरणपरम-

---

तीन भेदोंके कारण) अवधिज्ञान तीन प्रकारका है । ऋजुमति और विपुलमतिके भेदके कारण मनःपर्ययज्ञान दो प्रकारका है । परमभावमें स्थित सम्यग्दृष्टिको [1]यह चार सम्यग्ज्ञान होते हैं । मिथ्यादर्शन हो वहाँ मतिज्ञान, श्रुतज्ञान और अवधिज्ञान "कुमतिज्ञान" "कुश्रुतज्ञान" तथा "विभंगज्ञान"—ऐसे नामांतरोंको (अन्य नामोंको) प्राप्त होते हैं ।

यहाँ (ऊपर कहे हुए ज्ञानोंमें) सहजज्ञान, शुद्ध अन्तःतत्त्वरूप परमतत्त्वमें व्यापक होनेसे, [2]स्वरूपप्रत्यक्ष है । केवलज्ञान सकलप्रत्यक्ष (सम्पूर्णप्रत्यक्ष) है । "रूपिष्ववधेः (अवधिज्ञानका विषय—सम्बन्ध रूपी द्रव्योंमें है)" ऐसा (आगमका) वचन होनेसे अवधिज्ञान विकलप्रत्यक्ष (एकदेशप्रत्यक्ष) है । उसके अनन्तवें भागमें वस्तुके अंशका ग्राहक (–ज्ञाता) होनेसे मनःपर्ययज्ञान भी विकलप्रत्यक्ष है । मतिज्ञान और श्रुतज्ञान दोनों परमार्थसे परोक्ष हैं और व्यवहारसे प्रत्यक्ष हैं ।

और विशेष यह है कि—उक्त (ऊपर कहे हुए) ज्ञानोंमें साक्षात् मोक्षका मूल निजपरमतत्त्वमें स्थित ऐसा एक सहजज्ञान ही है; तथा सहजज्ञान (उसके) पारिणामिकभावरूप स्वभावके कारण भव्यका परमस्वभाव होनेसे, सहजज्ञानके अतिरिक्त अन्य कुछ उपादेय नहीं है ।

इस सहजचिद्विलासरूप (१) सदा सहज परम वीतराग सुखामृत, (२) अप्रतिहत निरावरण परम चित्शक्तिका रूप, (३) सदा अन्तर्मुख ऐसा स्वस्वरूपमें अविचल

१–सुमतिज्ञान और सुश्रुतज्ञान सर्व सम्यग्दृष्टि जीवोंको होते हैं । सुअवधिज्ञान किन्हीं-किन्हीं सम्यग्दृष्टि जीवोंको होता है । मनःपर्ययज्ञान किन्हीं-किन्हीं मुनिवरोंको—विशिष्टसंयमधरोंको—होता है ।

२–स्वरूपप्रत्यक्ष=स्वरूपसे प्रत्यक्ष; स्वरूप-अपेक्षासे प्रत्यक्ष; स्वभावसे प्रत्यक्ष ।

चिच्छक्तिरूपेण सदान्तर्मुखे स्वस्वरूपाविचलस्थितिरूपसहजपरमचारित्रेण त्रिकालेष्वव्युच्छिन्नतया सदा सन्निहितपरमचिद्रूपश्रद्धानेन अनेन स्वभावानंतचतुष्टयेन सनाथम् अनाथमुक्तिसुन्दरीनाथम् आत्मानं भावयेत् ।

इत्यनेनोपन्यासेन संसारव्रततिमूललवित्रेण ब्रह्मोपदेशः कृत इति ।

(मालिनी)

इति निगदितभेदज्ञानमासाद्य भव्यः
परिहरतु समस्तं घोरसंसारमूलम् ।
सुकृतमसुकृतं वा दुःखमुच्चैः सुखं वा
तत उपरि समग्रं शाश्वतं शं प्रयाति ॥१८॥

(अनुष्टुभ्)

परिग्रहाग्रहं मुक्त्वा कृत्वोपेक्षां च विग्रहे ।
निर्व्यग्रप्रायचिन्मात्रविग्रहं भावयेद् बुधः ॥१९॥

स्थितिरूप सहज परम चारित्र, और (४) त्रिकाल अविच्छिन्न (अटूट) होनेसे सदा निकट ऐसी परम चैतन्यरूपकी श्रद्धा—इस स्वभाव-अनन्तचतुष्टयसे जो सनाथ (सहित) है ऐसे आत्माको—अनाथ मुक्तिसुन्दरीके नाथको—भाना चाहिये (अर्थात् सहजज्ञानविलासरूपसे स्वभावअनंतचतुष्टययुक्त आत्माको भाना चाहिये—अनुभवन करना चाहिये)।

इसप्रकार संसाररूपी लताका मूल छेदनेके लिये हँसियारूप इस [1]उपन्याससे ब्रह्मोपदेश किया ।

[अब, इन दो गाथाओंकी टीका पूर्ण करते हुए टीकाकार मुनिराज पाँच श्लोक कहते हैं :]

[श्लोकार्थः—] इसप्रकार कहे गये भेदज्ञानको पाकर भव्य जीव घोर संसारके मूलरूप समस्त [2]सुकृत या दुष्कृतको, सुख या दुःखको अत्यन्त परिहरो। उससे ऊपर (अर्थात् उसे पार कर लेने पर), जीव समग्र (परिपूर्ण) शाश्वत सुखको प्राप्त करता है।१८।

[श्लोकार्थः—] परिग्रहका ग्रहण छोड़कर तथा शरीरके प्रति उपेक्षा करके बुध पुरुषको अव्यग्रतासे (निराकुलतासे) भरा हुआ चैतन्य मात्र जिसका शरीर है उसे (—आत्माको) भाना चाहिये ।१९।

१–उपन्यास=कथन; सूचन; लेख; प्रारम्भिक कथन; प्रस्तावना ।
२–सुकृत या दुष्कृत=शुभ या अशुभ ।

(शार्दूलविक्रीडित)

शस्ताशस्तसमस्तरागविलयान्मोहस्य निर्मूलनाद्
द्वेषाम्भःपरिपूर्णमानसघटप्रध्वंसनात् पावनम् ।
ज्ञानज्योतिरनुत्तमं निरुपधि प्रव्यक्ति नित्योदितं
भेदज्ञानमहीजसत्फलमिदं वन्द्यं जगन्मंगलम् ॥२०॥

(मंदाक्रांता)

मोक्षे मोक्षे जयति सहजज्ञानमानन्दतानं
निर्व्याबाधं स्फुटितसहजावस्थमन्तर्मुखं च ।
लीनं स्वस्मिन्सहजविलसच्चिच्चमत्कारमात्रे
स्वस्य ज्योतिःप्रतिहततमोवृत्ति नित्याभिरामम् ॥२१॥

(अनुष्टुभ्)

सहजज्ञानसाम्राज्यसर्वस्वं शुद्धचिन्मयम् ।
ममात्मानमयं ज्ञात्वा निर्विकल्पो भवाम्यहम् ॥२२॥

[श्लोकार्थः—] मोहको निर्मूल करनेसे, प्रशस्त–अप्रशस्त समस्त रागका विलय करनेसे तथा द्वेषरूपी जलसे भरे हुए मनरूपी घड़ेका नाश करनेसे, पवित्र, [1]अनुत्तम, [2]निरुपधि और नित्य-उदित (सदा प्रकाशमान) ऐसी ज्ञानज्योति प्रगट होती है। भेदज्ञानरूपी वृक्षका यह [3]सत्फल वंद्य है, जगतको मंगलरूप है।२०।

[श्लोकार्थः—] आनन्दमें जिसका विस्तार है, जो अव्याबाध (बाधा रहित) है, जिसकी सहज दशा विकसित हो गई है, जो अन्तर्मुख है, जो अपनेमें—सहज विलसते (खेलते, परिणमते) चित्चमत्कारमात्रमें—लीन है, जिसने निज ज्योतिसे तमोवृत्तिको (–अन्धकारदशाको, अज्ञानपरिणतिको) नष्ट किया है और जो नित्य अभिराम (सदा सुन्दर) है, ऐसा सहजज्ञान सम्पूर्ण मोक्षमें जयवन्त वर्तता है।२१।

[श्लोकार्थः—] सहजज्ञानरूपी साम्राज्य जिसका सर्वस्व है ऐसा शुद्धचैतन्यमय अपने आत्माको जानकर, मैं यह निर्विकल्प होऊँ ॥२२॥

१- अनुत्तम=जिससे अन्य कोई उत्तम नहीं है ऐसी; सर्वश्रेष्ठ ।

२- निरुपधि=उपधि रहित; परिग्रह रहित; बाह्य सामग्री रहित; उपाधि रहित; छलकपट रहित—सरल ।

३- सत्फल=सुन्दर फल; अच्छा फल; उत्तम फल; सच्चा फल ।

तह दंसणउवओगो ससहावेदरवियप्पदो दुविहो ।
केवलमिंदियरहियं असहायं तं सहावमिदि भणिदं ॥१३॥

तथा दर्शनोपयोगः स्वस्वभावेतरविकल्पतो द्विविधः ।
केवलमिन्द्रियरहितं असहायं तत् स्वभाव इति भणितः ॥१३॥

दर्शनोपयोगस्वरूपाख्यानमेतत् ।

यथा ज्ञानोपयोगो बहुविधविकल्पसनाथः दर्शनोपयोगश्च तथा । स्वभावदर्शनोपयोगो विभावदर्शनोपयोगश्च । स्वभावोऽपि द्विविधः, कारणस्वभावः कार्यस्वभावश्चेति । तत्र कारणदृष्टिः सदा पावनरूपस्य औदयिकादिचतुर्णां विभावस्वभावपरभावानामगोचरस्य सहजपरमपारिणामिकभावस्वभावस्य कारणसमयसारस्वरूपस्य निरावरणस्वभावस्य स्वस्वभावसत्तामात्रस्य परम-

---

गाथा १३

अन्वयार्थः—[तथा] उसीप्रकार [दर्शनोपयोगः] दर्शनोपयोग [स्वस्वभावेतरविकल्पतः] स्वभाव और विभावके भेदसे [द्विविधः] दो प्रकारका है । [केवलम्] जो केवल, [इन्द्रियरहितम्] इन्द्रियरहित और [असहायं] असहाय है, [तत्] वह [स्वभावः इति भणितः] स्वभावदर्शनोपयोग कहा है ।

टीकाः—यह, दर्शनोपयोगके स्वरूपका कथन है ।

जिसप्रकार ज्ञानोपयोग बहुविध भेदोंवाला है, उसीप्रकार दर्शनोपयोग भी वैसा है । (वहाँ प्रथम, उसके दो भेद हैं :) स्वभावदर्शनोपयोग और विभावदर्शनोपयोग । स्वभावदर्शनोपयोग भी दो प्रकारका है : कारणस्वभावदर्शनोपयोग और कार्यस्वभावदर्शनोपयोग ।

वहाँ [1]कारणदृष्टि तो, सदा पावनरूप और औदयिकादि चार [2]विभावस्वभाव परभावोंको अगोचर ऐसा सहज–परमपारिणामिकभावरूप जिसका स्वभाव है, जो

१-दृष्टि=दर्शन । [दर्शन अथवा दृष्टिके दो अर्थ हैं : (१) सामान्य प्रतिभास, और (२) श्रद्धा । जहाँ जो अर्थ घटित होता हो वहाँ वह अर्थ समझना । दोनों अर्थ गर्भित हों वहाँ दोनों समझना ।]

२-विभाव=विशेष भाव; अपेक्षित भाव । [औदयिक, औपशमिक, क्षायोपशमिक और क्षायिक यह चार भाव अपेक्षित भाव होनेसे उन्हें विभावस्वभाव परभाव कहा है । एक सहजपरमपारिणामिक

दर्शनपयोग स्वभाव और विभाव दो विधि जानिये ।
इन्द्रिय–रहित, असहाय, केवल, दृग्स्वभाविक मानिये ॥१३॥

चैतन्यसामान्यस्वरूपस्य अकृत्रिमपरमस्वस्वरूपाविचलस्थितिसनाथशुद्धचारित्रस्य नित्यशुद्धनिरंजनबोधस्य निखिलदुरघवीरवैरिसेनावैजयन्तीविध्वंसकारणस्य तस्य खलु स्वरूपश्रद्धानमात्रमेव।

अन्या कार्यदृष्टिः दर्शनज्ञानावरणीयप्रमुखघातिकर्मक्षयेण जातैव। अस्य खलु क्षायिकजीवस्य सकलविमलकेवलावबोधबुद्धभुवनत्रयस्य स्वात्मोत्थपरमवीतरागसुखसुधासमुद्रस्य यथाख्याताभिधानकार्यशुद्धचारित्रस्य साद्यनिधनामूर्तातींद्रियस्वभावशुद्धसद्भूतव्यवहारनयात्मकस्य त्रैलोक्यभव्यजनताप्रत्यक्षवंदनायोग्यस्य तीर्थंकरपरमदेवस्य केवलज्ञानवदियमपियुगपल्लोकालोकव्यापिनी।

कारणसमयसारस्वरूप है, निरावरण जिसका स्वभाव है, जो निज स्वभावसत्तामात्र है, जो परमचैतन्यसामान्यस्वरूप है जो अकृत्रिम परम स्व-स्वरूपमें अविचलस्थितिमय शुद्धचारित्रस्वरूप है, जो नित्य-शुद्ध-निरंजनज्ञानस्वरूप है और जो समस्त दुष्ट पापोंरूप वीर शत्रु सेनाकी ध्वजाके नाशका कारण है ऐसे आत्माके यथार्थ [1]स्वरूपश्रद्धानमात्र ही है (अर्थात् कारणदृष्टि तो वास्तवमें शुद्धात्माकी स्वरूपश्रद्धामात्र ही है)।

दूसरी कार्यदृष्टि दर्शनावरणीय-ज्ञानावरणीयादि घातिकर्मोंके क्षयसे उत्पन्न होती है। इस क्षायिक जीवको—जिसने सकलविमल (सर्वथा निर्मल) केवलज्ञान द्वारा तीन भुवनको जाना है; निज आत्मासे उत्पन्न होनेवाले परम वीतराग सुखामृतका जो समुद्र है, जो यथाख्यात नामक कार्यशुद्धचारित्रस्वरूप है, जो सादि-अनन्त अमूर्त अतीन्द्रियस्वभाववाले [2]शुद्धसद्भूतव्यवहारनयात्मक है, और जो त्रिलोकके भव्य जनोंको प्रत्यक्ष वन्दनायोग्य है, ऐसे तीर्थंकरपरमदेवको—केवलज्ञानकी भाँति यह (कार्यदृष्टि) भी युगपत् लोकालोकमें व्याप्त होनेवाली है।

भावको ही सदा-पावनरूप निज स्वभाव कहा है। चार विभावभावोंका आश्रय करनेसे परमपारिणामिकभावका आश्रय नहीं होता। परमपारिणामिकभावका आश्रय करनेसे ही सम्यक्त्वसे लेकर मोक्ष दशा तककी दशाएँ प्राप्त होती हैं।]

१—स्वरूपश्रद्धान=स्वरूप-अपेक्षासे श्रद्धान। [जिसप्रकार कारणस्वभावज्ञान अर्थात् सहजज्ञान स्वरूप-प्रत्यक्ष है, उसीप्रकार कारणस्वभावदृष्टि अर्थात् सहजदर्शन स्वरूपश्रद्धानमात्र ही है।]

२—तीर्थंकरपरमदेव शुद्धसद्भूतव्यवहारनयस्वरूप हैं, कि जो शुद्धसद्भूतव्यवहारनय सादि-अनन्त, अमूर्तिक और अतीन्द्रियस्वभाववाला है।

इति कार्यकारणरूपेण स्वभावदर्शनोपयोगः प्रोक्तः विभावदर्शनोपयोगोऽप्युत्तरसूत्रस्थितत्वात् तत्रैव दृश्यत इति ।

(इन्द्रवज्रा)

दृग्ज्ञप्तिवृत्त्यात्मकमेकमेव
चैतन्यसामान्यनिजात्मतत्त्वम् ।
मुक्तिस्पृहाणामयनं तदुच्चै-
रेतेन मार्गेण विना न मोक्ष ॥२३॥

चक्खु अचक्खू ओही तिण्णि वि भणिदं विहावदिट्ठि त्ति ।
पज्जाओ दुवियप्पो सपरावेक्खो य णिरवेक्खो ॥१४॥

चक्षुरचक्षुरवधयस्तिस्रोपि भणिता विभावदृष्टय इति ।
पर्य्यायो द्विविकल्पः स्वपरापेक्षश्च निरपेक्षः ॥१४॥

इसप्रकार कार्यरूप और कारणरूपसे स्वभावदर्शनोपयोग कहा । विभावदर्शनोपयोग अगले सूत्रमें (१४ वीं गाथामें) होनेसे वहीं दर्शाया जायेगा ।

[अब, १३ वीं गाथाकी टीका पूर्ण करते हुए टीकाकार मुनिराज श्री पद्मप्रभमलधारिदेव श्लोक कहते हैं :]

[श्लोकार्थः—] दृशि–ज्ञप्ति–वृत्तिस्वरूप (दर्शनज्ञानचारित्ररूपसे परिणमित) ऐसा जो एक ही चैतन्यसामान्यरूप निज आत्मतत्त्व, वह मोक्षेच्छुओंको (मोक्षका) प्रसिद्ध मार्ग है; इस मार्ग बिना मोक्ष नहीं है । २३ ।

गाथा १४

अन्वयार्थः—[चक्षुरचक्षुरवधयः] चक्षु, अचक्षु और अवधि [तिस्रः अपि] यह तीनों [विभावदृष्टयः] विभावदर्शन [इति भणिताः] कहे गये हैं । [पर्य्यायः द्विविकल्पः] पर्याय द्विविध है : [स्वपरापेक्षः] स्वपरापेक्ष (स्व और परकी अपेक्षा युक्त) [च] और [निरपेक्षः] निरपेक्ष ।

चक्षु, अचक्षु, अवधि दर्शन ये विभाविक दर्श हैं ।
निरपेक्ष, स्वपरापेक्ष–ये पर्याय द्विविध विकल्प हैं ॥१४॥

अशुद्धदृष्टिशुद्धाशुद्धपर्यायसूचनेयम् ।

मतिज्ञानावरणीयकर्मक्षयोपशमेन यथा मूर्तं वस्तु जानाति तथा चक्षुर्दर्शनावरणीयकर्मक्षयोपशमेन मूर्तं वस्तु पश्यति च । यथा श्रुतज्ञानावरणीयकर्मक्षयोपशमेन श्रुतद्वारेण द्रव्यश्रुतनिगदितमूर्तामूर्तसमस्तं वस्तुजातं परोक्षवृत्त्या जानाति तथैवाचक्षुर्दर्शनावरणीयकर्मक्षयोपशमेन स्पर्शनरसनघ्राणश्रोत्रद्वारेण तत्तद्योग्यविषयान् पश्यति च । यथा अवधिज्ञानावरणीयकर्मक्षयोपशमेन शुद्धपुद्गलपर्यंतं मूर्तद्रव्यं जानाति तथा अवधिदर्शनावरणीयकर्मक्षयोपशमेन समस्तमूर्तपदार्थं पश्यति च ।

अत्रोपयोगव्याख्यानानन्तरं पर्यायस्वरूपमुच्यते । परि समन्तात् भेदमेति गच्छतीति पर्यायः । अत्र स्वभावपर्यायः षड्द्रव्यसाधारणः अर्थपर्यायः अवाङ्मनसगोचरः अतिसूक्ष्मः आगमप्रामाण्यादभ्युपगम्योऽपि च षड्ढानिवृद्धिविकल्पयुतः । अनंतभागवृद्धिः असंख्यातभागवृद्धिः

टीका:—यह, अशुद्ध दर्शनकी तथा शुद्ध और अशुद्ध पर्यायकी सूचना है ।

जिसप्रकार मतिज्ञानावरणीय कर्मके क्षयोपशमसे (जीव) मूर्त वस्तुको जानता है, उसीप्रकार चक्षुदर्शनावरणीय कर्मके क्षयोपशमसे (जीव) मूर्त वस्तुको *देखता है । जिसप्रकार श्रुतज्ञानावरणीय कर्मके क्षयोपशमसे (जीव) श्रुत द्वारा द्रव्यश्रुतसे कहे हुए मूर्त–अमूर्त समस्त वस्तुसमूहको परोक्ष रीतिसे जानता है, उसीप्रकार अचक्षुदर्शनावरणीय कर्मके क्षयोपशमसे (जीव) स्पर्शन, रसन, घ्राण और श्रोत्र द्वारा उस–उसके योग्य विषयोंको देखता है । जिसप्रकार अवधिज्ञानावरणीय कर्मके क्षयोपशमसे (जीव) शुद्धपुद्गलपर्यन्त (–परमाणु तकके) मूर्तद्रव्यको जानता है, उसीप्रकार अवधिदर्शनावरणीय कर्मके क्षयोपशमसे (जीव) समस्त मूर्त पदार्थोंको देखता है ।

(उपरोक्तानुसार) उपयोगका व्याख्यान करनेके पश्चात् यहां पर्यायका स्वरूप कहा जाता है :

परि समन्तात् भेदमेति गच्छतीति पर्यायः अर्थात् जो सर्व ओरसे भेदको प्राप्त करे सो पर्याय है ।

उसमें, स्वभावपर्याय छह द्रव्योंको साधारण है, अर्थपर्याय है, वाणी और मनको अगोचर है, अति सूक्ष्म है, आगमप्रमाणसे स्वीकारकरनेयोग्य तथा छह हानिवृद्धिके भेदों सहित है अर्थात् अनन्तभाग वृद्धि, असंख्यातभाग वृद्धि, संख्यातभाग वृद्धि,

---

* देखना=सामान्यरूपसे अवलोकन करना; सामान्य प्रतिभास होना ।

संख्यातभागवृद्धिः संख्यातगुणवृद्धिः असंख्यातगुणवृद्धिः अनन्तगुणवृद्धिः, तथा हानिश्च नीयते। अशुद्धपर्यायो नरनारकादिव्यंजनपर्याय इति।

(मालिनी)

अथ सति परभावे शुद्धमात्मानमेकं
सहजगुणमणीनामाकरं पूर्णबोधम्।
भजति निशितबुद्धिर्यः पुमान् शुद्धदृष्टिः
स भवति परमश्रीकामिनीकामरूपः ॥२४॥

(मालिनी)

इति परगुणपर्यायेषु सत्सूत्तमानां
हृदयसरसिजाते राजते कारणात्मा।
सपदि समयसारं तं परं ब्रह्मरूपं
भज भजसि निजोत्थं भव्यशार्दूल स त्वम् ॥२५॥

(पृथ्वी)

क्वचिल्लसति सद्गुणैः क्वचिदशुद्धरूपैर्गुणैः
क्वचित्सहजपर्ययैः क्वचिदशुद्धपर्यायकैः।

संख्यातगुण वृद्धि, असंख्यातगुण वृद्धि और अनन्तगुण वृद्धि सहित होती है और इसीप्रकार (वृद्धिकी भाँति) हानि भी लगाई जाती है।

अशुद्धपर्याय नर–नारकादि व्यंजनपर्याय है।

[अब, १४वीं गाथाकी टीका पूर्ण करते हुए टीकाकार मुनिराज तीन श्लोक कहते हैं :]

[श्लोकार्थः—] परभाव होने पर भी, सहजगुणमणिकी खानरूप तथा पूर्ण ज्ञानवाले शुद्ध आत्माको एकको जो तीक्ष्णबुद्धिवाला शुद्धदृष्टि पुरुष भजता है, वह पुरुष परमश्रीरूपी कामनीका (मुक्तिसुन्दरीका) वल्लभ बनता है।२४।

[श्लोकार्थः—] इसप्रकार पर गुणपर्यायें होने पर भी, उत्तम पुरुषोंके हृदय-कमलमें कारण–आत्मा विराजमान है। अपनेसे उत्पन्न ऐसे उस परमब्रह्मरूप समय-सारको—कि जिसे तू भज रहा है उसे—, हे भव्यशार्दूल (भव्योत्तम), तू शीघ्र भज; तू वह है।२५।

[श्लोकार्थः—] जीवतत्त्व क्वचित् सद्गुणों सहित *विलसता है—दिखाई

---

* विलसना=दिखाई देना; दिखना; झलकना; आविर्भूत होना; प्रगट होना।

सनाथमपि जीवतत्त्वमनाथं समस्तैरिदं ।
नमामि परिभावयामि सकलार्थसिद्ध्यैसदा ।।२६।।

णरणारयतिरियसुरा पज्जाया ते विहावमिदि भणिदा ।
कम्मोपाधिविवज्जियपज्जाया ते सहावमिदि भणिदा ।।१५।।

नरनारकतिर्यक्सुराः पर्य्यायास्ते विभावा इति भणिताः ।
कर्मोपाधिविवर्जितपर्य्यायास्ते स्वभावा इति भणिताः ।।१५।।

स्वभावविभावपर्यायसंक्षेपोक्तिरियम् ।

तत्र स्वभावविभावपर्यायाणां मध्ये स्वभावपर्यायस्तावत् द्विप्रकारेणोच्यते । कारणशुद्धपर्यायः कार्यशुद्धपर्यायश्चेति । इह हि सहजशुद्धनिश्चयेन अनाद्यनिधनामूर्तातीन्द्रियस्वभावशुद्धसहजज्ञानसहजदर्शनसहजचारित्रसहजपरमवीतरागसुखात्मकशुद्धान्तस्तत्त्वस्वरूपस्वभावानन्तचतुष्टय-

---

देता है, क्वचित् अशुद्धरूप गुणों सहित विलसता है, क्वचित् सहज पर्यायों सहित विलसता है और क्वचित् अशुद्ध पर्यायों सहित विलसता है । इन सबसे सहित होने पर भी जो इन सबसे रहित है ऐसे इस जीवतत्त्वको मैं सकल अर्थकी सिद्धिके लिये सदा नमता हूँ, भाता हूँ ।२६।

गाथा १५

अन्वयार्थः—[नरनारकतिर्यक्सुराः पर्य्यायाः] मनुष्य, नारक, तिर्यञ्च और देवरूप पर्यायें [ते] वे [विभावाः] विभावपर्यायें [इति भणिताः] कही गई हैं; [कर्मोपाधिविवर्जितपर्य्यायाः] कर्मोपाधि रहित पर्यायें [ते] वे [स्वभावाः] स्वभावपर्यायें [इति भणिताः] कही गई हैं ।

टीकाः—यह स्वभावपर्यायों तथा विभावपर्यायोंका संक्षेप कथन है ।

वहां, स्वभावपर्यायों और विभावपर्यायोंके बीच प्रथम स्वभावपर्याय दो प्रकारसे कही जाती है : कारणशुद्धपर्याय और कार्यशुद्धपर्याय ।

यहाँ सहज शुद्ध निश्चय से, अनादि–अनन्त, अमूर्त, अतीन्द्रियस्वभाववाले और

तिर्यञ्च, नारकि, देव, नर पर्याय हैं वैभाविकी ।
पर्याय कर्मोपाधि वर्जित हैं कही स्वाभाविकी ।।१५।।

स्वरूपेण सहाञ्चितपंचमभावपरिणतिरेव कारणशुद्धपर्याय इत्यर्थः । साद्यनिधनामूर्तातींद्रियस्वभावशुद्धसद्भूतव्यवहारेण केवलज्ञानकेवलदर्शनकेवलसुखकेवलशक्तियुक्तफलरूपानंतचतुष्टयेन सार्धं परमोत्कृष्टक्षायिकभावस्य शुद्धपरिणतिरेव कार्यशुद्धपर्यायश्च । अथवा पूर्वसूत्रोपात्तसूक्ष्मऋजुसूत्रनयाभिप्रायेण षड्द्रव्यसाधारणाः सूक्ष्मास्ते हि अर्थपर्यायाः शुद्धा इति बोद्धव्याः । उक्तः समासतः शुद्धपर्यायविकल्पः ।

इदानीं व्यञ्जनपर्याय उच्यते । व्यज्यते प्रकटीक्रियते अनेनेति व्यञ्जनपर्यायः । कुतः ? लोचनगोचरत्वात् पटादिवत् । अथवा सादिसनिधनमूर्तविजातीयविभावस्वभावत्वात्, दृश्यमानविनाशस्वरूपत्वात् ।

शुद्ध ऐसे सहजज्ञान–सहजदर्शन–सहजचारित्र–सहजपरमवीतरागसुखात्मक शुद्धअन्तःतत्त्वस्वरूप जो स्वभाव–अनन्तचतुष्टयका स्वरूप उसके साथकी जो पूजित पंचमभावपरिणति (–उसके साथ तन्मयरूपसे रहनेवाली जो पूज्य ऐसी पारिणामिकभावकी परिणति) वही कारणशुद्धपर्याय है, ऐसा अर्थ है ।

सादि–अनन्त, अमूर्त, अतीन्द्रियस्वभाववाले शुद्धसद्भूतव्यवहारसे, केवलज्ञान–केवलदर्शन–केवलसुख–केवलशक्तियुक्त फलरूप अनन्तचतुष्टयके साथकी (–अनन्तचतुष्टयके साथ तन्मयरूपसे रहनेवाली) जो परमोत्कृष्ट क्षायिकभावकी शुद्धपरिणति वही *कार्यशुद्धपर्याय है । अथवा, पूर्व सूत्रमें कहे हुए सूक्ष्म ऋजुसूत्रनयके अभिप्रायसे, छह द्रव्योंको साधारण और सूक्ष्म ऐसी वे अर्थपर्यायें शुद्ध जानना (अर्थात् वे अर्थपर्यायें ही शुद्धपर्यायें हैं ।) ।

(इसप्रकार) शुद्धपर्यायके भेद संक्षेपमें कहे ।

अब व्यंजनपर्याय कही जाती है : जिससे व्यक्त हो—प्रगट हो वह व्यंजनपर्याय है । किस कारण ? पटादिकी (वस्त्रादिकी) भाँति चक्षुगोचर होनेसे (प्रगट होती है); अथवा, सादि–सांत मूर्त विजातीयविभावस्वभाववाली होने से, दिखकर नष्ट होनेवाले स्वरूपवाली होनेसे (प्रगट होती है) ।

---

* सहजज्ञानादि स्वभाव–अनन्तचतुष्टययुक्त कारणशुद्धपर्यायमेंसे केवलज्ञानादि अनन्तचतुष्टययुक्त कार्यशुद्ध पर्याय प्रगट होती है । पूजनीय परमपारिणामिकभावपरिणति वह कारणशुद्धपर्याय है और शुद्ध क्षायिकभावपरिणति वह कार्यशुद्धपर्याय है ।

व्यंजनपर्यायश्च—पर्यायिनमात्मानमन्तरेण पर्यायस्वभावात्, शुभाशुभमिश्रपरिणामेनात्मा व्यवहारेण नरो जातः, तस्य नराकारो नरपर्यायः; केवलेनाशुभकर्मणा व्यवहारेणात्मा नारको जातः, तस्य नारकाकारो नारकपर्यायः; किंचिच्छुभमिश्रमायापरिणामेन तिर्यक्कायजो व्यवहारेणात्मा, तस्याकारस्तिर्यक्पर्यायः; केवलेन शुभकर्मणा व्यवहारेणात्मा देवः, तस्याकारो देवपर्यायश्चेति ।

अस्य पर्यायस्य प्रपञ्चो ह्यागमान्तरे द्रष्टव्य इति ।

(मालिनी)

अपि च बहुविभावे सत्ययं शुद्धदृष्टिः
सहजपरमतत्त्वाभ्यासनिष्णातबुद्धिः ।
सपदि समयसारान्नान्यदस्तीति मत्वा
स भवति परमश्रीकामिनीकामरूपः ॥२७॥

माणुस्सा दुवियप्पा कम्ममहीभोगभूमिसंजादा ।
सत्तविहा णेरइया णादव्वा पुढविभेदेण ॥१६॥

पर्यायी आत्माके ज्ञान विना आत्मा पर्यायस्वभाववाला होता है; इसलिये शुभाशुभरूप मिश्र परिणामसे आत्मा व्यवहारसे मनुष्य होता है, उसका मनुष्याकार वह मनुष्यपर्याय है; केवल अशुभ कर्मसे व्यवहारसे आत्मा नारक होता है, उसका नारक-आकार वह नारकपर्याय है; किंचित्‌शुभमिश्रित मायापरिणामसे आत्मा व्यवहारसे तिर्यञ्चकायमें जन्मता है, उसका आकार वह तिर्यञ्चपर्याय है; और केवल शुभ कर्मसे व्यवहारसे आत्मा देव होता है, उसका आकार वह देवपर्याय है ।—यह व्यंजनपर्याय है । इस पर्यायका विस्तार अन्य आगममें देख लेना चाहिये ।

[अब, १५वीं गाथाकी टीका पूर्ण करते हुए टीकाकार मुनिराज श्लोक कहते हैं :]

[श्लोकार्थः—] बहु विभाव होने पर भी, सहज परम तत्त्वके अभ्यासमें जिसकी बुद्धि प्रवीण है ऐसा यह शुद्धदृष्टिवाला पुरुष, "समयसारसे अन्य कुछ नहीं है" ऐसा मानकर, शीघ्र परमश्रीरूपी सुन्दरीका वल्लभ होता है ।२७।

हैं कर्म-भूमिज, भोग-भूमिज मनुजकी दो जातियाँ ।
अरु सप्त पृथ्वीभेदसे हैं सप्त नारक राशियाँ ॥१६॥

चउदहभेदा भणिदा तेरिच्छा सुरगणा चउब्भेदा ।
एदेसिं वित्थारं लोयविभागेसु णादव्वं ॥१७॥

मानुषा द्विविकल्पाः कर्ममहीभोगभूमिसंजाताः ।
सप्तविधा नारका ज्ञातव्याः पृथ्वीभेदेन ॥१६॥
चतुर्दशभेदा भणितास्तिर्यंचः सुरगणाश्चतुर्भेदाः ।
एतेषां विस्तारो लोकविभागेषु ज्ञातव्यः ॥१७॥

चतुर्गतिस्वरूपनिरूपणाख्यानमेतत् ।

मनोरपत्यानि मनुष्याः । ते द्विविधाः, कर्मभूमिजा भोगभूमिजाश्चेति । तत्र कर्मभूमिजाश्च द्विविधाः, आर्या म्लेच्छाश्चेति । आर्याः पुण्यक्षेत्रवर्तिनः । म्लेच्छाः पापक्षेत्रवर्तिनः । भोगभूमिजाश्चार्यनामधेयधरा जघन्यमध्यमोत्तमक्षेत्रवर्तिनः एकद्वित्रिपल्योपमायुषः । रत्नशर्करा-

---

गाथा १६-१७

अन्वयार्थः—[मानुषाः द्विविकल्पाः] मनुष्योंके दो भेद हैं : [कर्ममहीभोगभूमिसंजाताः] कर्मभूमिमें जन्मे हुए और भोगभूमिमें जन्मे हुए; [पृथ्वीभेदेन] पृथ्वीके भेदसे [नारकाः] नारक [सप्तविधाः ज्ञातव्याः] सात प्रकारके जानना; [तिर्यञ्चः] तिर्यञ्चोंके [चतुर्दशभेदाः] चौदहभेद [भणिताः] कहे हैं; [सुरगणाः] देवसमूहोंके [चतुर्भेदाः] चार भेद हैं । [एतेषां विस्तारः] इनका विस्तार [लोकविभागेषु ज्ञातव्यः] लोकविभागमेंसे जान लेना ।

टीकाः—यह, चार गतिके स्वरूपनिरूपणरूप कथन है ।

*मनुकी सन्तान वह मनुष्य हैं वे दो प्रकारके हैं : कर्मभूमिज और भोग भूमिज । उनमें कर्मभूमिज मनुष्य भी दो प्रकारके हैं : आर्य और म्लेच्छ । पुण्यक्षेत्रमें रहनेवाले वे आर्य हैं और पापक्षेत्रमें रहनेवाले वे म्लेच्छ हैं । भोगभूमिज मनुष्य आर्य

* भोगभूमिके अन्तमें और कर्मभूमिके आदिमें होनेवाले कुलकर मनुष्योंको आजीविकाके साधन सिखाकर लालित-पालित करते हैं इसलिये वे मनुष्योंके पिता समान हैं । कुलकरको मनु कहा जाता है ।

तिर्यञ्च चौदह भेदवाले, देव चार प्रकारके ।
इन सबका विस्तार है, ज्ञातव्य लोकविभागसे ॥१७॥

वालुकापंकधूमतमोमहातमःप्रभाभिधानसप्तपृथ्वीनां भेदान्नारकजीवाः सप्तधा भवन्ति । प्रथमनरकस्य नारका ह्येकसागरोपमायुषः । द्वितीयनरकस्य नारकाः त्रिसागरोपमायुषः । तृतीयस्य सप्त । चतुर्थस्य दश । पञ्चमस्य सप्तदश । षष्ठस्य द्वाविंशतिः । सप्तमस्य त्रयस्त्रिंशत् । अथ विस्तरभयात् संक्षेपेणोच्यते । तिर्यञ्चः सूक्ष्मैकेन्द्रियपर्याप्तकापर्याप्तकबादरैकेन्द्रियपर्याप्तकापर्याप्तकद्वीन्द्रियपर्याप्तकापर्याप्तकत्रीन्द्रियपर्याप्तकापर्याप्तकचतुरिन्द्रियपर्याप्तकापर्याप्तकासंज्ञिपंचेन्द्रियपर्याप्तकापर्याप्तकभेदाच्चतुर्दशभेदा भवन्ति । भावनव्यंतरज्योतिःकल्पवासिकभेदाद्देवाश्चतुर्णिकायाः । एतेषां चतुर्गतिजीवभेदानां भेदो लोकविभागाभिधानपरमागमे द्रष्टव्यः । इहात्मस्वरूपप्ररूपणा-

---

नामको धारण करते हैं; जघन्य, मध्यम अथवा उत्तम क्षेत्रमें रहनेवाले हैं और एक पल्योपम, दो पल्योपमकी आयुवाले हैं ।

रत्नप्रभा, शर्कराप्रभा, बालुकाप्रभा, पंकप्रभा, धूमप्रभा, तमःप्रभा और महातमःप्रभा नामकी सात पृथ्वीके भेदोंके कारण नारक जीव सात प्रकारके हैं । पहले नरकके नारकी एक सागरोपमकी आयुवाले हैं, दूसरे नरकके नारकी तीन सागरोपमकी आयुवाले हैं । तीसरे नरकके नारकी सात सागरोपमकी आयुवाले हैं, चौथे नरकके नारकी दस सागरोपम, पाँचवें नरकके सत्रह सागरोपम, छठवें नरकके बाईस सागरोपम और सातवें नरकके नारकी तेतीस सागरोपमकी आयुवाले हैं ।

अब विस्तारके भयके कारण संक्षेपसे कहनेमें, तिर्यंचोंके चौदह भेद हैं : (१-२) सूक्ष्म एकेन्द्रिय पर्याप्त और अपर्याप्त (३-४) बादर एकेन्द्रिय पर्याप्त और अपर्याप्त, (५-६) द्वीन्द्रिय पर्याप्त और अपर्याप्त, (७-८) त्रीन्द्रिय पर्याप्त और अपर्याप्त, (९-१०) चतुरिन्द्रिय पर्याप्त और अपर्याप्त, (११-१२) असंज्ञी पंचेन्द्रिय पर्याप्त और अपर्याप्त, (१३-१४) संज्ञी पंचेन्द्रिय पर्याप्त और अपर्याप्त ।

देवोंके चार निकाय (समूह) हैं : (१) भवनवासी, (२) व्यंतर, (३) ज्योतिष्क और (४) कल्पवासी ।

इन चार गतिके जीवोंके भेदोंके भेद लोकविभाग नामक परमागममें देख लें । यहाँ (इस परमागममें) आत्मस्वरूपके निरूपणमें अन्तरायका हेतु होगा इसलिये सूत्रकर्ता पूर्वाचार्यमहाराजने (वे विशेष भेद) नहीं कहे हैं ।

न्तरायहेतुरिति पूर्वसूरिभिः सूत्रकृद्भिरनुक्त इति ।

(मंदाक्रांता)

स्वर्गे वास्मिन्मनुजभुवने खेचरेन्द्रस्य दैवा-
ज्ज्योतिर्लोके फणपतिपुरे नारकाणां निवासे ।
अन्यस्मिन् वा जिनपतिभवने कर्मणां नोऽस्तु सूतिः
भूयो भूयो भवतु भवतः पादपंकेजभक्तिः ॥२८॥

(शार्दूलविक्रीडित)

नानानूननराधिनाथविभवानाकर्ण्य चालोक्य च
त्वं क्लिश्नासि मुधात्र किं जडमते पुण्यार्जितास्ते ननु ।
तच्छक्तिर्जिननाथपादकमलद्वन्द्वार्चनायामियं
भक्तिस्ते यदि विद्यते बहुविधा भोगाः स्युरेते त्वयि ॥२९॥

कत्ता भोत्ता आदा पोग्गलकम्मस्स होदि ववहारा ।
कम्मजभावेणादा कत्ता भोत्ता दु णिच्छयदो ॥१८॥

[अब इन दो गाथाओंकी टीका पूर्ण करते हुए टीकाकार मुनिराज दो श्लोक कहते हैं :]

[श्लोकार्थः—] (हे जिनेन्द्र !) दैवयोगसे मैं स्वर्गमें होऊँ इस मनुष्यलोकमें होऊँ, विद्याधरके स्थानमें होऊँ, ज्योतिष्क देवोंके लोकमें होऊँ, नागेन्द्रके नगरमें होऊँ, नारकोंके निवासमें होऊँ, जिनपतिके भवनमें होऊँ या अन्य चाहे जिस स्थान पर होऊँ, (परन्तु) मुझे कर्मका उद्भव न हो, पुनः पुनः आपके पादपंकजकी भक्ति हो ।२८।

[श्लोकार्थः—] नराधिपतियोंके अनेकविध महा वैभवोंको सुनकर तथा देखकर, हे जड़मति, तू यहाँ व्यर्थ ही क्लेश क्यों प्राप्त करता है ! वे वैभव सचमुच

है जीव कर्ता-भोगता जड़कर्मका व्यवहारसे ।
है कर्म-जन्य विभावका कर्ता नियत नय द्वारसे ॥१८॥

कर्ता भोक्ता आत्मा पुद्गलकर्मणो भवति व्यवहारात् ।
कर्मजभावेनात्मा कर्ता भोक्ता तु निश्चयतः ॥१८॥

कर्तृत्वभोक्तृत्वप्रकारकथनमिदम् ।

आसन्नगतानुपचरितासद्भूतव्यवहारनयाद् द्रव्यकर्मणां कर्ता तत्फलरूपाणां सुखदुःखानां भोक्ता च, आत्मा हि अशुद्धनिश्चयनयेन सकलमोहरागद्वेषादिभावकर्मणां कर्ता भोक्ता च, अनुपचरितासद्भूतव्यवहारेण नोकर्मणां कर्ता, उपचरितासद्भूतव्यवहारेण घटपटशकटादीनां कर्ता इत्यशुद्धजीवस्वरूपमुक्तम् ।

(मालिनी)

अपि च सकलरागद्वेषमोहात्मको यः
परमगुरुपदाब्जद्वन्द्वसेवाप्रसादात् ।
सहजसमयसारं निर्विकल्पं हि बुद्ध्वा
स भवति परमश्रीकामिनीकान्तकान्तः ॥३०॥

पुण्यसे प्राप्त होते हैं। वह (पुण्योपार्जनकी) शक्ति जिननाथके पादपद्मयुगलकी पूजामें है; यदि तुझे उन जिनपादपद्मोंकी भक्ति हो, तो वे बहुविध भोग तुझे (अपने आप) होंगे।२९।

गाथा १८

अन्वयार्थः—[आत्मा] आत्मा [पुद्गलकर्मणः] पुद्गलकर्मका [कर्ता-भोक्ता] कर्ता–भोक्ता [व्यवहारात्] व्यवहारसे [भवति] है [तु] और [आत्मा] आत्मा [कर्मजभावेन] कर्मजनित भावका [कर्ता-भोक्ता] कर्ता–भोक्ता [निश्चयतः] (अशुद्ध) निश्चयसे है।

टीकाः—यह, कर्तृत्व–भोक्तृत्वके प्रकारका कथन है।

आत्मा निकटवर्ती अनुपचरित असद्भूत व्यवहारनयसे द्रव्यकर्मका कर्ता और उसके फलरूप सुखदुःखका भोक्ता है; अशुद्ध निश्चयनयसे समस्त मोहरागद्वेषादि भावकर्मका कर्ता और भोक्ता है, अनुपचरित असद्भूत व्यवहारसे (देहादि) नोकर्मका कर्ता है, उपचरित असद्भूत व्यवहारसे घट–पट–शकटादिका (घड़ा, वस्त्र, छकड़ा इत्यादिका) कर्ता है। ऐसा अशुद्ध जीवका स्वरूप कहा।

(अनुष्टुभ्)

भावकर्मनिरोधेन द्रव्यकर्मनिरोधनम् ।
द्रव्यकर्मनिरोधेन संसारस्य निरोधनम् ॥३१॥

(वसंततिलका)

संज्ञानभावपरिमुक्तविमुग्धजीवः
कुर्वन् शुभाशुभमनेकविधं स कर्म ।
निर्मुक्तिमार्गमणुमप्यभिवांछितुं नो
जानाति तस्य शरणं न समस्ति लोके ॥३२॥

(वसंततिलका)

यः कर्मशर्मनिकरं परिहृत्य सर्वं
निःकर्मशर्मनिकरामृतवारिपूरे ।
मज्जन्तमत्यधिकचिन्मयमेकरूपं
स्वं भावमद्वयममुं समुपैति भव्यः ॥३३॥

[अब १८ वीं गाथाकी टीका पूर्ण करते हुए टीकाकार मुनिराज छह श्लोक कहते है :]

[श्लोकार्थः—] सकल मोहरागद्वेषवाला जो कोई पुरुष परम गुरुके चरण-कमलयुगलकी सेवाके प्रसादसे निर्विकल्प सहज समयसारको जानता है, वह पुरुष परम-श्रीरूपी सुन्दरीका प्रिय कान्त होता है ।३०।

[श्लोकार्थः—] भावकर्मके निरोधसे द्रव्यकर्मका निरोध होता है; द्रव्यकर्मके निरोधसे संसारका निरोध होता है ।३१।

[श्लोकार्थः—] जो जीव सम्यग्ज्ञानभावरहित विमुग्ध (मोही, भ्रान्त) है, वह जीव शुभाशुभ अनेकविध कर्मको करता हुआ मोक्षमार्गको लेशमात्र भी वांछना नहीं जानता; उसे लोकमें (कोई) शरण नहीं है ।३२।

[श्लोकार्थः—] जो समस्त कर्मजनित सुखसमूहको परिहरण करता है, वह भव्य पुरुष निष्कर्म सुखसमूहरूपी अमृतके सरोवरमें मग्न होते हुए ऐसे इस अतिशय-चैतन्यमय, एकरूप, अद्वितीय निज भावको प्राप्त होता है ।३३।

(मालिनी)

असति सति विभावे तस्य चिंतास्ति नो नः
सततमनुभवामः शुद्धमात्मानमेकम् ।
हृदयकमलसंस्थं सर्वकर्मप्रमुक्तं
न खलु न खलु मुक्तिर्नान्यथास्त्यस्ति तस्मात् ॥३४॥

(मालिनी)

भविनि भवगुणाः स्युः सिद्धजीवेपि नित्यं
निजपरमगुणाः स्युः सिध्धिसिध्धाः समस्ताः ।
व्यवहरणनयोऽयं निश्चयान्नैव सिद्धि-
र्न च भवति भवो वा निर्णयोऽयं बुधानाम् ॥३५॥

दव्वत्थिएण जीवा वदिरित्ता पुव्वभणिदपज्जाया ।
पज्जयणएण जीवा संजुत्ता होंति दुविहेहिं ॥१६॥

द्रव्यार्थिकेन जीवा व्यतिरिक्ताः पूर्वभणितपर्यायात् ।
पर्यायनयेन जीवाः संयुक्ता भवन्ति द्वाभ्याम् ॥१९॥

[श्लोकार्थः—] (हमारे आत्मस्वभावमें) विभाव असत् होनेसे उसकी हमें चिन्ता नहीं है; हम तो हृदयकमलमें स्थित सर्व कर्मसे विमुक्त, शुद्ध आत्माका एकका सतत अनुभवन करते हैं, क्योंकि अन्य किसी प्रकारसे मुक्ति नहीं है, नहीं है ।३४।

[श्लोकार्थः—] संसारीमें सांसारिक गुण होते हैं और सिद्ध जीवमें सदा समस्त सिद्धिसिद्ध (मोक्षसे सिद्ध अर्थात् परिपूर्ण हुए) निज परमगुण होते हैं—इस-प्रकार व्यवहारनय है । निश्चयसे तो सिद्ध भी नहीं है और संसार भी नहीं है । यह बुध पुरुषोंका निर्णय है ।३५।

गाथा १९

अन्वयार्थः—[द्रव्यार्थिकेन] द्रव्यार्थिक नयसे [जीवाः] जीव [पूर्वभणित-

---

है उक्त पर्ययशून्य आत्मा द्रव्य-दृष्टिसे सदा ।
है उक्त पर्यायों सहित पर्याय-नयसे वह कहा ॥१९॥

इह हि नयद्वयस्य सफलत्वमुक्तम् ।

द्वौ हि नयौ भगवदर्हत्परमेश्वरेण प्रोक्तौ, द्रव्यार्थिकः पर्यायार्थिकश्चेति । द्रव्यमेवार्थः प्रयोजनमस्येति द्रव्यार्थिकः । पर्याय एवार्थः प्रयोजनमस्येति पर्यायार्थिकः । न खलु एकनयायत्तोपदेशो ग्राह्यः, किन्तु तदुभयनयायत्तोपदेशः । सत्ताग्राहकशुद्धद्रव्यार्थिकनयबलेन पूर्वोक्तव्यंजनपर्यायेभ्यः सकाशान्मुक्तामुक्तसमस्तजीवराशयः सर्वथा व्यतिरिक्ता एव । कुतः ? "सव्वे सुद्धा हु सुद्धणया" इति वचनात् । विभावव्यंजनपर्यायार्थिकनयबलेन ते सर्वे जीवास्संयुक्ता भवन्ति । किंच सिद्धानामर्थपर्यायैः सह परिणतिः, न पुनर्व्यंजनपर्यायैः सहपरिणतिरिति । कुतः ? सदा निरंजनत्वात् । सिद्धानां सदा निरंजनत्वे सति तर्हि द्रव्यार्थिकपर्यायार्थिकनयाभ्याम् द्वाभ्याम् संयुक्ताः सर्वे जीवा इति सूत्रार्थो व्यर्थः । निगमो विकल्पः, तत्र भवो नैगमः । स च

पर्यायात्] पूर्वकथित पर्यायसे [व्यतिरिक्ताः] *व्यतिरिक्त है; [पर्यायनयेन] पर्यायनयसे [जीवाः] जीव [संयुक्ताः भवन्ति] उस पर्यायसे संयुक्त हैं । [द्वाभ्याम्] इसप्रकार जीव दोनों नयोंसे संयुक्त हैं ।

टीकाः—यहाँ दोनों नयोंका सफलपना कहा है ।

भगवान अर्हत् परमेश्वरने दो नय कहे हैं : द्रव्यार्थिक और पर्यायार्थिक । द्रव्य ही जिसका अर्थ अर्थात् प्रयोजन है वह द्रव्यार्थिक है और पर्याय ही जिसका अर्थ अर्थात् प्रयोजन है वह पर्यायार्थिक है । एक नयका अवलम्बन लेता हुआ उपदेश ग्रहण करनेयोग्य नहीं है किन्तु उन दोनों नयोंका अवलम्बन लेता हुआ उपदेश ग्रहण करनेयोग्य है । सत्ताग्राहक (—द्रव्यकी सत्ताको ही ग्रहण करनेवाले) शुद्ध द्रव्यार्थिक नयके बलसे पूर्वोक्त व्यंजनपर्यायोंसे मुक्त तथा अमुक्त (—सिद्ध तथा संसारी समस्त जीवराशि सर्वथा व्यतिरिक्त ही है । क्यों ? "सव्वे सुद्धा हु सुद्धणया (शुद्धनयसे सर्व जीव वास्तवमें शुद्ध हैं)" ऐसा (शास्त्रका) वचन होनेसे । विभावव्यंजनपर्यायार्थिक नयके बलसे वे सर्व जीव (पूर्वोक्त व्यंजनपर्यायोंसे) संयुक्त हैं । विशेष इतना कि—सिद्ध जीवोंके अर्थपर्यायों सहित परिणति है, परन्तु व्यंजनपर्यायों सहित परिणति नहीं है । क्यों ? सिद्ध जीव सदा निरंजन होनेसे । (प्रश्नः—) यदि सिद्ध जीव सदा निरंजन हैं तो सर्व जीव द्रव्यार्थिक तथा पर्यायार्थिक दोनों नयोंसे संयुक्त हैं (अर्थात् सर्व जीवोंको दोनों नय लागू होते हैं) ऐसा सूत्रार्थ (गाथाका अर्थ) व्यर्थ सिद्ध होता है । (उत्तरः—व्यर्थ सिद्ध नहीं

---

* व्यतिरिक्त=भिन्न; रहित; शून्य ।

नैगमनयस्तावत् त्रिविधः, भूतनैगमः वर्तमाननैगमः भाविनैगमश्चेति । अत्र भूतनैगमनयापेक्षया भगवतां सिद्धानामपि व्यंजनपर्यायत्वमशुद्धत्वं च संभवति । पूर्वकाले ते भगवन्तः संसारिण इति व्यवहारात् । किं बहुना, सर्वे जीवा नयद्वयबलेन शुद्धाशुद्धा इत्यर्थः ।

तथा चोक्तं श्रीमदमृतचन्द्रसूरिभिः—

(मालिनी)

"उभयनयविरोधध्वंसिनि स्यात्पदांके
जिनवचसि रमंते ये स्वयं वांतमोहाः ।
सपदि समयसारं ते परं ज्योतिरुच्चै-
रनवमनयपक्षाक्षुण्णमीक्षन्त एव ॥"

होता क्योंकि–) निगम अर्थात् विकल्प; उसमें हो वह *नैगम । वह नैगमनय तीन प्रकारका है : भूत नैगम, वर्तमान नैगम और भावी नैगम । यहाँ भूतनैगमनयकी अपेक्षासे भगवन्त सिद्धोंको भी व्यंजनपर्यायवानपना और अशुद्धपना सम्भवित होता है, क्योंकि पूर्वकालमें वे भगवन्त संसारी थे ऐसा व्यवहार है । बहु कथनसे क्या ? सर्व जीव दो नयोंके बलसे शुद्ध तथा अशुद्ध हैं ऐसा अर्थ है ।

इसीप्रकार (आचार्यदेव) श्रीमद्अमृतचन्द्रसूरिने (श्री समयसारकी आत्मख्याति नामक टीकामें चौथे श्लोक द्वारा) कहा है कि:—

"[श्लोकार्थ:—] दोनों नयोंके विरोधको नष्ट करनेवाले, स्यात्पदसे अंकित जिनवचनमें जो पुरुष रमते हैं, वे स्वयमेव मोहको वमन करके, अनूतन (–अनादि) और कुनयके पक्षसे खण्डित न होनेवाली ऐसी उत्तम परमज्योतिको—समयसारको— शीघ्र देखते ही हैं ।"

और (इस जीव अधिकारकी अन्तिम गाथाकी टीका पूर्ण करते हुए टीकाकार मुनिराज श्री पद्मप्रभमलधारिदेव श्लोक कहते हैं:—)

---

* जो भूतकालकी पर्यायको वर्तमानवत् संकल्पित करे (अथवा कहे), भविष्यकालकी पर्यायको वर्तमानवत् संकल्पित करे (अथवा कहे), अथवा किञ्चित् निष्पन्नतायुक्त और किञ्चित् अनिष्पन्नतायुक्त वर्तमान पर्यायको सर्वनिष्पन्नवत् संकल्पित करे (अथवा कहे), उस ज्ञानको (अथवा वचनको) नैगमनय कहते हैं ।

तथाहि—

(मालिनी)

अथ नययुगयुक्तिं लंघयन्तो न संतः
परमजिनपदाब्जद्वन्द्वमत्तद्विरेफाः ।
सपदि समयसारं ते ध्रुवं प्राप्नुवन्ति
क्षितिषु परमतोक्तेः किं फलं सज्जनानाम् ।।३६।।

इति सुकविजनपयोजमित्रपंचेन्द्रियप्रसरवर्जितगात्रमात्रपरिग्रहश्रीपद्मप्रभमलधारिदेव-विरचितायां नियमसारव्याख्यायां तात्पर्यवृत्तौ जीवाधिकारः प्रथमश्रुतस्कन्धः ।।

[श्लोकार्थः—] जो दो नयोंके सम्बन्धका उल्लंघन न करते हुए परमजिनके पादपंकजयुगलमें मत्त हुए भ्रमर समान हैं ऐसे जो सत्पुरुष वे शीघ्र समयसारको अवश्य प्राप्त करते हैं। पृथ्वीपर पर मतके कथनसे सज्जनोंको क्या फल है (अर्थात् जगतमें जैनेतर दर्शनोंके मिथ्या कथनोंसे सज्जनोंको क्या लाभ है) ? ।३६।

इसप्रकार, सुकविजनरूपी कमलोंके लिये जो सूर्य समान हैं और पाँच इन्द्रियोंके फैलाव रहित देहमात्र जिनको परिग्रह था ऐसे श्री पद्मप्रभमलधारिदेव द्वारा रचित नियमसारकी तात्पर्यवृत्ति नामक टीकामें (अर्थात् श्रीमद् भगवत्कुन्दकुन्दाचार्यदेवप्रणीत श्री नियमसार परमागमकी निर्ग्रन्थ मुनिराज श्री पद्मप्रभमलधारिदेव विरचित तात्पर्यवृत्ति नामक टीकामें) जीव अधिकार नामका प्रथम श्रुतस्कन्ध समाप्त हुआ।



– २ –

अजीव अधिकारः

अथेदानीमजीवाधिकार उच्यते ।

अणुखंधवियप्पेण दु पोग्गलदव्वं हवेइ दुवियप्पं ।
खंधा हु छप्पयारा परमाणू चेव दुवियप्पो ॥२०॥

अणुस्कन्ध विकल्पेन तु पुद्गलद्रव्यं भवति द्विविकल्पम् ।
स्कन्धाः खलु षट्प्रकाराः परमाणुश्चैव द्विविकल्पः ॥२०॥

पुद्गलद्रव्यविकल्पोपन्यासोऽयम् ।

पुद्गलद्रव्यं तावद् विकल्पद्वयसनाथम्, स्वभावपुद्गलो विभावपुद्गलश्चेति । तत्र स्वभाव-

---

अब अजीव अधिकार कहा जाता है ।

गाथा २०

अन्वयार्थः—[अणुस्कन्धविकल्पेन तु] परमाणु और स्कन्ध ऐसे दो भेदसे [पुद्गलद्रव्यं] पुद्‌गलद्रव्य [द्विविकल्पम् भवति] दो भेदवाला है; [स्कन्धाः] स्कन्ध [खलु] वास्तवमें [षट्प्रकाराः] छह प्रकारके हैं [परमाणुः च एव द्विविकल्पः] और परमाणुके दो भेद हैं ।

टीकाः—यह, पुद्‌गलद्रव्यके भेदोंका कथन है ।

प्रथम तो पुद्‌गलद्रव्यके दो भेद हैं : स्वभावपुद्‌गल और विभावपुद्‌गल । उनमें,

---

परमाणु एवं स्कन्ध हैं दो भेद पुद्गलद्रव्यके ।
है स्कन्ध छै विधि और विविध विकल्प है परमाणुके ॥२०॥

पुद्गलः परमाणुः, विभावपुद्गलः स्कन्धः। कार्यपरमाणुः कारणपरमाणुरिति स्वभावपुद्गलो द्विधा भवति। स्कन्धाः षट्प्रकाराः स्युः, पृथ्वीजलच्छायाचतुरक्षविषयकर्मप्रायोग्याप्रायोग्यभेदाः। तेषां भेदो वक्ष्यमाणसूत्रेषूच्यते विस्तरेणेति।

(अनुष्टुभ्)

गलनादणुरित्युक्तः पूरणात्स्कन्धनामभाक्।
विनानेन पदार्थेन लोकयात्रा न वर्तते ॥३७॥

अइथूलथूल थूलं थूलसुहुमं च सुहुमथूलं च।
सुहुमं अइसुहुमं इदि धरादियं होदि छब्भेयं ॥२१॥
भूपव्वदमादीया भणिदा अइथूलथूलमिदि खंधा।
थूला इदि विण्णेया सप्पीजलतेल्लमादीया ॥२२॥

परमाणु वह स्वभावपुद्गल है और स्कन्ध वह विभावपुद्गल है। स्वभावपुद्गल कार्य-परमाणु और कारणपरमाणु ऐसे दो प्रकारका है। स्कन्धोंके छह प्रकार हैं: (१) पृथ्वी, (२) जल, (३) छाया, (४) (चक्षुके अतिरिक्त) चार इन्द्रियोंके विषयभूत स्कन्ध, (५) कर्मयोग्य स्कन्ध और (६) कर्मको अयोग्य स्कन्ध—ऐसे छह भेद हैं। स्कन्धोंके भेद अब कहे जानेवाले सूत्रोंमें (अगली चार गाथाओंमें) विस्तारसे कहे जायेंगे।

[अब, २०वीं गाथाकी टीका पूर्ण करते हुए टीकाकार मुनिराज श्री पद्मप्रभमलधारिदेव श्लोक कहते हैं:]

[श्लोकार्थः—] (पुद्गलपदार्थ) गलन द्वारा (अर्थात् भिन्न हो जानेसे) "परमाणु" कहलाता है और पूरण द्वारा (अर्थात् संयुक्त होनेसे) 'स्कन्ध' नामको प्राप्त होता । इस पदार्थके विना लोकयात्रा नहीं हो सकती।३७।

अतिस्थूलस्थूल रु स्थूल–सूक्ष्म, सूक्ष्म–स्थूल रु सूक्ष्म ये।
अतिसूक्ष्म, यों छै भेद पृथ्वी आदि पुद्गलस्कन्धके ॥२१॥
भू, भूमिधर इत्यादि ये अतिस्थूल स्कन्ध प्रमानिये।
घृत, तैल, जल इत्यादि इनको स्थूल स्कन्ध सु जानिये ॥२२॥

छायातवमादीया थूलेदरखंधमिदि वियाणाहि ।
सुहुमथूलेदि भणिया खंधा चउरक्खविसया य ॥२३॥
सुहुमा हवंति खंधा पाओग्गा कम्मवग्गणस्स पुणो ।
तव्विवरीया खंधा अइसुहुमा इदि परूवेंति ॥२४॥

अतिस्थूलस्थूलाः स्थूलाः स्थूलसूक्ष्माश्च सूक्ष्मस्थूलाश्च ।
सूक्ष्मा अतिसूक्ष्मा इति धरादयो भवन्ति षड्भेदाः ॥२१॥
भूपर्वताद्या भणिता अतिस्थूलस्थूलाः इति स्कन्धाः ।
स्थूला इति विज्ञेयाः सर्प्पिर्जलतैलाद्याः ॥२२॥
छायातपाद्याः स्थूलेतरस्कन्धा इति विजानीहि ।
सूक्ष्मस्थूला इति भणिताः स्कन्धाश्चतुरक्षविषयाश्च ॥२३॥
सूक्ष्मा भवन्ति स्कन्धाः प्रायोग्याः कर्मवर्गणस्य पुनः ।
तद्विपरीताः स्कन्धाः अतिसूक्ष्मा इति प्ररूपयन्ति ॥२४॥

गाथा २१-२४

अन्वयार्थः—[अतिस्थूलस्थूलाः] अतिस्थूलस्थूल, [स्थूलाः] स्थूल, [स्थूलसूक्ष्माः च] स्थूलसूक्ष्म, [सूक्ष्मस्थूलाः च] सूक्ष्मस्थूल, [सूक्ष्माः] सूक्ष्म और [अतिसूक्ष्माः] अतिसूक्ष्म [इति] ऐसे [धरादयः षट्भेदाः भवन्ति] पृथ्वी आदि स्कन्धोंके छह भेद हैं ।

[भूपर्वताद्याः] भूमि, पर्वत आदि [अतिस्थूलस्थूलाः इति स्कन्धाः] अतिस्थूलस्थूल स्कन्ध [भणिताः] कहे गये हैं; [सर्प्पिर्जलतैलाद्याः] घी, जल, तेल आदि [स्थूलाः इति विज्ञेयाः] स्थूल स्कन्ध जानना ।

आताप, छाया स्थूलसूक्ष्म स्कन्ध निश्चय कीजिये ।
अरु स्कन्ध सूक्ष्मस्थूल चारों अक्षसे गहि लीजिये ॥२३॥
कार्माणवर्गण योग्य पञ्चम स्कन्ध सूक्ष्म स्कन्ध है ।
विपरीत जो इस योग्य नहिं अतिसूक्ष्म पुद्गल स्कन्ध है ॥२४॥

विभावपुद्गलस्वरूपाख्यानमेतत् ।

अतिस्थूलस्थूला हि ते खलु पुद्गलाः सुमेरुकुम्भिनीप्रभृतयः । घृततैलतक्रक्षीरजलप्रभृतिसमस्तद्रव्याणि हि स्थूलपुद्गलाश्च । छायातपतमःप्रभृतयः स्थूलसूक्ष्मपुद्गलाः । स्पर्शनरसनघ्राणश्रोत्रेन्द्रियाणां विषयाः सूक्ष्मस्थूलपुद्गलाः शब्दस्पर्शरसगन्धाः । शुभाशुभपरिणामद्वारेणागच्छतां शुभाशुभकर्मणां योग्याः सूक्ष्मपुद्गलाः । एतेषां विपरीताः सूक्ष्मसूक्ष्मपुद्गलाः कर्मणामप्रायोग्या इत्यर्थः । अयं विभावपुद्गलक्रमः ।

[छायातपाद्याः] छाया, आतप (धूप) आदि [स्थूलेतरस्कन्धाः इति] स्थूलसूक्ष्म स्कन्ध [विजानीहि] जान [च] और [चतुरक्षविषयाः स्कन्धाः] चार इन्द्रियोंके विषयभूत स्कन्धोंको [सूक्ष्मस्थूलाः इति] सूक्ष्मस्थूल [भणिताः] कहा गया है ।

[पुनः] और [कर्मवर्गणस्य प्रायोग्याः] कर्मवर्गणाके योग्य [स्कन्धाः] स्कन्ध [सूक्ष्माः भवन्ति] सूक्ष्म हैं; [तद्विपरीताः] उनसे विपरीत (अर्थात् कर्मवर्गणाको अयोग्य) [स्कन्धाः] स्कन्ध [अतिसूक्ष्माः इति] अतिसूक्ष्म [प्ररूपयन्ति] कहे जाते हैं ।

टीकाः—यह, विभावपुद्गलके स्वरूपका कथन है ।

सुमेरु, पृथ्वी आदि (घन पदार्थ) वास्तवमें अतिस्थूलस्थूल पुद्गल हैं । घी, तेल, मट्ठा, दूध, जल आदि समस्त (प्रवाही) पदार्थ स्थूल पुद्गल हैं । छाया, आतप, अंधकारादि स्थूलसूक्ष्म पुद्गल हैं । स्पर्शनेन्द्रिय, रसनेन्द्रिय, घ्राणेन्द्रिय तथा श्रोत्रेन्द्रियके विषय—स्पर्श, रस, गंध और शब्द—सूक्ष्मस्थूल पुद्गल हैं । शुभाशुभ परिणाम द्वारा आनेवाले ऐसे शुभाशुभ कर्मोंको योग्य (स्कन्ध) वे सूक्ष्म पुद्गल हैं । उनसे विपरीत अर्थात् कर्मोंको अयोग्य (स्कन्ध) वे सूक्ष्म सूक्ष्म पुद्गल हैं ।—ऐसा (इन गाथाओंका) अर्थ है । यह विभावपुद्गलका क्रम है ।

[भावार्थः—स्कन्ध छह प्रकारके हैं : (१) काष्ठपाषाणादिक जो स्कन्ध छेदन किये जाने पर स्वयमेव जुड़ नहीं सकते वे स्कन्ध अतिस्थूलस्थूल हैं । (२) दूध, जल आदि जो स्कन्ध छेदन किये जाने पर पुनः स्वयमेव जुड़ जाते हैं वे स्कन्ध स्थूल हैं । (३) धूप, छाया, चाँदनी, अंधकार इत्यादि जो स्कन्ध स्थूल ज्ञात होने पर भी भेदे नहीं जासकते या हस्तादिकसे ग्रहण नहीं किये जासकते वे स्कन्ध स्थूलसूक्ष्म हैं । (४) आँखसे न दिखनेवाले ऐसे जो चार इन्द्रियोंके विषयभूत स्कन्ध सूक्ष्म होने पर भी स्थूल ज्ञात होते हैं (—स्पर्शनेन्द्रियसे स्पर्श किये जा सकते हैं, जीभसे आस्वादन किये जा सकते

तथा चोक्तं पंचास्तिकायसमये—

"पुढवी जलं च छाया चउरिंदियविसयकम्मपाओग्गा ।
कम्मातीदा एवं छब्भेया पोग्गला होंति ॥"

उक्तं च मार्गप्रकाशे—

(अनुष्टुभ्)

"स्थूलस्थूलास्ततः स्थूलाः स्थूलसूक्ष्मास्ततः परे ।
सूक्ष्मस्थूलास्ततः सूक्ष्माः सूक्ष्मसूक्ष्मास्ततः परे ॥"

तथा चोक्तं श्रीमदमृतचन्द्रसूरिभिः—

(वसंततिलका)

"अस्मिन्ननादिनि महत्यविवेकनाटचे
वर्णादिमान् नटति पुद्गल एव नान्यः ।
रागादिपुद्गलविकारविरुद्धशुद्ध-
चैतन्यधातुमयमूर्तिरयं च जीवः ॥"

हैं, नाकसे सूंघे जासकते हैं अथवा कानसे सुने जासकते हैं) वे स्कन्ध सूक्ष्मस्थूल हैं। (५) इन्द्रियज्ञानको अगोचर ऐसे जो कर्मवर्गणारूप स्कन्ध वे स्कन्ध सूक्ष्म हैं। (६) कर्मवर्गणासे नीचेके (कर्मवर्गणातीत) जो अत्यन्त सूक्ष्म द्वि-अणुकपर्यंत स्कन्ध वे स्कन्ध सूक्ष्मसूक्ष्म हैं।]

इसीप्रकार (श्रीमद्‌भगवत्कुन्दकुन्दाचार्यदेवप्रणीत) श्री पंचास्तिकायसमयमें (❀गाथा द्वारा) कहा है कि:—

"[गाथार्थ:—] पृथ्वी, जल, छाया, चार इन्द्रियोंके विषयभूत, कर्मके योग्य और कर्मातीत—इसप्रकार पुद्‌गल (स्कन्ध) छह प्रकारके हैं।"

और मार्गप्रकाशमें (श्लोकद्वारा) कहा है कि:—

"[श्लोकार्थ:—] स्थूलस्थूल, पश्चात् स्थूल, तत्पश्चात् स्थूलसूक्ष्म, पश्चात् सूक्ष्मस्थूल, पश्चात् सूक्ष्म और तत्पश्चात् सूक्ष्मसूक्ष्म (—इसप्रकार स्कन्ध छह प्रकारके हैं)।"

❀ देखो, श्री परमश्रुतप्रभावकमण्डल द्वारा प्रकाशित पंचास्तिकाय, द्वितीय संस्करण, पृष्ठ—१३० ।

तथा हि—

(मालिनी)

इति विविधविकल्पे पुद्गले दृश्यमाने
न च कुरु रतिभावं भव्यशार्दूल तस्मिन् ।
कुरु रतिमतुलां त्वं चिच्चमत्कारमात्रे
भवसि हि परमश्रीकामिनीकामरूपः ॥३८॥

धाउचउक्कस्स पुणो जं हेऊ कारणं ति तं णेयो ।
खंधाणं अवसाणं णादव्वो कज्जपरमाणु ॥२५॥

धातुचतुष्कस्य पुनः यो हेतुः कारणमिति स ज्ञेयः ।
स्कन्धानामवसानो ज्ञातव्यः कार्यपरमाणुः ॥२५॥

इसप्रकार (आचार्यदेव) श्रीमद् अमृतचन्द्रसूरिने (श्री समयसारकी आत्मख्याति नामक टीकामें ४४ वें श्लोक द्वारा) कहा है कि:—

"[श्लोकार्थ:—] इस अनादिकालीन महा अविवेकके नाटकमें अथवा नाचमें वर्णादिमान् पुद्गल ही नाचता है, अन्य कोई नहीं; (अभेद ज्ञानमें पुद्गल ही अनेक प्रकारका दिखाई देता है; जीव तो अनेक प्रकारका है नहीं;) और यह जीव तो रागादिक पुद्गलविकारोंसे विलक्षण, शुद्ध चैतन्यधातुमय मूर्ति है ।"

और (इन गाथाओंकी टीका पूर्ण करते हुए टीकाकार मुनिराज श्री पद्मप्रभमलधारिदेव विविध प्रकारके पुद्गलोंमें रति न करके चैतन्यचमत्कारमात्र आत्मामें रति करना श्लोकद्वारा कहते हैं):—

[श्लोकार्थ:—] इसप्रकार विविध भेदोंवाला पुद्गल दिखाई देनेसे, हे भव्यशार्दूल ! (भव्योत्तम !) तू उसमें रतिभाव न कर । चैतन्यचमत्कारमात्रमें (अर्थात् चैतन्यचमत्कारमात्र आत्मामें) तू अतुल रति कर कि जिससे तू परमश्रीरूपी कामिनीका वल्लभ होगा ।३८।

गाथा २५

अन्वयार्थ:—[पुनः] फिर [यः] जो [धातुचतुष्कस्य] (पृथ्वी, जल, तेज

जो हेतु धातु चतुष्कका कारण-अणु विख्यात है ।
अरु स्कन्धके अवसानमें कार्याणु होता प्राप्त है ॥२५॥

कारणकार्यपरमाणुद्रव्यस्वरूपाख्यानमेतत् ।

पृथिव्यप्तेजोवायवो धातवश्चत्वारः तेषां यो हेतुः स कारणपरमाणुः । स एव जघन्यपरमाणुः स्निग्धरूक्षगुणानामानन्त्याभावात् समविषमबंधयोरयोग्य इत्यर्थः । स्निग्धरूक्षगुणानामनन्तत्वस्योपरि द्वाभ्याम् चतुर्भिः समबन्धः त्रिभिः पंचभिर्विषमबन्धः । अयमुत्कृष्टपरमाणुः । गलतां पुद्गलद्रव्याणाम् अन्तोऽवसानस्तस्मिन् स्थितो यः स कार्यपरमाणुः । अणवश्चतुर्भेदाः कार्यकारणजघन्योत्कृष्टभेदैः तस्य परमाणुद्रव्यस्य स्वरूपस्थितत्वात् विभावाभावात् परमस्वभाव इति ।

तथा चोक्तं प्रवचनसारे—

और वायु—इन) चार धातुओंका [हेतुः] हेतु है, [सः] वह [कारणम् इति ज्ञेयः] कारणपरमाणु जानना; [स्कन्धानाम्] स्कन्धोंके [अवसानः] अवसानको (–पृथक् हुए अविभागी अन्तिम अंशको) [कार्यपरमाणुः] कार्यपरमाणु [ज्ञातव्यः] जानना ।

टीकाः—यह, कारणपरमाणुद्रव्य और कार्यपरमाणुद्रव्यके स्वरूपका कथन है ।

पृथ्वी, जल, तेज और वायु यह चार धातुएँ हैं; उनका जो हेतु है वह कारणपरमाणु है । वही (परमाणु), एक गुण स्निग्धता या रूक्षता होनेसे, सम या विषम बन्धको अयोग्य ऐसा जघन्य परमाणु है—ऐसा अर्थ है । एक गुण स्निग्धता या रूक्षताके ऊपर, दो गुणवालेका और चार गुणवालेका *समबन्ध होता है तथा तीन गुणवालेका और पाँच गुणवालेका *विषमबन्ध होता है,—यह उत्कृष्ट परमाणु है । गलते अर्थात् पृथक् होते पुद्गलद्रव्योंके अन्तमें—अवसानमें (अन्तिम दशामें) स्थित वह कार्यपरमाणु है (अर्थात् स्कन्ध खण्डित होते–होते जो छोटेसे छोटा अविभाग भाग रहता है वह कार्यपरमाणु है) । (इसप्रकार) अणुओंके (–परमाणुओंके) चार भेद हैं : कार्य, कारण, जघन्य और उत्कृष्ट । वह परमाणुद्रव्य स्वरूपमें स्थित होनेसे उसे विभावका अभाव है, इसलिये (उसे) परम स्वभाव है ।

इसीप्रकार (श्रीमद्‌भगवत्कुन्दकुन्दाचार्यदेवप्रणीत) श्री प्रवचनसारमें (१६५वीं तथा १६६वीं गाथा द्वारा) कहा है कि:—

---

* समबन्ध अर्थात् सम संख्याके गुणवाले परमाणुओंका बन्ध और विषमबन्ध अर्थात् विषम संख्याके गुणवाले परमाणुओंका बन्ध । यहाँ (टीकामें) समबन्ध और विषमबन्धका एक–एक उदाहरण दिया है तदनुसार समस्त समबन्ध और विषमबन्ध समझ लेना ।

"णिद्धा वा लुक्खा वा अणुपरिणामा समा व विसमा वा ।
समदो दुराधिगा जदि वज्झन्ति हि आदिपरिहीणा ॥
णिद्धत्तणेण दुगुणो चदुगुणणिद्धेण बन्धमणुभवदि ।
लुक्खेण वा तिगुणिदो अणु वज्झदि पंचगुणजुत्तो ॥"

तथा हि—

(अनुष्टुभ्)

स्कन्धैस्तैः षट्प्रकारैः किं चतुर्भिरणुभिर्मम ।
आत्मानमक्षयं शुद्धं भावयामि मुहुर्मुहुः ॥३९॥

अत्तादि अत्तमज्झं अत्तंतं णेव इंदियग्गेज्झं ।
अविभागी जं दव्वं परमाणू तं वियाणाहि ॥२६॥

आत्माद्यात्ममध्यमात्मान्तं नैवेन्द्रियैर्ग्राह्यम् ।
अविभागि यद्द्रव्यं परमाणुं तद् विजानीहि ॥२६॥

"[गाथार्थः—] परमाणुके-परिणाम स्निग्ध हों या रूक्ष हों, सम अंशवाले हों या विषम अंशवाले हों, यदि समान की अपेक्षा दो अधिक अंशवाले हों तो बँधते हैं; जघन्य अंशवाला नहीं बँधता ।

स्निग्धरूपसे दो अंशवाला परमाणु चार अंशवाले स्निग्ध (अथवा रूक्ष) परमाणुके साथ बन्धका अनुभव करता है; अथवा रूक्षतासे तीन अंशवाला परमाणु पाँच अंशवालेके साथ जुड़ा हुआ बँधता है ।"

और (२५वीं गाथाकी टीका पूर्ण करते हुए टीकाकार मुनिराज श्लोक द्वारा पुद्गलकी उपेक्षा करके शुद्ध आत्माकी भावना करते हैं):—

[श्लोकार्थः—] उन छह प्रकारके स्कन्धों या चार प्रकारके अणुओंके साथ मुझे क्या है ? मैं तो अक्षय शुद्ध आत्माको पुनः पुनः भाता हूँ ।३९।

गाथा २६

अन्वयार्थः—[आत्मादि] स्वयं ही जिसका आदि है, [आत्ममध्यम्]

जो आदिमें भी आप है मध्यान्तमें भी आप ही ।
अविभाग, इन्द्रिय ग्राह्य नाहिं, परमाणु सत् जानो वही ॥२६॥

परमाणुविशेषोक्तिरियम् ।

यथा जीवानां नित्यानित्यनिगोदादिसिद्धक्षेत्रपर्यन्त स्थितानां सहजपरमपारिणामिकभावविवक्षासमाश्रयेण सहजनिश्चयनयेन स्वस्वरूपादप्रच्यवनत्वमुक्तम्, तथा परमाणुद्रव्याणां पञ्चमभावेन परमस्वभावत्वादात्मपरिणतेरात्मैवादिः, मध्यो हि आत्मपरिणतेरात्मैव, अंतोपि स्वस्यात्मैव परमाणुः । अतः न चेन्द्रियज्ञानगोचरत्वाद् अनिलानलादिभिरविनश्वरत्वादविभागी हे शिष्य स परमाणुरिति त्वं तं जानीहि ।

(अनुष्टुभ्)

अप्यात्मनि स्थितिं बुद्ध्वा पुद्गलस्य जडात्मनः ।
सिद्धास्ते किं न तिष्ठंति स्वस्वरूपे चिदात्मनि ॥४०॥

स्वयं ही जिसका मध्य है और [आत्मान्तम्] स्वयं ही जिसका अन्त है (अर्थात् जिसके आदिमें, मध्यमें और अन्तमें परमाणुका निजस्वरूप ही है), [न एव इन्द्रियैःग्राह्यम्] जो इन्द्रियोंसे ग्राह्य (–जाननेमें आने योग्य) नहीं है और [यद् अविभागि] जो अविभागी है, [तत्] वह [परमाणुं द्रव्यं] परमाणुद्रव्य [विजानीहि] जान ।

टीकाः—यह, परमाणुका विशेष कथन है ।

जिसप्रकार सहज परम पारिणामिकभावकी विवक्षाका आश्रय करनेवाले सहज निश्चयनयकी अपेक्षासे नित्य और अनित्य निगोदसे लेकर सिद्धक्षेत्र पर्यन्त विद्यमान जीवोंका निज स्वरूपसे अच्युतपना कहा गया है, उसीप्रकार पंचमभावकी अपेक्षासे परमाणुद्रव्यका परमस्वभाव होनेसे परमाणु स्वयं ही अपनी परिणतिका आदि है, स्वयं ही अपनी परिणतिका मध्य है और स्वयं ही अपना अन्त भी है (अर्थात् आदिमें भी स्वयं ही, मध्यमें भी स्वयं ही और अन्तमें भी परमाणु स्वयं ही है, कभी निज स्वरूपसे च्युत नहीं है) । जो ऐसा होनेसे, इन्द्रियज्ञानगोचर न होनेसे और पवन, अग्नि इत्यादि द्वारा नाशको प्राप्त न होनेसे, अविभागी है उसे, हे शिष्य ! तू परमाणु जान ।

[अब २६ वीं गाथाकी टीका पूर्ण करते हुए टीकाकार मुनिराज श्लोक कहते हैं :]

[श्लोकार्थः—] जड़ात्मक पुद्गलकी स्थिति स्वयंमें (–पुद्गलमें ही) जानकर (अर्थात् जड़स्वरूप पुद्गल पुद्गलके निज स्वरूपमें ही रहते हैं ऐसा जानकर), वे सिद्धभगवन्त अपने चैतन्यात्मक स्वरूपमें क्यों नहीं रहेंगे ? (अवश्य रहेंगे) ।४०।

एयरसरूवगंधं दोफासं तं हवे सहावगुणं ।
विहावगुणमिदि भणिदं जिणसमये सव्वपयडत्तं ॥२७॥

एकरसरूपगंधः द्विस्पर्शः स भवेत्स्वभावगुणः ।
विभावगुण इति भणितो जिनसमये सर्वप्रकटत्वम् ॥२७॥

स्वभावपुद्गलस्वरूपाख्यानमेतत् ।

तिक्तकटुककषायाम्लमधुराभिधानेषु पंचसु रसेष्वेकरसः, श्वेतपीतहरितारुणकृष्णवर्णेष्वेकवर्णः, सुगन्धदुर्गन्धयोरेकगंधः, कर्कशमृदुगुरुलघुशीतोष्णस्निग्धरूक्षाभिधानामष्टानामन्त्यचतुःस्पर्शाविरोधस्पर्शनद्वयम्, एते परमाणोः स्वभावगुणाः जिनानां मते । विभावगुणात्मको विभावपुद्गलः । अस्य द्व्यणुकादिस्कन्धरूपस्य विभावगुणाः सकलकरणग्रामग्राह्या इत्यर्थः ।

गाथा २७

अन्वयार्थः—[एकरसरूपगंधः] जो एक रसवाला, एक वर्णवाला, एक गंधवाला और [द्विस्पर्शः] दो स्पर्शवाला हो, [सः] वह [स्वभावगुणः] स्वभावगुणवाला [भवेत्] है; [विभावगुणः] विभावगुणवालेको [जिनसमये] [1]जिनसमयमें [सर्वप्रकटत्वम्] सर्व प्रगट (सर्व इन्द्रियोंसे ग्राह्य) [इति भणितः] कहा है ।

टीकाः—यह, स्वभावपुद्‌गलके स्वरूपका कथन है ।

चरपरा, कड़वा, कषायला, खट्टा और मीठा इन पाँच रसोंमेंका एक रस; सफेद, पीला, हरा, लाल और काला इन (पाँच) वर्णोंमेंका एक वर्ण; सुगन्ध और दुर्गंधमेंकी एक गंध; कठोर, कोमल, भारी, हलका, शीत, उष्ण, स्निग्ध (चिकना) और रूक्ष (रूखा) इन आठ स्पर्शोंमेंसे अन्तिम चार स्पर्शोंमेंके अविरुद्ध दो स्पर्श; यह, जिनोंके मतमें परमाणुके स्वभावगुण हैं । विभावपुद्‌गल विभावगुणात्मक होता है । यह [2]द्वि–अणुकादिस्कन्धरूप विभावपुद्‌गलके विभावगुण सकल इन्द्रियसमूह द्वारा ग्राह्य (जाननेमें आने योग्य) हैं ।—ऐसा (इस गाथाका) अर्थ है ।

१-समय=सिद्धान्त; शास्त्र; शासन; दर्शन; मत ।

२-दो परमाणुओंसे लेकर अनन्त परमाणुओंका बना हुआ स्कन्ध वह विभावपुद्‌गल है ।

दो स्पर्श इक रस गंध वर्ण स्वभावगुणमय है वही ।
सर्वाक्षगम्य विभावगुणमयको प्रगट जिनवर कही ॥२७॥

तथा चोक्तं पंचास्तिकायसमये—

"एयरसवण्णगंधं दोफासं सद्दकारणमसद्दं ।
खंधंतरिदं दव्वं परमाणुं तं वियाणाहि ।।"

उक्तं च मार्गप्रकाशे—

(अनुष्टुभ्)

"वसुधान्त्यचतुःस्पर्शेषु चिन्त्यं स्पर्शनद्वयम् ।
वर्णो गन्धो रसश्चैकः परमाणोः न चेतरे ।।"

तथा हि—

(मालिनी)

अथ सति परमाणोरेकवर्णादिभास्वन्
निजगुणनिचयेऽस्मिन् नास्ति मे कार्यसिद्धिः ।
इति निजहृदि मत्वा शुद्धमात्मानमेकम्
परमसुखपदार्थी भावयेद्भव्यलोकः ।।४१।।

इसप्रकार (श्रीमद्भगवत्कुन्दकुन्दाचार्यदेवप्रणीत) श्री पंचास्तिकायसमयमें (८१ वीं गाथा द्वारा) कहा है किः—

"[गाथार्थः—] एक रसवाला, एक वर्णवाला, एक गंधवाला और दो स्पर्शवाला वह परमाणु शब्दका कारण है, अशब्द है और स्कन्धके भीतर हो तथापि द्रव्य है (अर्थात् सदैव सर्वसे भिन्न, शुद्ध एक द्रव्य है) ।"

और मार्गप्रकाशमें (श्लोक द्वारा) कहा है किः—

"[श्लोकार्थः—] परमाणुको आठ प्रकारके स्पर्शोंमें अन्तिम चार स्पर्शोंमेंसे दो स्पर्श, एक वर्ण, एक गंध तथा एक रस समझना, अन्य नहीं ।"

और (२७ वीं गाथाकी टीका पूर्ण करते हुए टीकाकार मुनिराज श्लोक द्वारा भव्य जनोंको शुद्ध आत्माकी भावनाका उपदेश करते हैं) :—

[श्लोकार्थः—] यदि परमाणु एकवर्णादिरूप प्रकाशते (ज्ञात होते) निज गुणसमूहमें है, तो उसमें मेरी (कोई) कार्यसिद्धि नहीं है (अर्थात् परमाणु तो एक वर्ण, एक गंध आदि अपने गुणोंमें ही है, तो फिर उसमें मेरा कोई कार्य सिद्ध नहीं होता) ;—इसप्रकार निज हृदयमें मानकर परम सुखपदका अर्थी भव्यसमूह शुद्ध आत्माको एकको भाये ।४१।

अण्णणिरावेक्खो जो परिणामो सो सहावपज्जाओ ।
खंधसरूवेण पुणो परिणामो सो विहावपज्जाओ ॥२८॥

अन्यनिरपेक्षो यः परिणामः स स्वभावपर्यायः ।
स्कंधस्वरूपेण पुनः परिणामः स विभावपर्यायः ॥२८॥

पुद्गलपर्यायस्वरूपाख्यानमेतत् ।

परमाणुपर्यायः पुद्गलस्य शुद्धपर्यायः परमपारिणामिकभावलक्षणः वस्तुगतषट्प्रकारहानिवृद्धिरूपः अतिसूक्ष्मः अर्थपर्यायात्मकः सादिसनिधनोऽपि परद्रव्यनिरपेक्षत्वाच्छुद्धसद्भूतव्यवहारनयात्मकः । अथवा हि एकस्मिन् समयेऽप्युत्पादव्ययध्रौव्यात्मकत्वात्सूक्ष्मऋजुसूत्रनयात्मकः । स्कन्धपर्यायः स्वजातीयबन्धलक्षणलक्षितत्वादशुद्ध इति ।

गाथा २८

अन्वयार्थः—[**अन्यनिरपेक्षः**] अन्यनिरपेक्ष (अन्यकी अपेक्षा रहित) [**यः परिणामः**] जो परिणाम [**सः**] वह [**स्वभावपर्यायः**] स्वभावपर्याय है [**पुनः**] और [**स्कन्धस्वरूपेण परिणामः**] स्कन्धरूप परिणाम [**सः**] वह [**विभावपर्यायः**] विभावपर्याय है ।

टीकाः—यह, पुद्गलपर्यायके स्वरूपका कथन है ।

परमाणुपर्याय पुद्गलकी शुद्धपर्याय है—जो कि परमपारिणामिकभावस्वरूप है, वस्तुमें होनेवाली छह प्रकारकी हानिवृद्धिरूप है, अतिसूक्ष्म है, अर्थपर्यायात्मक है और सादि-सान्त होने पर भी परद्रव्यसे निरपेक्ष होनेके कारण शुद्धसद्भूतव्यवहारनयात्मक है अथवा एक समयमें भी उत्पादव्ययध्रौव्यात्मक होनेसे सूक्ष्मऋजुसूत्रनयात्मक है ।

स्कन्धपर्याय स्वजातीय बन्धरूप लक्षणसे लक्षित होनेके कारण अशुद्ध है ।

[अब टीकाकार मुनिराज २८ वीं गाथाकी टीका पूर्ण करते हुए श्लोक कहते हैं :]

पर्याय पर-निरपेक्ष जो उसको स्वभाविक जानिये ।
जो स्कन्धपरिणति है उसे वैभाविकी पहिचानिये ॥२८॥

(मालिनी)

परपरिणतिदूरे शुद्धपर्यायरूपे
सति न च परमाणोः स्कन्धपर्यायशब्दः ।
भगवति जिननाथे पंचबाणस्य वार्ता
न च भवति यथेयं सोऽपि नित्यं तथैव ॥४२॥

पोग्गलदव्वं उच्चइ परमाणू णिच्छएण इदरेण ।
पोग्गलदव्वो त्ति पुणो ववदेसो होदि खंधस्स ॥२९॥

पुद्गलद्रव्यमुच्यते परमाणुर्निश्चयेन इतरेण ।
पुद्गलद्रव्यमिति पुनः व्यपदेशो भवति स्कन्धस्य ॥२९॥

पुद्गलद्रव्यव्याख्यानोपसंहारोऽयम् ।

स्वभावशुद्धपर्यायात्मकस्य परमाणोरेव पुद्गलद्रव्यव्यपदेशः शुद्धनिश्चयेन । इतरेण व्यवहारनयेन विभावपर्यायात्मनां स्कन्धपुद्गलानां पुद्गलत्वमुपचारतः सिद्धं भवति ।

[श्लोकार्थः—] (परमाणु) परपरिणतिसे दूर शुद्धपर्यायरूप होनेसे परमाणुको स्कन्धपर्यायरूप शब्द नहीं होता जिसप्रकार भगवान जिननाथमें कामदेवकी वार्ता नहीं होती, उसीप्रकार परमाणु भी सदा अशब्द ही होता है (अर्थात् परमाणुको भी कभी शब्द नहीं होता) ।४२।

गाथा २९

अन्वयार्थः—[निश्चयेन] निश्चयसे [परमाणुः] परमाणुको [पुद्गलद्रव्यम्] 'पुद्गलद्रव्य' [उच्यते] कहा जाता है [पुनः] और [इतरेण] व्यवहारसे [स्कन्धस्य] स्कन्धको [पुद्गलद्रव्यम् इति व्यपदेशः] 'पुद्गलद्रव्य' ऐसा नाम [भवति] होता है ।

टीकाः—यह, पुद्गलद्रव्यके कथनका उपसंहार है ।

शुद्धनिश्चयनयसे स्वभावशुद्धपर्यायात्मक परमाणुको ही 'पुद्गलद्रव्य' ऐसा

'परमाणु पुद्गल द्रव्य है' यह कथन निश्चयनय करे ।
व्यवहारनयकी रीति है, वह स्कन्धको पुद्गल कहे ॥२९॥

(मालिनी)

इति जिनपतिमार्गाद् बुद्धतत्त्वार्थजातः
त्यजतु परमशेषं चेतनाचेतनं च ।
भजतु परमतत्त्वं चिच्चमत्कारमात्रं
परविरहितमन्तर्निर्विकल्पे समाधौ ।।४३।।

(अनुष्टुभ्)

पुद्गलोऽचेतनो जीवश्चेतनश्चेति कल्पना ।
साऽपि प्राथमिकानां स्यान्न स्यान्निष्पन्नयोगिनाम् ।।४४।।

(उपेन्द्रवज्रा)

अचेतने पुद्गलकायकेऽस्मिन्
सचेतने वा परमात्मतत्त्वे ।
न रोषभावो न च रागभावो
भवेदियं शुद्धदशा यतीनाम् ।।४५।।

नाम होता है। अन्य ऐसे व्यवहारनयसे विभावपर्यायात्मक स्कन्धपुद्गलोंको पुद्गलपना उपचार द्वारा सिद्ध होता है।

[अब २९ वीं गाथाकी टीका पूर्ण करते हुए टीकाकार मुनिराज तीन श्लोक कहते हैं :]

[श्लोकार्थः—] इसप्रकार जिनपतिके मार्ग द्वारा तत्त्वार्थसमूहको जानकर पर ऐसे समस्त चेतन और अचेतनको त्यागो; अन्तरङ्गमें निर्विकल्प समाधिमें परविरहित (परसे रहित) चित्चमत्कारमात्र परमतत्त्वको भजो ।४३।

[श्लोकार्थः—] पुद्गल अचेतन है और जीव चेतन है ऐसी जो कल्पना वह भी प्राथमिकोंको (प्रथम भूमिकावालोंको) होती है, निष्पन्न योगियोंको नहीं होती (अर्थात् जिनका योग परिपक्व हुआ है उनको नहीं होती) ।४४।

[श्लोकार्थः—] (शुद्धदशावाले यतियोंको) इस अचेतन पुद्गलकायमें द्वेषभाव नहीं होता या सचेतन परमात्मतत्त्वमें रागभाव नहीं होता;—ऐसी शुद्ध दशा यतियोंकी होती है ।४५।

गमणणिमित्तं धम्ममधम्मं ठिदि जीवपोग्गलाणं च ।
अवगहणं आयासं जीवादीसव्वदव्वाणं ॥३०॥

गमननिमित्तो धर्मोऽधर्मः स्थितेः जीवपुद्गलानां च ।
अवगाहनस्याकाशं जीवादिसर्वद्रव्याणाम् ॥३०॥

धर्माधर्माकाशानां संक्षेपोक्तिरियम् ।

अयं धर्मास्तिकायः स्वयं गतिक्रियारहितः दीर्घिकोदकवत् । स्वभावगतिक्रियापरिणतस्यायोगिनः पञ्चह्रस्वाक्षरोच्चारणमात्रस्थितस्य भगवतः सिद्धनामधेययोग्यस्य षट्कापक्रमविमुक्तस्य मुक्तिवामलोचनालोचनगोचरस्य त्रिलोकशिखरिशेखरस्य अपहस्तितसमस्तक्लेशावासपञ्चविधसंसारस्य पंचमगतिप्रान्तस्य स्वभावगतिक्रियाहेतुः धर्मः; अपि च षट्कापक्रमयुक्तानां

गाथा ३०

अन्वयार्थः—[धर्मः] धर्म [जीवपुद्गलानां] जीवपुद्गलोंको [गमननिमित्तः] गमनका निमित्त है [च] और [अधर्मः] अधर्म [स्थितेः] (उन्हें) स्थितिका निमित्त है; [आकाशं] आकाश [जीवादिसर्वद्रव्याणाम्] जीवादि सर्व द्रव्योंको [अवगाहनस्य] अवगाहनका निमित्त है ।

टीकाः—यह, धर्म–अधर्म–आकाशका संक्षिप्त कथन है ।

यह धर्मास्तिकाय, बावड़ीके पानीकी भाँति, स्वयं गतिक्रियारहित है । मात्र (अ, इ, उ, ऋ, लृ—ऐसे) पाँच ह्रस्व अक्षरोंके उच्चारण जितनी जिनकी स्थिति है, जो 'सिद्ध' नामके योग्य हैं, जो छह [1]अपक्रमसे विमुक्त हैं, जो मुक्तिरूपी सुलोचनाके लोचनका विषय हैं (अर्थात् जिन्हें मुक्तिरूपी सुन्दरी प्रेमसे निहारती है), जो त्रिलोकरूपी [2]शिखरीके शिखर हैं, जिन्होंने समस्त क्लेशके घररूप पंचविध संसारको (द्रव्य, क्षेत्र, काल, भव और भावके परावर्तनरूप पाँच प्रकारके संसारको) दूर किया है और जो पञ्चमगतिकी सीमा पर हैं—ऐसे अयोगी भगवानको स्वभावगतिक्रियारूपसे परिणमित

१–संसारी जीवोंको अन्य भवमें उत्पन्न होनेके समय 'छह दिशाओंमें गमन' होता है उसे 'छह अपक्रम' कहनेमें आता है ।
२–शिखरी=शिखरवन्त; पर्वत ।

जो जीव, पुद्गल, गमन–स्थितिमें हेतु धर्म अधर्म है ।
आकाश जो सब द्रव्यका अवकाश हेतुक द्रव्य है ॥३०॥

संसारिणां विभावगतिक्रियाहेतुश्च । यथोदकं पाठीनानां गमनकारणं तथा तेषां जीवपुद्गलानां गमनकारणं स धर्मः । सोऽयममूर्तः अष्टस्पर्शविनिर्मुक्तः वर्णरसपंचकगंधद्वितयविनिर्मुक्तश्च अगुरुकलघुत्वादिगुणाधारः लोकमात्राकारः अखण्डैकपदार्थः । सहभुवो गुणाः, क्रमवर्तिनः पर्यायाश्चेति वचनादस्य गतिहेतोर्धर्मद्रव्यस्य शुद्धगुणाः शुद्धपर्याया भवन्ति । अधर्मद्रव्यस्य स्थितिहेतुर्विशेषगुणः । अस्यैव तस्य धर्मास्तिकायस्य गुणपर्यायाः सर्वे भवन्ति । आकाशस्यावकाशदानलक्षणमेव विशेषगुणः । इतरे धर्माधर्मयोर्गुणाः स्वस्यापि सदृशा इत्यर्थः । लोकाकाशधर्माधर्माणां समानप्रमाणत्वे सति न ह्यलोकाकाशस्य ह्रस्वत्वमिति ।

होनेमें *स्वभावगतिक्रियाका हेतु धर्म है । और छह [1]अपक्रमसे युक्त ऐसे संसारियोंको वह (धर्म) *विभावगतिक्रियाका हेतु है । जिसप्रकार पानी मछलियोंको गमनका कारण है, उसीप्रकार वह धर्म उन जीव–पुद्गलोंको गमनका कारण (निमित्त) है । वह धर्म अमूर्त, आठ स्पर्श रहित, तथा पाँच वर्ण, पाँच रस और दो गंध रहित, अगुरुलघुत्वादि गुणोंके आधारभूत, लोकमात्र आकारवाला (–लोकप्रमाण आकारवाला), अखण्ड एक पदार्थ है । "सहभावी गुण हैं और क्रमवर्ती पर्यायें हैं" ऐसा (शास्त्रका) वचन होनेसे गतिके हेतुभूत इस धर्मद्रव्यको शुद्ध गुण और शुद्ध पर्यायें होती हैं ।

अधर्मद्रव्यका विशेषगुण स्थितिहेतुत्व है इस अधर्मद्रव्यके (शेष) गुण-पर्यायों जैसे उस धर्मास्तिकायके (शेष) सर्व गुण-पर्याय होते हैं ।

आकाशका, अवकाशदानरूप लक्षण ही विशेषगुण है । धर्म और अधर्मके शेष गुण आकाशके शेष गुणों जैसे भी हैं ।

—इसप्रकार (इस गाथाका) अर्थ है ।

(यहां ऐसा ध्यानमें रखना कि) लोकाकाश, धर्म और अधर्म समान प्रमाणवाले होनेसे कहीं अलोकाकाशको न्यूनता—छोटापन नहीं है (–अलोकाकाश तो अनन्त है) ।

[अब ३० वीं गाथाकी टीका पूर्ण करते हुए टीकाकार मुनिराज श्लोक कहते है :]

[श्लोकार्थः—] यहां ऐसा आशय है कि—जो (द्रव्य) गमनका निमित्त है,

---

*–स्वभावगतिक्रिया तथा विभावगतिक्रियाका अर्थ पृष्ठ–२३ पर देखें ।

१–अपक्रमका अर्थ देखो पृष्ठ ६३ में फुटनोट ।

(मालिनी)

इह गमननिमित्तं यत्स्थितेः कारणं वा
यदपरमखिलानां स्थानदानप्रवीणम् ।
तदखिलमवलोक्य द्रव्यरूपेण सम्यक्
प्रविशतु निजतत्त्वं सर्वदा भव्यलोकः ॥४६॥

समयावलिभेदेण दु दुवियप्पं अहव होइ तिवियप्पं ।
तीदो संखेज्जावलिहदसंठाणप्पमाणं तु ॥३१॥

समयावलिभेदेन तु द्विविकल्पोऽथवा भवति त्रिविकल्पः ।
अतीतः संख्यातावलिहतसंस्थानप्रमाणस्तु ॥३१॥

व्यवहारकालस्वरूपविविधविकल्पकथनमिदम् ।

एकस्मिन्नभःप्रदेशे यः परमाणुस्तिष्ठति तमन्यः परमाणुर्मन्दचलनाल्लंघयति स समयो व्यवहारकालः । तादृशैरसंख्यातसमयैः निमिषः, अथवा नयनपुटघटनायत्तो निमेषः । निमेषाष्टकैः

जो (द्रव्य) स्थितिका कारण है, और दूसरा जो (द्रव्य) सर्वको स्थान देनेमें प्रवीण है, उन सबको सम्यक् द्रव्यरूपसे अवलोककर (यथार्थतः स्वतंत्र द्रव्य रूपसे समझकर) भव्यसमूह सर्वदा निज तत्त्वमें प्रवेश करो ।४६।

गाथा ३१

अन्वयार्थः—[समयावलिभेदेन तु] समय और आवलिके भेदसे [द्विविकल्पः] व्यवहारकालके दो भेद हैं [अथवा] अथवा [त्रिविकल्पः भवति] (भूत, वर्तमान और भविष्यके भेदसे) तीन भेद हैं। [अतीतः] अतीत काल [संख्यातावलिहतसंस्थानप्रमाणः तु] (अतीत) संस्थानोंके और संख्यात आवलिके गुणाकार जितना है ।

टीकाः—यह, व्यवहारकालके स्वरूपका और उसके विविध भेदोंका कथन है ।

एक आकाशप्रदेशमें जो परमाणु स्थित हो उसे दूसरा परमाणु मन्दगतिसे लाँघे उतना काल वह समयरूप व्यवहारकाल है । ऐसे असंख्य समयोंका निमिष होता है,

---

आवलि, समय दो भेद या भूतादि त्रयविध जानिये ।
संस्थानसे संख्यातगुण आवलि अतीत प्रमानिये ॥३१॥

काष्ठा । षोडशभिः काष्ठाभिः कला । द्वात्रिंशत्कलाभिर्घटिका । षष्टिनालिकमहोरात्रम् । त्रिंशदहोरात्रैर्मासः । द्वाभ्याम् मासाभ्याम् ऋतुः । ऋतुभिस्त्रिभिरयनम् । अयनद्वयेन संवत्सरः । इत्यावल्यादिव्यवहारकालक्रमः । इत्थं समयावलिभेदेन द्विधा भवति, अतीतानागतवर्तमानभेदात् त्रिधा वा । अतीतकालप्रपञ्चोऽयमुच्यते—अतीतसिद्धानां सिद्धपर्यायप्रादुर्भावसमयात् पुरागतो ह्यावल्यादिव्यवहारकालः स कालस्यैषां संसारावस्थायां यानि संस्थानानि गतानि तैः सदृशत्वादनन्तः । अनागतकालोप्यनागतसिद्धानामनागतशरीराणि यानि तैः सदृश इत्यामुक्तेः मुक्तेः सकाशादित्यर्थः ।

तथा चोक्तं पञ्चास्तिकायसमये—

अथवा आँख मिंचे उतना काल वह निमिष है । आठ निमिषकी काष्ठा होती है । सोलह काष्ठाकी कला, बत्तीस कलाकी घड़ी, साठ घड़ीका अहोरात्र, तीस अहोरात्रका मास, दो मासकी ऋतु, तीन ऋतुका अयन और दो अयनका वर्ष होता है । ऐसा आवलि आदि व्यवहारकालका क्रम है । इसप्रकार व्यवहारकाल समय और आवलिके भेदसे दो प्रकारका है अथवा अतीत, अनागत और वर्तमानके भेदसे तीन प्रकारका है ।

यह (निम्नोक्तानुसार), अतीत कालका विस्तार कहा जाता है : अतीत सिद्धोंको सिद्धपर्यायके [1]प्रादुर्भावसमयसे पूर्व बीता हुआ जो आवलि आदि व्यवहारकाल वह, उन्हें संसार-दशामें जितने संस्थान बीत गये उनके [2]जितना होनेसे अनन्त है । (अनागत सिद्धोंको मुक्ति होने तकका) अनागत काल भी-अनागत सिद्धोंके जो मुक्ति-पर्यन्त अनागत शरीर उनके बराबर है ।

ऐसा (इस गाथाका) अर्थ है ।

इसीप्रकार (श्रीमद्भगवत्कुन्दकुन्दाचार्यदेवप्रणीत) श्रीपञ्चास्तिकायसमयमें (२५ वीं गाथा द्वारा) कहा है कि:—

१-प्रादुर्भाव=प्रगट होना वह; उत्पन्न होना वह ।

२-सिद्धभगवानको अनन्त शरीर बीत गये हैं; उन शरीरोंकी अपेक्षा संख्यातगुनी आवलियाँ बीत गई हैं । इसलिये अतीत शरीर भी अनन्त हैं और अतीत काल भी अनन्त है । अतीत शरीरोंकी अपेक्षा अतीत आवलियाँ संख्यातगुनी होने पर भी दोनों अनन्त होनेसे दोनोंको अनन्तपनेकी अपेक्षासे समान कहा है ।

"समओ णिमिसो कट्ठा कला य णाली तदो दिवारत्ती।
मासोदुअयणसंवच्छरो त्ति कालो परायत्तो ॥"

तथा हि—

(मालिनी)

समयनिमिषकाष्ठा सत्कलानाडिकाद्याद्
दिवसरजनिभेदाज्जायते काल एषः।
न च भवति फलं मे तेन कालेन किंचिद्
निजनिरुपमतत्त्वं शुद्धमेकं विहाय ॥४७॥

जीवादु पोग्गलादो णंतगुणा चावि संपदा समया।
लोयायासे संति य परमट्ठो सो हवे कालो ॥३२॥

जीवात् पुद्गलतोनंतगुणाश्चापि संप्रति समयाः।
लोकाकाशे संति च परमार्थः स भवेत्कालः ॥३२॥

"[गाथार्थः—] समय, निमिष, काष्ठा, कला, घड़ी, दिनरात, मास, ऋतु, अयन और वर्ष—इसप्रकार पराश्रित काल (–जिसमें परकी अपेक्षा आती है ऐसा व्यवहारकाल) है।"

और (३१ वीं गाथाकी टीका पूर्ण करते हुए टीकाकार मुनिराज श्लोक कहते हैं) :—

[श्लोकार्थः—] समय, निमिष, काष्ठा, कला, घड़ी, दिनरात आदि भेदोंसे यह काल (व्यवहारकाल) उत्पन्न होता है; परन्तु शुद्ध एक निज निरुपम तत्त्वको छोड़कर, उस कालसे मुझे कोई फल नहीं है।४७।

गाथा ३२

अन्वयार्थः—[संप्रति] अब, [जीवात्] जीवसे [पुद्गलतः च अपि] तथा पुद्गलसे भी [अनन्तगुणाः] अनन्तगुने [समयाः] समय हैं; [च] और [लोकाकाशे संति] जो (कालाणु) लोकाकाशमें हैं, [सः] वह [परमार्थः कालः भवेत्] परमार्थ काल है।

रे जीव पुद्गलसे समय संख्या अनन्तगुणा कही।
कालाणु लोकाकाश स्थित जो, काल निश्चय है वही ॥३२॥

मुख्यकालस्वरूपाख्यानमेतत् ।

जीवराशेः पुद्गलराशेः सकाशादनन्तगुणाः । के ते ? समयाः । कालाणवः लोकाकाशप्रदेशेषु पृथक् पृथक् तिष्ठन्ति, स कालः परमार्थः इति ।

तथा चोक्तं प्रवचनसारे—

"समओ दु अप्पदेसो पदेसमेत्तस्स दव्वजादस्स ।
वदिवददो सो वट्टदि पदेसमागासदव्वस्स ॥"

अस्यापि समयशब्देन मुख्यकालाणुस्वरूपमुक्तम् ।

अन्यच्च—

"लोयायासपदेसे एक्केक्के जे ट्ठिया हु एक्केक्का ।
रयणाणं रासी इव ते कालाणू असंखदव्वाणि ॥"

टीकाः—यह, मुख्य कालके स्वरूपका कथन है ।

जीवराशिसे और पुद्गलराशिसे अनन्तगुने हैं । कौन ? समय । कालाणु लोकाकाशके प्रदेशोंमें पृथक् पृथक् स्थित हैं, वह काल परमार्थ है ।

उसीप्रकार (श्रीमद्भगवत्कुन्दकुन्दाचार्यदेवप्रणीत) श्री प्रवचनसारमें (१३८ वीं गाथा द्वारा) कहा है कि:—

"[गाथार्थः—] काल तो अप्रदेशी है । प्रदेशमात्र पुद्गल–परमाणु आकाशद्रव्यके प्रदेशको मन्द गतिसे लाँघता हो तब वह वर्तता है अर्थात् निमित्तभूतरूपसे परिणमित होता है ।"

इसमें (इस प्रवचनसारकी गाथामें) भी "समय" शब्दसे मुख्यकालाणुका स्वरूप कहा है ।

और अन्यत्र (आचार्यवर श्रीनेमिचन्द्रसिद्धान्तिदेवविरचित बृहद्द्रव्यसंग्रहमें २२ वीं गाथा द्वारा) कहा है कि:—

[गाथार्थः—] लोकाकाशके एक–एक प्रदेशमें जो एक–एक कालाणु रत्नोंकी राशिकी भाँति वास्तवमें स्थित हैं, वे कालाणु असंख्य द्रव्य हैं ।

और मार्गप्रकाशमें भी (श्लोक द्वारा) कहा है कि:—

उक्तं च मार्गप्रकाशे—

(अनुष्टुभ्)

"कालाभावे न भावानां परिणामस्तदंतरात् ।
न द्रव्यं नापि पर्यायःसर्वाभावः प्रसज्यते ॥"

तथा हि—

(अनुष्टुभ्)

वर्तनाहेतुरेषः स्यात् कुम्भकृच्चक्रमेव तत् ।
पंचानामस्तिकायानां नान्यथा वर्तना भवेत् ॥४८॥

(अनुष्टुभ्)

प्रतीतिगोचराः सर्वे जीवपुद्गलराशयः ।
धर्माधर्मनभःकालाः सिद्धाः सिद्धान्तपद्धतेः ॥४९॥

जीवादीदव्वाणं परिवट्टणकारणं हवे कालो ।
धम्मादिचउण्हं णं सहावगुणपज्जया होंति ॥३३॥

"[श्लोकार्थः—] कालके अभावमें, पदार्थोंका परिणमन नहीं होगा; और परिणमन न हो तो, द्रव्य भी न होगा तथा पर्याय भी न होगी; इसप्रकार सर्वके अभावका (शून्यका) प्रसंग आयेगा ।"

और (३२ वीं गाथाकी टीका पूर्ण करते हुए टीकाकार मुनिराज दो श्लोक कहते हैं) :—

[श्लोकार्थः—] कुम्हारके चक्रकी भाँति (अर्थात् जिसप्रकार घड़ा बननेमें कुम्हारका चाक निमित्त है उसीप्रकार), यह परमार्थकाल (पाँच अस्तिकायोंकी) वर्तनाका निमित्त है । उसके बिना, पाँच अस्तिकायोंको वर्तना (—परिणमन) नहीं हो सकती ।४८।

[श्लोकार्थः—] सिद्धान्तपद्धतिसे (शास्त्रपरम्परासे) सिद्ध ऐसे जीवराशि, पुद्गलराशि, धर्म, अधर्म, आकाश और काल सभी प्रतीतिगोचर हैं (अर्थात् छहों द्रव्योंकी प्रतीति हो सकती है) ।४९।

रे जीव पुद्गल आदिका परिणमनकारण काल है ।
धर्मादि चार स्वभावगुण पर्यायवन्त त्रिकाल हैं ॥३३॥

जीवादिद्रव्याणां परिवर्तनकारणंभवेत्कालः ।
धर्मादिचतुर्णां स्वभावगुणपर्याया भवंति ॥३३॥

कालादिशुद्धामूर्ताचेतनद्रव्याणां स्वस्वभावगुणपर्यायाख्यानमेतत् ।

इह हि मुख्यकालद्रव्यं जीवपुद्गलधर्माधर्माकाशानां पर्यायपरिणतिहेतुत्वात् परिवर्तनलिंगमित्युक्तम् । अथ धर्माधर्माकाशकालानां स्वजातीयविजातीयबंधसम्बन्धाभावात् विभावगुणपर्याया न भवंति, अपि तु स्वभावगुणपर्याया भवन्तीत्यर्थः । ते गुणपर्यायाः पूर्वं प्रतिपादिताः, अत एवात्र संक्षेपतः सूचिता इति ।

(मालिनी)

इति विरचितमुच्चैर्द्रव्यषट्कस्य भास्वद्
विवरणमतिरम्यं भव्यकर्णामृतं यत् ।
तदिह जिनमुनीनां दत्तचित्तप्रमोदं
भवतु भवविमुक्त्यै सर्वदा भव्यजन्तोः ॥५०॥

गाथा ३३

अन्वयार्थः—[जीवादिद्रव्याणाम्] जीवादि द्रव्योंको [परिवर्तनकारणम्] परिवर्तनका कारण (—वर्तनाका निमित्त) [कालः भवेत्] काल है । [धर्मादिचतुर्णां] धर्मादि चार द्रव्योंको [स्वभावगुणपर्यायाः] स्वभावगुणपर्यायें [भवंति] होते हैं ।

टीकाः—यह, कालादि शुद्ध अमूर्त अचेतन द्रव्योंके निज स्वभावगुणपर्यायोंका कथन है ।

मुख्यकालद्रव्य जीव, पुद्गल, धर्म, अधर्म और आकाशकी (—पाँच अस्तिकायोंकी) पर्यायपरिणतिका हेतु होनेसे उसका लिंग परिवर्तन है (अर्थात् कालद्रव्यका लक्षण वर्तनाहेतुत्व है) ऐसा यहाँ कहा है ।

अब (दूसरी बात यह कि), धर्म, अधर्म, आकाश और कालको स्वजातीय या विजातीय बन्धका सम्बन्ध न होनेसे उन्हें विभावगुणपर्यायें नहीं होतीं, परन्तु स्वभाव गुणपर्यायें होतीं हैं—ऐसा अर्थ है । उन स्वभावगुणपर्यायोंका पहले प्रतिपादन किया गया है इसीलिये यहाँ संक्षेपसे सूचन किया गया है ।

[अब ३३ वीं गाथाकी टीका पूर्ण करते हुए टीकाकार मुनिराज श्लोक कहते हैं :]

[श्लोकार्थः—] इसप्रकार भव्योंके कर्णोंको अमृत ऐसा जो छह द्रव्योंका

एदे छद्दव्वाणि य कालं मोत्तूण अत्थिकाय त्ति ।
णिद्दिट्ठा जिणसमये काया हु बहुप्पदेसत्तं ॥३४॥

एतानि षड्द्रव्याणि च कालं मुक्त्वास्तिकाया इति ।
निर्दिष्टा जिनसमये कायाः खलु बहुप्रदेशत्वम् ॥३४॥

अत्र कालद्रव्यमन्तरेण पूर्वोक्तद्रव्याण्येव पञ्चास्तिकाया भवंतीत्युक्तम् ।

इह हि द्वितीयादिप्रदेशरहितः कालः, 'समओ अप्पदेशो' इति वचनात् । अस्य हि द्रव्यत्वमेव, इतरेषां पंचानां कायत्वमस्त्येव । बहुप्रदेशप्रचयत्वात् कायः । काया इव कायाः । पञ्चास्तिकायाः । अस्तित्वं नाम सत्ता । सा किंविशिष्टा ? सप्रतिपक्षा, अवान्तरसत्ता महासत्तेति । तत्र समस्तवस्तुविस्तरव्यापिनी महासत्ता, प्रतिनियतवस्तुव्यापिनी ह्यवान्तरसत्ता । समस्तव्यापक-

---

अति रम्य दैदीप्यमान (–स्पष्ट) विवरण विस्तारसे किया गया, वह जिन मुनियोंके चित्तको प्रमोद देनेवाला षट्द्रव्यविवरण भव्य जीवोंको सर्वदा भवविमुक्तिका कारण हो ।५०।

गाथा ३४

अन्वयार्थः—[कालं मुक्त्वा] काल छोड़कर [एतानि षड्द्रव्याणि च] इन छह द्रव्योंको (अर्थात् शेष पाँच द्रव्योंको) [जिनसमये] जिनसमयमें (जिनदर्शनमें) [अस्तिकायाः इति] 'अस्तिकाय' [निर्दिष्टाः] कहे गये हैं । [बहुप्रदेशत्वम्] बहुप्रदेशी-पना [खलु-कायाः] वह कायत्व है ।

टीकाः—इस गाथामें कालद्रव्यके अतिरिक्त पूर्वोक्त द्रव्य ही पंचास्तिकाय हैं ऐसा कहा है ।

यहाँ (इस विश्वमें) काल द्वितीयादि प्रदेश रहित (अर्थात् एकसे अधिक प्रदेश रहित) है, क्योंकि "समओ अप्पदेसो (काल अप्रदेशी है)" ऐसा (शास्त्रका) वचन है । इसे द्रव्यत्व ही है शेष पाँचको कायत्व (भी) है ही ।

बिन काल ये जिनधर्म वर्णित पाँच अस्तिकाय हैं ।
अरु वस्तुका वह बहु प्रदेशीपन नियमसे काय है ॥३४॥

रूपव्यापिनी महासत्ता, प्रतिनियतैकरूपव्यापिनी ह्यवान्तरसत्ता। अनन्तपर्यायव्यापिनी महासत्ता, प्रतिनियतैकपर्यायव्यापिनी ह्यवान्तरसत्ता। अस्तीत्यस्य भावः अस्तित्वम्। अनेन अस्तित्वेन कायत्वेन सनाथाः पञ्चास्तिकायाः। कालद्रव्यस्यास्तित्वमेव, न कायत्वं, काया इव बहुप्रदेशाभावादिति।

(आर्या)

इति जिनमार्गाम्भोधेरुद्धृता पूर्वसूरिभिः प्रीत्या।
षड्द्रव्यरत्नमाला कंठाभरणाय भव्यानाम् ॥५१॥

बहुप्रदेशोंके समूहवाला हो वह 'काय' है। 'काय' काय जैसे (—शरीर जैसे अर्थात् बहुप्रदेशोंवाले) होते हैं। अस्तिकाय पाँच हैं।

अस्तित्व अर्थात् सत्ता। वह कैसी है ? महासत्ता और अवान्तरसत्ता—ऐसी [1]सप्रतिपक्ष है। वहाँ, समस्त वस्तुविस्तारमें व्याप्त होनेवाली वह महासत्ता है, [2]प्रतिनियत वस्तुमें व्याप्त होनेवाली वह अवान्तरसत्ता है; समस्त व्यापकरूपमें व्याप्त होनेवाली वह महासत्ता है, प्रतिनियत एक रूपमें व्याप्त होनेवाली वह अवान्तरसत्ता है; अनन्त पर्यायोंमें व्याप्त होनेवाली वह महासत्ता है, प्रतिनियत एक पर्यायमें व्याप्त होनेवाली वह अवान्तरसत्ता है। पदार्थका '[3]अस्ति' ऐसा भाव वह अस्तित्व है।

इस अस्तित्वसे और कायत्वसे सहित पाँच अस्तिकाय हैं। कालद्रव्यको अस्तित्व ही है, कायत्व नहीं है, क्योंकि कायकी भाँति उसे बहुप्रदेशोंका अभाव है।

[अब ३४ वीं गाथाकी टीका पूर्ण करते हुए टीकाकार मुनिराज श्लोक कहते हैं :]

[श्लोकार्थः—] इसप्रकार जिनमार्गरूपी रत्नाकरमेंसे पूर्वाचार्योंने प्रीतिपूर्वक षट्द्रव्यरूपी रत्नोंकी माला भव्योंके कण्ठाभरणके हेतु बाहर निकाली है।५१।

१–सप्रतिपक्ष=प्रतिपक्ष सहित; विरोधी सहित। (महासत्ता और अवान्तरसत्ता परस्पर विरोधी हैं।)

२–प्रतिनियत=नियत; निश्चित; अमुक ही।

३–अस्ति=है। (अस्तित्व=होना)

संखेज्जासंखेज्जाणंतपदेसा हवंति मुत्तस्स ।
धम्माधम्मस्स पुणो जीवस्स असंखदेसा हु ॥३५॥
लोयायासे तावं इदरस्स अणंतयं हवे देसा ।
कालस्स ण कायत्तं एयपदेसो हवे जम्हा ॥३६॥

संख्यातासंख्यातानंतप्रदेशा भवन्ति मूर्तस्य ।
धर्माधर्मयोः पुनर्जीवस्यासंख्यातप्रदेशाः खलु ॥३५॥
लोकाकाशे तद्वदितरस्यानंता भवन्ति देशाः ।
कालस्य न कायत्वं एकप्रदेशो भवेधस्मात् ॥३६॥

षण्णां द्रव्याणां प्रदेशलक्षणसंभवप्रकारकथनमिदम् ।

शुद्धपुद्गलपरमाणुना गृहीतं नभःस्थलमेव प्रदेशः । एवंविधाः पुद्गलद्रव्यस्य प्रदेशाः

गाथा ३५–३६

अन्वयार्थः—[मूर्तस्य] मूर्त द्रव्यको [संख्यातासंख्यातानंतप्रदेशाः] संख्यात, असंख्यात और अनन्त प्रदेश [भवन्ति] होते हैं; [धर्माधर्मयोः] धर्म, अधर्म [पुनः जीवस्य] तथा जीवको [खलु] वास्तवमें [असंख्यातप्रदेशाः] असंख्यात प्रदेश हैं;

[लोकाकाशे] लोकाकाशमें [तद्वत्] धर्म, अधर्म तथा जीवकी भाँति (असंख्यात प्रदेश) हैं; [इतरस्य] शेष जो अलोकाकाश उसे [अनंताः देशाः] अनन्त प्रदेश [भवन्ति] हैं । [कालस्य] कालको [कायत्वं न] कायपना नहीं है, [यस्मात्] क्योंकि [एकप्रदेशः] वह एक प्रदेशी [भवेत्] है ।

टीकाः—इसमें छह द्रव्योंके प्रदेशका लक्षण और उसके संभवका प्रकार कहा है (अर्थात् इस गाथामें प्रदेशका लक्षण तथा छह द्रव्योंको कितने–कितने प्रदेश होते हैं वह कहा है) ।

होते अनन्त, असंख्य, संख्य प्रदेश मूर्तिक द्रव्यके ।
अरु हैं असंख्य प्रदेश आत्मा और धर्म अधर्मके ॥३५॥
अनसंख्य लोकाकाशके हैं, अरु अनन्त अलोकके ।
नहिं कालको कायत्व है वह इक प्रदेशी द्रव्य है ॥३६॥

संख्याता असंख्याता अनन्ताश्च । लोकाकाशधर्माधर्मैकजीवानामसंख्यातप्रदेशा भवन्ति । इतरस्यालोकाकाशस्यानन्ताः प्रदेशा भवन्ति । कालस्यैकप्रदेशो भवति, अतः कारणादस्य कायत्वं न भवति अपि तु द्रव्यत्वमस्त्येवेति ।

(उपेन्द्रवज्रा)

पदार्थरत्नाभरणं मुमुक्षोः
कृतं मया कंठविभूषणार्थम् ।
अनेन धीमान् व्यवहारमार्गं
बुद्ध्वा पुनर्बोधति शुद्धमार्गम् ॥५२॥

पोग्गलदव्वं मुत्तं मुत्तिविरहिया हवंति सेसाणि ।
चेदणभावो जीवो चेदणगुणवज्जिया सेसा ॥३७॥

शुद्धपुद्गलपरमाणु द्वारा रुका हुआ आकाशस्थल ही प्रदेश है (अर्थात् शुद्ध पुद्गलरूप परमाणु आकाशके जितने भागको रोकें उतना भाग वह आकाशका प्रदेश है) । पुद्गलद्रव्यको [1]ऐसे प्रदेश संख्यात, असंख्यात और अनन्त होते हैं । लोकाकाशको, धर्मको, अधर्मको तथा एक जीवको असंख्यात प्रदेश हैं । शेष जो अलोकाकाश उसे अनन्त प्रदेश हैं । कालको एक प्रदेश है, उस कारणसे उसे कायत्व नहीं है परन्तु द्रव्यत्व है ही ।

[अव इन दो गाथाकी टीका पूर्ण करते हुए टीकाकार मुनिराज श्लोक कहते हैं :]

[श्लोकार्थः—] पदार्थोंरूपी (–छह द्रव्योंरूपी) रत्नोंका आभरण मैंने मुमुक्षुके कण्ठकी शोभाके हेतु वनाया है; उसके द्वारा धीमान पुरुष व्यवहारमार्गको जानकर, शुद्धमार्गको भी जानता है ।५२।

१–आकाशके प्रदेशकी भाँति, किसी भी द्रव्यका एक परमाणु द्वारा व्यपित होनेयोग्य जो अंश उसे उस द्रव्यका प्रदेश कहा जाता है । द्रव्यसे पुद्गल एकप्रदेशी होने पर भी पर्यायसे स्कन्धपनेकी अपेक्षासे पुद्गलको दो प्रदेशोंसे लेकर अनन्त प्रदेश भी सम्भव होते हैं ।

है मूर्तपुद्गल शेष पाँचों ही अमूर्तिक द्रव्य है ।
है जीव चेतन, शेष पाँचों चेतना–गुण–शून्य है ॥३७॥

पुद्गलद्रव्यं मूर्तं मूर्तिविरहितानि भवन्ति शेषाणि ।
चैतन्यभावो जीवः चैतन्यगुणवर्जितानि शेषाणि ।।३७।।

अजीवद्रव्यव्याख्यानोपसंहारोयम् ।

तेषु मूलपदार्थेषु पुद्गलस्य मूर्तत्वम्, इतरेषाममूर्तत्वम् । जीवस्य चेतनत्वम्, इतरेषामचेतनत्वम् । स्वजातीयविजातीयबन्धापेक्षया जीवपुद्गलयोरशुद्धत्वम्, धर्मादीनां चतुर्णां विशेषगुणापेक्षया शुद्धत्वमेवेति ।

(मालिनी)

इति ललितपदानामावलिर्भाति नित्यं
वदनसरसिजाते यस्य भव्योत्तमस्य ।
सपदि समयसारस्तस्य हृत्पुण्डरीके
लसति निशितबुद्धेः किं पुनश्चित्रमेतत् ।।५३।।

गाथा ३७

अन्वयार्थः—[पुद्गलद्रव्यं] पुद्गलद्रव्य [मूर्तं] मूर्त है, [शेषाणि] शेष द्रव्य [मूर्तिविरहितानि] मूर्तत्व रहित [भवन्ति] है; [जीवः] जीव [चैतन्यभावः] चैतन्यभाववाला है, [शेषाणि] शेष द्रव्य [चैतन्यगुणवर्जितानि] चैतन्यगुण रहित हैं ।

टीकाः—यह, अजीवद्रव्य सम्बन्धी कथनका उपसंहार है ।

उन (पूर्वोक्त) मूल पदार्थोंमें पुद्गल मूर्त है, शेष अमूर्त हैं; जीव चेतन है, शेष अचेतन हैं; स्वजातीय और विजातीय बन्धनकी अपेक्षासे जीव तथा पुद्गलको (बन्ध—दशामें) अशुद्धपना होता है, धर्मादि चार पदार्थोंको विशेषगुणकी अपेक्षासे (सदा) शुद्धपना ही है ।

[अब इस अजीव अधिकारकी अन्तिम गाथाकी टीका पूर्ण करते हुए टीकाकार मुनिराज श्री पद्मप्रभमलधारिदेव श्लोक कहते हैं :]

[श्लोकार्थः—] इसप्रकार ललित पदोंकी पंक्ति जिस भव्योत्तमके मुखारविंदमें सदा शोभती है, उस तीक्ष्ण बुद्धिवाले पुरुषके हृदयकमलमें शीघ्र समयसार (–शुद्ध आत्मा) प्रकाशित होता है । और इसमें आश्चर्य क्या है ।५३।

इति सुकविजनपयोजमित्रपंचेन्द्रियप्रसरवर्जितगात्रमात्रपरिग्रहश्रीपद्मप्रभमलधारिदेव-विरचितायां नियमसारव्याख्यायां तात्पर्यवृत्तौ अजीवाधिकारो द्वितीयः श्रुतस्कन्धः ॥

इसप्रकार, सुकविजनरूपी कमलोंके लिये जो सूर्य समान हैं और पाँच इन्द्रियोंके विस्तार रहित देहमात्र जिन्हें परिग्रह था ऐसे श्री पद्मप्रभमलधारिदेव द्वारा रचित नियमसारकी तात्पर्यवृत्ति नामक टीकामें (अर्थात् श्रीमद्‌भगवत्कुन्दकुन्दाचार्यदेव-प्रणीत श्री नियमसार परमागमकी निर्ग्रन्थ मुनिराज श्री पद्मप्रभमलधारिदेव विरचित तात्पर्यवृत्तिनामक टीकामें) अजीव अधिकार नामका दूसरा श्रुतस्कन्ध समाप्त हुआ ।



– ३ –

शुद्धभावाधिकारः

अथेदानीं शुद्धभावाधिकार उच्यते ।

जीवादिबहित्तच्चं हेयमुवादेयमप्पणो अप्पा ।
कम्मोपाधिसमुब्भवगुणपज्जाएहिं वदिरित्तो ॥३८॥

जीवादिबहिस्तत्त्वं हेयमुदेयमात्मनः आत्मा ।
कर्म्मोपाधिसमुद्भवगुणपर्यायैर्व्यतिरिक्तः ॥३८॥

हेयोपादेयतत्त्वस्वरूपाख्यानमेतत् ।

जीवादिसप्ततत्त्वजातं परद्रव्यत्वान्न ह्युपादेयम् । आत्मनः सहजवैराग्यप्रासादशिखरशिखामणेः परद्रव्यपराङ्मुखस्य पंचेन्द्रियप्रसरवर्जितगात्रमात्रपरिग्रहस्य परमजिनयोगीश्वरस्य स्वद्रव्यनिशितमतेरुपादेयो ह्यात्मा । औदयिकादिचतुर्णां भावान्तराणामगोचरत्वाद् द्रव्य-

---

अब शुद्धभाव अधिकार कहा जाता है ।

गाथा ३८

अन्वयार्थः—[जीवादिबहिस्तत्त्वं] जीवादि बाह्यतत्त्व [हेयम्] हेय हैं; [कर्म्मोपाधिसमुद्भवगुणपर्यायैः] कर्मोपाधिजनित गुणपर्यायोंसे [व्यतिरिक्तः] व्यतिरिक्त [आत्मा] आत्मा [आत्मनः] आत्माको [उपादेयम्] उपादेय है ।

टीकाः—यह, हेय और उपादेय तत्त्वके स्वरूपका कथन है ।

जीवादि सात तत्त्वोंका समूह परद्रव्य होनेके कारण वास्तवमें उपादेय नहीं है ।

है हेय सब बहितत्त्व ये जीवादि, आत्मा ग्राह्य है ।
अरु कर्मसे उत्पन्न गुणपर्यायसे वह बाह्य है ॥३८॥

भावनोकर्मोपाधिसमुपजनितविभावगुणपर्यायरहितः, अनादिनिधनामूर्तातीन्द्रियस्वभावशुद्धसहज-परमपारिणामिकभावस्वभावकारणपरमात्मा ह्यात्मा । अत्यासन्नभव्यजीवानामेवंभूतं निज-परमात्मानमन्तरेण न किंचिदुपादेयमस्तीति ।

(मालिनी)

जयति समयसारः सर्वतत्त्वैकसारः
सकलविलयदूरः प्रास्तदुर्वारमारः ।
दुरिततरुकुठारः शुद्धबोधावतारः
सुखजलनिधिपूरः क्लेशवाराशिपारः ॥५४॥

सहज वैराग्यरूपी महलके शिखरका जो [1]शिखामणि है, परद्रव्यसे जो पराङ्मुख है, पाँच इन्द्रियोंके विस्तार रहित देहमात्र जिसे परिग्रह है, जो परम जिनयोगीश्वर है, स्वद्रव्यमें जिसकी तीक्ष्ण बुद्धि है—ऐसे आत्माको "आत्मा" वास्तवमें उपादेय है । औदयिक आदि चार [2]भावान्तरोंको अगोचर होनेसे जो (कारणपरमात्मा) द्रव्यकर्म, भावकर्म, और नो कर्मरूप उपाधिसे जनित विभावगुणपर्यायों रहित है, तथा अनादि–अनन्त अमूर्त अतीन्द्रियस्वभाववाला शुद्ध–सहज–परम–पारिणामिकभाव जिसका स्वभाव है—ऐसा कारणपरमात्मा वह वास्तवमें "आत्मा" है । अति–आसन्न भव्यजीवोंको ऐसे निज परमात्माके अतिरिक्त (अन्य) कुछ उपादेय नहीं है ।

[अब ३८ वीं गाथाकी टीका पूर्ण करते हुए टीकाकार मुनिराज श्री पद्मप्रभ-मलधारिदेव श्लोक कहते हैं :]

[श्लोकार्थः—] सर्व तत्त्वोंमें जो एक सार है, जो समस्त नष्ट होनेयोग्य भावोंसे दूर है, जिसने दुर्वार कामको नष्ट किया है, जो पापरूप वृक्षको छेदनेवाला कुठार है, जो शुद्ध ज्ञानका अवतार है, जो सुखसागरकी बाढ़ है और जो क्लेशोदधिका किनारा है, वह समयसार (शुद्ध आत्मा) जयवन्त वर्तता है ।५४।

१–शिखामणि=शिखरके ऊपरका रत्न; चूड़ामणि; कलगीका रत्न ।

२–भावान्तर=अन्य भाव । [औदयिक, औपशमिक, क्षायोपशमिक, और क्षायिक—यह चार भाव परमपारिणामिकभावसे अन्य होनेके कारण उन्हें भावान्तर कहा है । परमपारिणामिकभाव जिसका स्वभाव है ऐसा कारणपरमात्मा इन चार भावान्तरोंको अगोचर है ।]

णो खलु सहावठाणा णो माणवमाणभावठाणा वा ।
णो हरिसभावठाणा णो जीवस्साहरिस्सठाणा वा ॥३९॥

न खलु स्वभावस्थानानि न मानापमानभावस्थानानि वा ।
न हर्षभावस्थानानि न जीवस्याहर्षस्थानानि वा ॥३९॥

निर्विकल्पतत्त्वस्वरूपाख्यानमेतत् ।

त्रिकालनिरुपाधिस्वरूपस्य शुद्धजीवास्तिकायस्य न खलु विभावस्वभावस्थानानि । प्रशस्ताप्रशस्तसमस्तमोहरागद्वेषाभावान्न च मानापमानहेतुभूतकर्मोदयस्थानानि । न खलु शुभपरिणतेरभावाच्छुभकर्म, शुभकर्माभावान्न संसारसुखं, संसारसुखस्याभावान्न हर्षस्थानानि । न चाशुभपरिणतेरभावादशुभकर्म, अशुभकर्माभावान्न दुःखं, दुःखाभावान्न चाहर्षस्थानानि चेति ।

गाथा ३९

अन्वयार्थः—[जीवस्य] जीवको [खलु] वास्तवमें [न स्वभावस्थानानि] स्वभावस्थान (–विभावस्वभावके स्थान) नहीं हैं, [न मानापमानभावस्थानानि वा] मानापमानभावके स्थान नहीं हैं, [न हर्षभावस्थानानि] हर्षभावके स्थान नहीं हैं [वा] या [न अहर्षस्थानानि] अहर्षके स्थान नहीं हैं ।

टीकाः—यह, निर्विकल्प तत्त्वके स्वरूपका कथन है ।

त्रिकाल–निरुपाधि जिसका स्वरूप है ऐसे शुद्ध जीवास्तिकायको वास्तवमें विभावस्वभावस्थान (–विभावरूप स्वभावके स्थान) नहीं हैं; (शुद्ध जीवास्तिकायको) प्रशस्त या अप्रशस्त समस्त मोह–राग–द्वेषका अभाव होनेसे मान–अपमानके हेतुभूत कर्मोदयके स्थान नहीं हैं; (शुद्ध जीवास्तिकायको) शुभ परिणतिका अभाव होनेसे शुभ कर्म नहीं है, शुभ कर्मका अभाव होनेसे संसारसुख नहीं है, संसारसुखका अभाव होनेसे हर्षस्थान नहीं हैं; और (शुद्ध जीवास्तिकायको) अशुभ परिणतिका अभाव होनेसे अशुभ कर्म नहीं है, अशुभ कर्मका अभाव होनेसे दुःख नहीं है, दुःखका अभाव होनेसे अहर्षस्थान नहीं हैं ।

मानापमान, स्वभावके नहिं स्थान होते जीवके ।
होते न हर्षस्थान भी, नहिं स्थान और अहर्षके ॥३९॥

(शार्दूलविक्रीडित)

प्रीत्यप्रीतिविमुक्तशाश्वतपदे निःशेषतोऽन्तर्मुख-
निर्भेदोदितशर्मनिर्मितवियद्बिंबाकृतावात्मनि ।
चैतन्यामृतपूरपूर्णवपुषे प्रेक्षावतां गोचरे
बुद्धिं किं न करोषि वांछसि सुखं त्वं संसृतेर्दुःकृतेः ॥५५॥

णो ठिदिबंधट्ठाणा पयडिट्ठाणा पदेसठाणा वा ।
णो अणुभागट्ठाणा जीवस्स ण उदयठाणा वा ॥४०॥

न स्थितिबंधस्थानानि प्रकृतिस्थानानि प्रदेशस्थानानि वा ।
नानुभागस्थानानि जीवस्य नोदयस्थानानि वा ॥४०॥

[अब ३९ वीं गाथाकी टीका पूर्ण करते हुए टीकाकार मुनिराज श्लोक कहते हैं :]

[श्लोकार्थः—] जो प्रीति-अप्रीति रहित शाश्वत पद है, जो सर्वथा अन्तर्मुख और प्रगट प्रकाशमान ऐसे सुखका बना हुआ, नभमण्डल समान [1]अकृत है, चैतन्यामृतके पूरसे भरा हुआ जिसका स्वरूप है, जो विचारवन्त चतुर पुरुषोंको गोचर है—ऐसे आत्मामें तू रुचि क्यों नहीं करता और दुष्कृतरूप संसारके सुखकी वांछा क्यों करता है ।५५।

गाथा ४०

अन्वयार्थः—[जीवस्य] जीवको [न स्थितिबन्धस्थानानि] स्थितिबन्धस्थान नहीं हैं, [प्रकृतिस्थानानि] प्रकृतिस्थान नहीं हैं, [प्रदेशस्थानानि वा] प्रदेशस्थान नहीं हैं, [न अनुभागस्थानानि] अनुभागस्थान नहीं हैं [वा] अथवा [न उदयस्थानानि] उदयस्थान नहीं हैं ।

१-अकृत=किसीसे नहीं किया गया । [जिसप्रकार आकाशको किसीने बनाया नहीं है; उसीप्रकार आत्माको किसीने नहीं बनाया है; आत्मा अन्तर्मुख प्रगट अतीन्द्रिय सुखका पिण्ड है, स्वयंसिद्ध शाश्वत है ।]

नहिं प्रकृति स्थान-प्रदेश स्थान न और स्थिति-बन्धस्थान नहिं ।
नहिं जीवके अनुभागस्थान तथा उदयके स्थान नहिं ॥४०॥

अत्र प्रकृतिस्थित्यनुभागप्रदेशबन्धोदयस्थाननिचयो जीवस्य न समस्तीत्युक्तम् ।

नित्यनिरुपरागस्वरूपस्य निरंजननिजपरमात्मतत्त्वस्य न खलु जघन्यमध्यमोत्कृष्टद्रव्यकर्मस्थितिबन्धस्थानानि । ज्ञानावरणाद्यष्टविधकर्मणां तत्तद्योग्यपुद्गलद्रव्यस्वाकारः प्रकृतिबंधः, तस्य स्थानानि न भवन्ति । अशुद्धान्तस्तत्त्वकर्मपुद्गलयोः परस्परप्रदेशानुप्रवेशः प्रदेशबन्धः, अस्य बन्धस्य स्थानानि वा न भवन्ति । शुभाशुभकर्मणां निर्जरासमये सुखदुःखफलप्रदानशक्तियुक्तो ह्यनुभागबन्धः, अस्य स्थानानां वा न चावकाशः । न च द्रव्यभावकर्मोदयस्थानानामप्यवकाशोऽस्ति इति ।

तथा चोक्तं श्री अमृतचन्द्रसूरिभिः—

(मालिनी)

"न हि विदधति बद्धस्पृष्टभावादयोऽमी
स्फुटमुपरि तरन्तोऽप्येत्य यत्र प्रतिष्ठाम् ।
अनुभवतु तमेव द्योतमानं समन्तात्
जगदपगतमोहीभूय सम्यक्स्वभावम् ॥"

टीकाः—यहाँ (इस गाथामें) प्रकृतिबन्ध, स्थितिबन्ध, अनुभागबन्ध और प्रदेशबन्धके स्थानोंका तथा उदयके स्थानोंका समूह जीवको नहीं है ऐसा कहा है ।

सदा [1]निरुपराग जिसका स्वरूप है ऐसे निरंजन (निर्दोष) निज परमात्मतत्त्वको वास्तवमें द्रव्यकर्मके जघन्य, मध्यम या उत्कृष्ट स्थितिबन्धके स्थान नहीं हैं । ज्ञानावरणादि अष्टविध कर्मोंमेंके उस–उस कर्मके योग्य ऐसा जो पुद्‌गलद्रव्यका स्व–आकार वह प्रकृतिबन्ध है; उसके स्थान (निरंजन निज परमात्मतत्त्वको) नहीं हैं । अशुद्ध अन्तःतत्त्वके (–अशुद्ध आत्माके) और कर्मपुद्‌गलके प्रदेशोंका परस्पर प्रवेश वह प्रदेशबन्ध है; इस बन्धके स्थान भी (निरंजन निज परमात्मतत्त्वको) नहीं हैं । शुभाशुभ कर्मकी निर्जराके समय सुखदुःखरूप फल देनेकी शक्तिवाला वह अनुभागबन्ध है; इसके स्थानोंका भी अवकाश (निरंजन निज परमात्मतत्त्वमें) नहीं है । और द्रव्यकर्म तथा भावकर्मके उदयके स्थानोंका भी अवकाश (निरंजन निज परमात्मतत्त्वमें) नहीं है ।

१–निरुपराग=उपराग रहित । [उपराग=किसी पदार्थमें, अन्य उपाधिकी समीपताके निमित्तसे होनेवाला उपाधिके अनुरूप विकारी भाव; औपाधिक भाव; विकार; मलिनता ।]

तथा हि—

(अनुष्टुभ्)

नित्यशुद्धचिदानन्दसंपदामाकरं परम् ।
विपदामिदमेवोच्चैरपदं चेतये पदम् ॥५६॥

(वसंततिलका)

यः सर्वकर्मविषभूरुहसंभवानि
मुक्त्वा फलानि निजरूपविलक्षणानि ।
भुंक्तेऽधुना सहजचिन्मयमात्मतत्त्वं
प्राप्नोति मुक्तिमचिरादिति संशयः कः ॥५७॥

णो खइयभावठाणा णो खयउवसमसहावठाणा वा ।
ओदइयभावठाणा णो उवसमणे सहावठाणा वा ॥४१॥

इसप्रकार (आचार्यदेव) श्रीमद् अमृतचन्द्रसूरिने (श्री समयसारकी आत्मख्याति नामक टीकामें ११ वें श्लोक द्वारा) कहा है कि:—

"[श्लोकार्थ:—] जगत मोहरहित होकर सर्व ओरसे प्रकाशमान ऐसे उस सम्यक् स्वभावका ही अनुभवन करना चाहिये कि जिसमें यह बद्धस्पृष्टत्व आदि भाव उत्पन्न होकर स्पष्टरूपसे ऊपर तैरते होने पर भी वास्तवमें स्थितिको प्राप्त नहीं होते।"

और (४० वीं गाथाकी टीका पूर्ण करते हुए टीकाकार मुनिराज दो श्लोक कहते हैं) :—

[श्लोकार्थ:—] जो नित्य–शुद्ध चिदानन्दरूपी सम्पदाओंकी उत्कृष्ट खान है तथा जो विपदाओंका अत्यन्तरूपसे अपद है (अर्थात् जहाँ विपदा बिलकुल नहीं है) ऐसे इसी पदका मैं अनुभव करता हूँ।५६।

[श्लोकार्थ:—] (अशुभ तथा शुभ) सर्व कर्मरूपी विषवृक्षोंसे उत्पन्न होनेवाले, निजरूपसे विलक्षण ऐसे फलोंको छोड़कर जो जीव इसीसमय सहजचैतन्यमय आत्मतत्त्वको भोगता है, वह जीव अल्प कालमें मुक्ति प्राप्त करता है—इसमें क्या संशय है।५७।

नहिं स्थान क्षायिकभावके, क्षायोपशमिक तथा नहीं ।
नहिं स्थान उपशमभावके, होते उदयके स्थान नहिं ॥४१॥

न क्षायिकभावस्थानानि न क्षयोपशमस्वभावस्थानानि वा ।
औदयिकभावस्थानानि नोपशमस्वभावस्थानानि वा ॥४१॥

चतुर्णां विभावस्वभावानां स्वरूपकथनद्वारेण पंचमभावस्वरूपाख्यानमेतत् ।

कर्मणां क्षये भवः क्षायिकभावः । कर्मणां क्षयोपशमे भवः क्षायोपशमिकभावः । कर्मणामुदये भवः औदयिकभावः । कर्मणामुपशमे भवःऔपशमिकभावः । सकलकर्मोपाधिविनिर्मुक्तः परिणामे भवः पारिणामिकभावः । एषु पंचसु तावदौपशमिकभावो द्विविधः, क्षायिकभावश्च नवविधः, क्षायोपशमिकभावोऽष्टादशभेदः, औदयिकभाव एकविंशतिभेदः, पारिणामिकभावस्त्रिभेदः । अथौपशमिकभावस्य उपशमसम्यक्त्वम् उपशमचारित्रम् च । क्षायिकभावस्य

गाथा ४१

अन्वयार्थः—[न क्षायिकभावस्थानानि] जीवको क्षायिकभावके स्थान नहीं हैं, [न क्षयोपशमस्वभावस्थानानि वा] क्षयोपशमस्वभावके स्थान नहीं हैं, [औदयिकभावस्थानानि] औदयिकभावके स्थान नहीं हैं [वा] अथवा [न उपशमस्वभावस्थानानि] उपशमस्वभावके स्थान नहीं हैं ।

टीकाः—चार विभावस्वभावोंके स्वरूपकथन द्वारा पंचमभावके स्वरूपका यह कथन है ।

[1]कर्मोंके क्षयसे जो भाव हो वह क्षायिकभाव है । कर्मोंके क्षयोपशमसे जो भाव हो वह क्षायोपशमिकभाव है । कर्मोंके उदयसे जो भाव हो वह औदयिकभाव है । कर्मोंके उपशमसे जो भाव हो वह औपशमिकभाव है । सकल कर्मोपाधिसे विमुक्त ऐसा, परिणामसे जो भाव हो वह पारिणामिकभाव है ।

इन पाँच भावोंमें, औपशमिकभावके दो भेद हैं, क्षायिकभावके नौ भेद हैं, क्षायोपशमिकभावके अठारह भेद हैं, औदयिकभावके इक्कीस भेद हैं, पारिणामिकभावके तीन भेद हैं ।

अब, औपशमिकभावके दो भेद इसप्रकार हैं : उपशमसम्यक्त्व और उपशमचारित्र ।

१–कर्मोंके क्षयसे=कर्मोंके क्षयमें; कर्म क्षयके सद्भावमें । [व्यवहारसे कर्म क्षयकी अपेक्षा जीवके जिस भावमें आये वह क्षायिकभाव है ।]

क्षायिकसम्यक्त्वं, यथाख्यातचारित्रं, केवलज्ञानं केवलदर्शनं च, अन्तरायकर्मक्षयसमुपजनितदानलाभभोगोपभोगवीर्याणि चेति । क्षायोपशमिकभावस्य मतिश्रुतावधिमनःपर्ययज्ञानानि चत्वारि, कुमतिकुश्रुतविभंगभेदादज्ञानानि त्रीणि, चक्षुरचक्षुरवधिदर्शनभेदाद्दर्शनानि त्रीणि, कालकरणोपदेशोपशमप्रायोग्यताभेदाल्लब्धयः पंच, वेदकसम्यक्त्वं, वेदकचारित्रं, संयमासंयमपरिणतिश्चेति । औदयिकभावस्य नारकतिर्यङ्मनुष्य देवभेदाद् गतयश्चतस्रः, क्रोधमानमायालोभभेदात् कषायाश्चत्वारः, स्त्रीपुंनपुंसकभेदाल्लिंगानि त्रीणि, सामान्यसंग्रहनयापेक्षया मिथ्यादर्शनमेकम्, अज्ञानं चैकम्, असंयमता चैका, असिद्धत्वं चैकम्, शुक्लपद्मपीतकापोतनीलकृष्णभेदाल्लेश्याः षट् च भवन्ति । पारिणामिकस्य जीवत्वपारिणामिकः, भव्यत्वपारिणामिकः, अभव्यत्वपारिणामिकः इति त्रिभेदाः । अथायं जीवत्वपारिणामिकभावो भव्याभव्यानां सदृशः, भव्यत्वपारिणामिकभावो भव्यानामेव भवति, अभव्यत्वपारिणामिकभावोऽभव्यानामेव भवति । इति पंचभावप्रपंचः ।

क्षायिकभावके नौ भेद इसप्रकार हैं : क्षायिकसम्यक्त्व, यथाख्यातचारित्र, केवलज्ञान और केवलदर्शन, तथा अन्तरायकर्मके क्षयजनित दान, लाभ, भोग, उपभोग और वीर्य ।

क्षायोपशमिकभावके अठारह भेद इसप्रकार हैं : मतिज्ञान, श्रुतज्ञान, अवधिज्ञान और मनःपर्ययज्ञान ऐसे ज्ञान चार; कुमतिज्ञान, कुश्रुतज्ञान और विभंगज्ञान ऐसे भेदोंके कारण अज्ञान तीन; चक्षुदर्शन, अचक्षुदर्शन और अवधिदर्शन ऐसे भेदोंके कारण दर्शन तीन; काललब्धि, करणलब्धि, उपदेशलब्धि, उपशमलब्धि और प्रायोग्यतालब्धि ऐसे भेदोंके कारण लब्धि पाँच; वेदकसम्यक्त्व; वेदकचारित्र और संयमासंयमपरिणति ।

औदयिकभावके इक्कीस भेद इसप्रकार हैं : नारकगति, तिर्यंचगति, मनुष्यगति और देवगति ऐसे भेदोंके कारण गति चार; क्रोधकषाय, मानकषाय, मायाकषाय और लोभकषाय ऐसे भेदोंके कारण कषाय चार; स्त्रीलिंग, पूंलिंग और नपुंसकलिंग ऐसे भेदोंके कारण लिंग तीन; सामान्यसंग्रहनयकी अपेक्षासे मिथ्यादर्शन एक, अज्ञान एक और असंयमता एक, असिद्धत्व एक; शुक्ललेश्या, पद्मलेश्या, पीतलेश्या, कापोतलेश्या, नीललेश्या और कृष्णलेश्या ऐसे भेदोंके कारण लेश्या छह ।

पारिणामिकभावके तीन भेद इसप्रकार हैं : जीवत्वपारिणामिक, भव्यत्वपारिणामिक और अभव्यत्वपारिणामिक । यह जीवत्वपारिणामिकभाव भव्योंको तथा अभव्योंको समान होता है; भव्यत्वपारिणामिकभाव भव्योंको ही होता है; अभव्यत्वपारिणामिकभाव अभव्योंको ही होता है ।

पंचानां भावानां मध्ये क्षायिकभावः कार्यसमयसारस्वरूपः स त्रैलोक्यप्रक्षोभहेतुभूत-तीर्थकरत्वोपार्जितसकलविमलकेवलावबोधसनाथतीर्थनाथस्य भगवतः सिद्धस्य वा भवति । औदयिकौपशमिकक्षायोपशमिकभावाः संसारिणामेव भवन्ति, न मुक्तानाम् । पूर्वोक्तभावचतुष्टमावरणसंयुक्तत्वात् न मुक्तिकारणम् । त्रिकालनिरुपाधिस्वरूपनिरंजननिजपरमपंचमभावभावनया पंचमगतिं मुमुक्षवो यान्ति यास्यन्ति गताश्चेति ।

(आर्या)

अंचितपंचमगतये पंचमभावं स्मरन्ति विद्वान्सः ।
संचितपंचाचाराः किंचनभावप्रपंचपरिहीणाः ।।५८।।

इसप्रकार पाँच भावोंका कथन किया ।

पाँच भावोंमें क्षायिकभाव कार्यसमयसारस्वरूप है; वह (क्षायिकभाव) त्रिलोकमें [1]प्रक्षोभके हेतुभूत तीर्थंकरत्व द्वारा प्राप्त होनेवाले सकल–विमल केवलज्ञानसे युक्त तीर्थनाथको (तथा उपलक्षणसे सामान्य केवलीको) अथवा सिद्धभगवानको होता है । औदयिक, औपशमिक और क्षायोपशमिक भाव संसारियोंको ही होते हैं, मुक्त जीवोंको नहीं ।

पूर्वोक्त चार भाव आवरणसंयुक्त होनेसे मुक्तिका कारण नहीं हैं । त्रिकाल-निरुपाधि जिसका स्वरूप है ऐसे निरंजन निज परम पंचमभावकी (–पारिणामिक-भावकी) भावनासे पंचमगतिमें मुमुक्षु (वर्तमान कालमें) जाते हैं, (भविष्य कालमें) जायेंगे और (भूतकालमें) जाते थे ।

[अब ४१ वीं गाथाकी टीका पूर्ण करते हुए टीकाकार मुनिराज दो श्लोक कहते हैं :]

[श्लोकार्थः—] (ज्ञान, दर्शन, चारित्र, तप और वीर्यरूप) पाँच आचारोंसे युक्त और किंचित् भी परिग्रहप्रपंचसे सर्वथा रहित ऐसे विद्वान पूजनीय पंचमगतिको प्राप्त करनेके लिये पंचमभावका स्मरण करते हैं ।५८।

१–प्रक्षोभ=खलबली । तीर्थङ्करके जन्मकल्याणकादि प्रसंगों पर तीन लोकमें आनन्दमय खलबली होती है ।

(मालिनी)

सुकृतमपि समस्तं भोगिनां भोगमूलं
त्यजतु परमतत्त्वाभ्यासनिष्णातचित्तः ।
उभयसमयसारं सारतत्त्वस्वरूपं
भजतु भवविमुक्त्यै कोऽत्र दोषो मुनीशः ॥५९॥

चउगइभवसंभमणं जाइजरामरणरोगसोगा य ।
कुलजोणिजीवमग्गणठाणा जीवस्स णो संति ॥४२॥

चतुर्गतिभवसंभ्रमणं जातिजरामरणरोगशोकाश्च ।
कुलयोनिजीवमार्गणस्थानानि जीवस्य नो सन्ति ॥४२॥

इह हि शुद्धनिश्चयनयेन शुद्धजीवस्य समस्तसंसारविकारसमुदयो न समस्तीत्युक्तम् । द्रव्यभावकर्मस्वीकाराभावाच्चतसृणां नारकतिर्यङ्मनुष्यदेवत्वलक्षणानां गतीनां परि-

---

[श्लोकार्थः—] समस्त सुकृत (शुभ कर्म) भोगियोंके भोगका मूल है; परम तत्त्वके अभ्यासमें निष्णात चित्तवाले मुनीश्वर भवसे विमुक्त होने हेतु उस समस्त शुभ कर्मको छोड़ो और [1]सारतत्त्वस्वरूप ऐसे उभय समयसारको भजो । इसमें क्या दोष है ? ।५९।

गाथा ४२

अन्वयार्थः—[जीवस्य] जीवको [चतुर्गतिभवसंभ्रमणं] चार गतिके भवोंमें परिभ्रमण, [जातिजरामरणरोगशोकाः] जन्म, जरा, मरण, रोग, शोक, [कुलयोनिजीवमार्गणस्थानानि च] कुल, योनि, जीवस्थान और मार्गणास्थान [नो सन्ति] नहीं है ।

टीकाः—शुद्ध निश्चयनयसे शुद्ध जीवको समस्त संसारविकारोंका समुदाय नहीं है ऐसा यहाँ (इस गाथामें) कहा है ।

१–समयसार सारभूत तत्त्व है ।

चतु—गति भ्रमण नहिं, जन्म-मृत्यु न, रोग, शोक, जरा नहीं ।
कुल योनि नहिं, नहिं जीवस्थान, रु मार्गणाके स्थान नहिं ॥४२॥

भ्रमणं न भवति । नित्यशुद्धचिदानन्दरूपस्य कारणपरमात्मस्वरूपस्य द्रव्यभावकर्मग्रहणयोग्य-विभावपरिणतेरभावान्न जातिजरामरणरोगशोकाश्च । चतुर्गतिजीवानां कुलयोनिविकल्प इह नास्ति इत्युच्यते । तद्यथा—पृथ्वीकायिकजीवानां द्वाविंशतिलक्षकोटिकुलानि, अप्कायिकजीवानां सप्तलक्षकोटिकुलानि, तेजस्कायिकजीवानां त्रिलक्षकोटिकुलानि, वायुकायिकजीवानां सप्तलक्ष-कोटिकुलानि, वनस्पतिकायिकजीवानाम् अष्टोत्तरविंशतिलक्षकोटिकुलानि, द्वीन्द्रियजीवानां सप्त-लक्षकोटिकुलानि, त्रीन्द्रियजीवानाम् अष्टलक्षकोटिकुलानि, चतुरिन्द्रियजीवानां नवलक्षकोटि-कुलानि, पंचेन्द्रियेषु जलचराणां सार्द्धद्वादशलक्षकोटिकुलानि, आकाशचरजीवानां द्वादशलक्षकोटि-कुलानि, चतुष्पदजीवानां दशलक्षकोटिकुलानि, सरीसृपानां नवलक्षकोटिकुलानि, नारकाणां पंचविंशतिलक्षकोटिकुलानि, मनुष्याणां द्वादशलक्षकोटिकुलानि, देवानां षड्विंशतिलक्षकोटि-कुलानि । सर्वाणि सार्द्धसप्तनवत्यग्रशतकोटिलक्षाणि १९७५०००००००००००० ।

द्रव्यकर्म तथा भावकर्मका स्वीकार न होनेसे जीवको नारकत्व, तिर्यंचत्व, मनुष्यत्व और देवत्वस्वरूप चार गतियोंका परिभ्रमण नहीं है ।

नित्य–शुद्ध चिदानन्दरूप कारणपरमात्मस्वरूप जीवको द्रव्यकर्म तथा भावकर्मके ग्रहणको योग्य विभावपरिणतिका अभाव होनेसे जन्म, जरा, मरण, रोग और शोक नहीं है ।

चतुर्गति (–चार गतिके) जीवोंके कुल तथा योनिके भेद जीवमें नहीं हैं ऐसा (अब) कहा जाता है । वह इसप्रकार :

पृथ्वीकायिक जीवोंके बाईस लाख करोड़ कुल हैं; अप्कायिक जीवोंके सात लाख करोड़ कुल हैं; तेजकायिक जीवोंके तीन लाख करोड़ कुल हैं; वायुकायिक जीवोंके सात लाख करोड़ कुल हैं; वनस्पतिकायिक जीवोंके अट्ठाईस लाख करोड़ कुल हैं; द्वीन्द्रिय जीवोंके सात लाख करोड़ कुल हैं; त्रीन्द्रिय जीवोंके आठ लाख करोड़ कुल हैं; चतुरिन्द्रिय जीवोंके नौ लाख करोड़ कुल हैं; पंचेन्द्रिय जीवोंमें जलचर जीवोंके साढ़े बारह लाख करोड़ कुल हैं; खेचर जीवोंके बारह लाख करोड़ कुल हैं; चार पैर वाले जीवोंके दस लाख करोड़ कुल हैं; सर्पादिक पेटसे चलनेवाले जीवोंके नौ लाख करोड़ कुल हैं; नारकोंके पचीस लाख करोड़ कुल हैं; मनुष्योंके बारह लाख करोड़ कुल हैं और देवोंके छब्बीस लाख करोड़ कुल हैं । कुल मिलकर एक सौ साढ़े सत्तानवे लाख करोड़ (१९७५०००,०००,०००,००) कुल हैं ।

पृथ्वीकायिकजीवानां सप्तलक्षयोनिमुखानि, अप्कायिकजीवानां सप्तलक्षयोनिमुखानि, तेजस्कायिकजीवानां सप्तलक्षयोनिमुखानि, वायुकायिकजीवानां सप्तलक्षयोनिमुखानि, नित्य-निगोदिजीवानां सप्तलक्षयोनिमुखानि, चतुर्गतिनिगोदिजीवानां सप्तलक्षयोनिमुखानि, वनस्पति-कायिकजीवानां दशलक्षयोनिमुखानि, द्वीन्द्रियजीवानां द्विलक्षयोनिमुखानि, त्रीन्द्रियजीवानां द्विलक्षयोनिमुखानि, चतुरिन्द्रियजीवानां द्विलक्षयोनिमुखानि, देवानां चतुर्लक्षयोनिमुखानि, नारकाणां चतुर्लक्षयोनिमुखानि, तिर्यग्जीवानां चतुर्लक्षयोनिमुखानि, मनुष्याणां चतुर्दशलक्ष-योनिमुखानि ।

स्थूलसूक्ष्मैकेन्द्रियसंज्ञ्यसंज्ञिपंचेन्द्रियद्वीन्द्रियत्रीन्द्रियचतुरिन्द्रियपर्याप्तापर्याप्तकभेद-सनाथचतुर्दशजीवस्थानानि । गतीन्द्रियकाययोगवेदकषायज्ञानसंयमदर्शनलेश्याभव्यसम्यक्त्व-संज्ञ्याहारविकल्पलक्षणानि मार्गणास्थानानि । एतानि सर्वाणि च तस्य भगवतः परमात्मनः शुद्धनिश्चयनयबलेन न सन्तीति भगवतां सूत्रकृतामभिप्रायः ।

पृथ्वीकायिक जीवोंके सात लाख योनिमुख हैं; अप्कायिक जीवोंके सात लाख योनिमुख हैं; तेजकायिक जीवोंके सात लाख योनिमुख हैं; वायुकायिक जीवोंके सात लाख योनिमुख हैं; नित्य निगोदी जीवोंके सात लाख योनिमुख हैं; चतुर्गति (–चार गतिमें परिभ्रमण करनेवाले अर्थात् इतर) निगोदी जीवोंके सात लाख योनिमुख हैं; वनस्पतिकायिक जीवोंके दस लाख योनिमुख हैं; द्वीन्द्रिय जीवोंके दो लाख योनिमुख हैं; त्रीन्द्रिय जीवोंके दो लाख योनिमुख हैं; चतुरिन्द्रिय जीवोंके दो लाख योनिमुख हैं; देवोंके चार लाख योनिमुख हैं; नारकोंके चार लाख योनिमुख हैं; तिर्यंच जीवोंके चार लाख योनिमुख हैं; मनुष्योंके चौदह लाख योनिमुख हैं । (कुल मिलकर ८४००००० योनिमुख हैं ।)

सूक्ष्म एकेन्द्रिय पर्याप्त और अपर्याप्त, स्थूल एकेन्द्रिय पर्याप्त और अपर्याप्त, द्वीन्द्रिय पर्याप्त और अपर्याप्त, त्रीन्द्रिय पर्याप्त और अपर्याप्त, चतुरिन्द्रिय पर्याप्त और अपर्याप्त, असंज्ञी पंचेन्द्रिय पर्याप्त और अपर्याप्त, संज्ञी पंचेन्द्रिय पर्याप्त और अपर्याप्त—ऐसे भेदोंवाले चौदह जीवस्थान हैं ।

गति, इन्द्रिय, काय, योग, वेद, कषाय, ज्ञान, संयम, दर्शन, लेश्या, भव्यत्व, सम्यक्त्व, संज्ञित्व और आहार—ऐसे भेदस्वरूप (चौदह) मार्गणास्थान हैं ।

यह सब, उन भगवान परमात्माको शुद्धनिश्चयनयके बलसे (–शुद्धनिश्चयनयसे) नहीं हैं—ऐसा भगवान सूत्रकर्ताका (श्रीमद्भगवत्कुन्दकुन्दाचार्यदेवका) अभिप्राय है ।

तथा चोक्तं श्रीमदमृतचंद्रसूरिभिः—

(मालिनी)

"सकलमपि विहायाह्नाय चिच्छक्तिरिक्तं
स्फुटतरमवगाह्य स्वं च चिच्छक्तिमात्रम् ।
इममुपरि चरंतं चारु विश्वस्य साक्षात्
कलयतु परमात्मात्मानमात्मन्यनंतम् ॥"

(अनुष्टुभ्)

"चिच्छक्तिव्याप्तसर्वस्वसारो जीव इयानयम् ।
अतोऽतिरिक्ताः सर्वेऽपि भावाः पौद्गलिका अमी ॥"

तथा हि—

(मालिनी)

अनवरतमखण्डज्ञानसद्भावनात्मा
व्रजति न च विकल्पं संसृतेर्घोररूपम् ।
अतुलमनघमात्मा निर्विकल्पः समाधिः
परपरिणतिदूरं याति चिन्मात्रमेषः ॥६०॥

इसीप्रकार (आचार्यदेव) श्रीमद् अमृतचन्द्रसूरिने (श्री समयसारकी आत्मख्याति नामक टीकामें ३५–३६ वें श्लोकों द्वारा) कहा है कि:—

"[श्लोकार्थ:—] चित्शक्तिसे रहित अन्य सकल भावोंको मूलसे छोड़कर और चित्शक्तिमात्र ऐसे निज आत्माका अति स्फुटरूपसे अवगाहन करके, आत्मा समस्त विश्वके ऊपर प्रवर्तमान ऐसे इस केवल (एक) अविनाशी आत्माको आत्मामें साक्षात् अनुभव करो ।"

"[श्लोकार्थ:—] चैतन्यशक्तिसे व्याप्त जिसका सर्वस्व–सार है ऐसा यह जीव इतना ही मात्र है; इस चित्शक्तिसे शून्य जो यह भाव हैं वे सब पौद्गलिक हैं ।"

और (४२ वीं गाथाकी टीका पूर्ण करते हुए टीकाकार मुनिराज दो श्लोक कहते हैं) :—

[श्लोकार्थ:—] सततरूपसे अखण्ड ज्ञानकी सद्भावनावाला आत्मा (अर्थात् "मैं अखण्ड ज्ञान हूँ" ऐसी सच्ची भावना जिसे निरन्तर वर्तती है वह आत्मा) संसारके

(स्रग्धरा)

इत्थं बुद्ध्वोपदेशं जननमृतिहरं यं जरानाशहेतुं
भक्तिप्रह्वामरेन्द्रप्रकटमुकुटसद्रत्नमालार्चितांघ्रेः ।
वीरात्तीर्थाधिनाथाद्दुरितमलकुलध्वांतविध्वंसदक्षं
एते संतो भवाब्धेरपरतटममी यांति सच्छीलपोताः ॥६१॥

णिद्दंडो णिद्दंद्दो णिम्ममो णिक्कलो णिरालंबो ।
णीरागो णिद्दोसो णिम्मूढो णिब्भयो अप्पा ॥४३॥

निर्दण्डः निर्द्वन्द्वः निर्ममः निःकलः निरालंबः ।
नीरागः निर्दोषः निर्मूढः निर्भयः आत्मा ॥४३॥

घोर विकल्पको नहीं पाता, किन्तु निर्विकल्प समाधिको प्राप्त करता हुआ परपरिणतिसे रहू, अनुपम, [1]अनघ चिन्मात्रको (चैतन्यमात्र आत्माको) प्राप्त होता है ।६०।

[श्लोकार्थः—] भक्तिसे नमित देवेन्द्र मुकुटकी सुन्दर रत्नमाला द्वारा जिनके चरणोंको प्रगटरूपसे पूजते हैं ऐसे महावीर तीर्थाधिनाथ द्वारा यह सन्त जन्म–जरा–मृत्युका नाशक तथा दुष्ट पापसमूहरूपी अंधकारका ध्वंस करनेमें चतुर ऐसा इसप्रकारका (पूर्वोक्त) उपदेश समझकर, सत्‌शीलरूपी नौका द्वारा भवाब्धिके सामने किनारे पहुँच जाते हैं ।६१।

गाथा ४३

अन्वयार्थः—[आत्मा] आत्मा [निर्दण्डः] [2]निर्दंड [निर्द्वन्द्वः] निर्द्वन्द्व, [निर्ममः] निर्मम, [निःकलः] निःशरीर, [निरालंबः] निरालंब, [नीरागः] निराग, [निर्दोषः] निर्दोष, [निर्मूढः] निर्मूढ और [निर्भयः] निर्भय है ।

१–अनघ=दोष रहित; निष्पाप; मल रहित ।

२–निर्दण्ड=दण्ड रहित । (जिस मनवचनकायाश्रित प्रवर्तनसे आत्मा दण्डित होता है उस प्रवर्तनको दण्ड कहा जाता है ।)

निर्दंड अरु निर्द्वंद्व निर्मम निःशरीर निराग है ।
निर्मूढ़ निर्भय, निरवलंबन आत्मा निर्दोष है ॥४३॥

इह हि शुद्धात्मनः समस्तविभावाभावत्वमुक्तम् ।

मनोदण्डो वचनदण्डः कायदण्डश्चेत्येतेषां योग्यद्रव्यभावकर्मणामभावान्निर्दण्डः। निश्चयेन परमपदार्थव्यतिरिक्तसमस्तपदार्थसार्थाभावान्निर्द्वन्द्वः । प्रशस्ताप्रशस्तसमस्तमोहरागद्वेषाभावान्निर्ममः । निश्चयेनौदारिकवैक्रियिकाहारकतैजसकार्मणाभिधानपंचशरीरप्रपंचाभावान्निःकलः । निश्चयेन परमात्मनः परद्रव्यनिरवलम्बत्वान्निरालंबः । मिथ्यात्ववेदरागद्वेषहास्यरत्यरतिशोकभयजुगुप्साक्रोधमानमायालोभाभिधानाभ्यन्तरचतुर्दशपरिग्रहाभावान्नीरागः । निश्चयेन निखिलदुरितमलकलंकपंकनिर्निक्तसमर्थसहजपरमवीतरागसुखसमुद्रमध्यनिर्मग्नस्फुटितसहजावस्थात्मसहजज्ञानगात्रपवित्रत्वान्निर्दोषः । सहजनिश्चयनयबलेन सहजज्ञानसहजदर्शनसहजचारित्रसहजपरमवीतरागसुखाद्यनेकपरमधर्माधारनिजपरमतत्त्वपरिच्छेदनसमर्थत्वान्निर्मूढः, अथवा साद्यनिधनामूर्तातीन्द्रियस्वभावशुद्धसद्भूतव्यवहारनयबलेन त्रिकालत्रिलोकवर्तिस्थावरजंगमात्मकनिखिलद्रव्य-

---

टीकाः—यहाँ (इस गाथामें) वास्तवमें शुद्ध आत्माको समस्त विभावका अभाव है ऐसा कहा है ।

मनदण्ड, वचनदण्ड और कायदण्डके योग्य द्रव्यकर्मों तथा भावकर्मोंका अभाव होनेसे आत्मा निर्दण्ड है । निश्चयसे परम पदार्थके अतिरिक्त समस्त पदार्थसमूहका (आत्मामें) अभाव होनेसे आत्मा निर्द्वन्द्व (द्वैत रहित) है । प्रशस्त–अप्रशस्त समस्त मोह राग–द्वेषका अभाव होनेसे आत्मा निर्मम (ममता रहित) है । निश्चयसे औदारिक, वैक्रियिक, आहारक, तैजस और कार्मण नामक पाँच शरीरोंके समूहका अभाव होनेसे आत्मा निःशरीर है । निश्चयसे परमात्माको परद्रव्यका अवलम्बन न होनेसे आत्मा निरालम्ब है । मिथ्यात्व, वेद, राग, द्वेष, हास्य, रति, अरति, शोक, भय, जुगुप्सा, क्रोध, मान, माया और लोभ नामक चौदह अभ्यतर परिग्रहोंका अभाव होनेसे आत्मा निराग है । निश्चयसे समस्त पापमलकलंकरूपी कीचड़को धो डालनेमें समर्थ, सहज–परमवीतराग–सुखसमुद्रमें मग्न (डूबी हुई लीन) प्रगट सहजावस्थास्वरूप जो सहजज्ञानशरीर उसके द्वारा पवित्र होनेके कारण आत्मा निर्दोष है । सहज निश्चयनयसे सहज ज्ञान, सहज दर्शन, सहज चारित्र, सहज परमवीतराग सुख आदि अनेक परम धर्मोंके आधारभूत निज परमतत्त्वको जाननेमें समर्थ होनेसे आत्मा निर्मूढ़ (मूढ़ता रहित) है; अथवा, सादि–अनन्त अमूर्त अतीन्द्रिय स्वभाववाले शुद्धसद्भूत व्यवहारनयसे तीन काल और तीन लोकके स्थावर–जंगमस्वरूप समस्त द्रव्य–गुण-

गुणपर्यायैकसमयपरिच्छित्तिसमर्थसकलविमलकेवलज्ञानावस्थत्वान्निर्मूढश्च । निखिलदुरितवीरवैरि-वाहिनीदुःप्रवेशनिजशुद्धान्तस्तत्त्वमहादुर्गनिलयत्वान्निर्भयः । अयमात्मा ह्युपादेयः इति ।

तथा चोक्तममृताशीतौ—

(मालिनी)

"स्वरनिकरविसर्गव्यंजनाद्यक्षरैर्यद्
रहितमहितहीनं शाश्वतं मुक्तसंख्यम् ।
अरसतिमिररूपस्पर्शगंधाम्बुवायु-
क्षितिपवनसखाणुस्थूल दिक्चक्रवालम् ।।"

तथा हि—

(मालिनी)

दुरघवनकुठारः प्राप्तदुःकर्मपारः
परपरिणतिदूरः प्रास्तरागाब्धिपूरः ।
हतविविधविकारः सत्यशर्माब्धिनीरः ।
सपदि समयसारः पातु मामस्तमारः ।।६२।।

पर्यायोंको एक समयमें जाननेमें समर्थ सकल–विमल (सर्वथा निर्मल) केवलज्ञानरूपसे अवस्थित होनेसे आत्मा निर्मूढ़ है । समस्त पापरूपी शूरवीर शत्रुओंकी सेना जिसमें प्रवेश नहीं कर सकती ऐसे निज शुद्ध अन्तःतत्त्वरूप महा दुर्गमें (किलेमें) निवास करनेसे आत्मा निर्भय है । ऐसा यह आत्मा वास्तवमें उपादेय है ।

इसीप्रकार (श्री योगीन्द्रदेवकृत) अमृताशीतिमें (५७ वें श्लोक द्वारा) कहा है कि :—

[श्लोकार्थः—] आत्मतत्त्व स्वरसमूह, विसर्ग और व्यंजनादि अक्षरों रहित तथा संख्या रहित है (अर्थात् अक्षर और अंकका आत्मतत्त्वमें प्रवेश नहीं है), अहित रहित है, शाश्वत है, अंधकार तथा स्पर्श, रस, गंध और रूप रहित है, पृथ्वी, जल, अग्नि और वायुके अणुओं रहित है तथा स्थूल दिक्चक्र (दिशाओंके समूह) रहित है ।

और (४३ वीं गाथाकी टीका पूर्ण करते हुए टीकाकार मुनिराज सात श्लोक कहते हैं) :—

[श्लोकार्थः—] जो (समयसार) दुष्ट पापोंके वनको छेदनेका कुठार है,

(मालिनी)

जयति परमतत्त्वं तत्त्वनिष्णातपद्म-
प्रभमुनिहृदयाब्जे संस्थितं निर्विकारम् ।
हतविविधविकल्पं कल्पनामात्ररम्याद्
भवभवसुखदुःखान्मुक्तमुक्तं बुधर्यत् ॥६३॥

(मालिनी)

अनिशमतुलबोधाधीनमात्मानमात्मा
सहजगुणमणीनामाकरं तत्त्वसारम् ।
निजपरिणतिशर्माम्भोधिमज्जन्तमेनं
भजतु भवविमुक्त्यै भव्यताप्रेरितो यः ॥६४॥

(द्रुतविलंबित)

भवभोगपराङ्मुख हे यते
पदमिदं भवहेतुविनाशनम् ।
भज निजात्मनिमग्नमते पुन-
स्तव किमध्रुववस्तुनि चिन्तया ॥६५॥

जो दुष्ट कर्मोंके पारको प्राप्त हुआ है (अर्थात् जिसने कर्मोंका अन्त किया है), जो परपरिणतिसे दूर है, जिसने रागरूपी समुद्रके पूरको नष्ट किया है, जिसने विविध विकारोंका हनन कर दिया है, जो सच्चे सुखसागरका नीर है और जिसने कामको अस्त किया है, वह समयसार मेरी शीघ्र रक्षा करो ।६२।

[श्लोकार्थः—] जो तत्त्वनिष्णात (वस्तुस्वरूपमें निपुण) पद्मप्रभमुनिके हृदयकमलमें सुस्थित है, जो निर्विकार है, जिसने विविध विकल्पोंका हनन कर दिया है, और जिसे बुधपुरुषोंने कल्पनामात्र–रम्य ऐसे भवभवके सुखोंसे तथा दुःखोंसे मुक्त (रहित) कहा है, वह परमतत्त्व जयवन्त है ।६३।

[श्लोकार्थः—] जो आत्मा भव्यता द्वारा प्रेरित हो, वह आत्मा भवसे विमुक्त होनेके हेतु निरन्तर इस आत्माको भजो—कि जो (आत्मा) अनुपम ज्ञानके आधीन है, जो सहजगुणमणिकी खान है, जो (सर्व) तत्त्वोंमें सार है और जो निजपरिणतिके सुखसागरमें मग्न होता है ।६४।

[श्लोकार्थः—] निज आत्मामें लीन बुद्धिवाले तथा भवसे और भोगसे

(द्रुतविलंबित)

समयसारमनाकुलमच्युतं
जननमृत्युरुजादिविवर्जितम् ।
सहजनिर्मलशर्मसुधामयं
समरसेन सदा परिपूजये ॥६६॥

(इंद्रवज्रा)

इत्थं निजज्ञेन निजात्मतत्त्व-
मुक्तं पुरा सूत्रकृता विशुद्धम् ।
बुद्ध्वा च यन्मुक्तिमुपैति भव्य-
स्तद्भावयाम्युत्तमशर्मणेऽहम् ॥६७॥

(वसंततिलका)

आद्यन्तमुक्तमनघं परमात्मतत्त्वं
निर्द्वन्द्वमक्षयविशालवरप्रबोधम् ।
तद्भावनापरिणतो भुवि भव्यलोकः
सिद्धिं प्रयाति भवसंभवदुःखदूराम् ॥६८॥

पराङ्मुख हुए हे यति ! तू भवहेतुका विनाश करनेवाले ऐसे इस (ध्रुव) पदको भज; अध्रुव वस्तुकी चिन्तासे तुझे क्या प्रयोजन है ? ।६५।

[श्लोकार्थः—] जो अनाकुल है, *अच्युत है, जन्म–मृत्यु–रोगादि रहित है, सहज निर्मल सुखामृतमय है, उस समयसारको मैं समरस (समताभाव) द्वारा सदा पूजता हूँ ।६६।

[श्लोकार्थः—] इसप्रकार पहले निजज्ञ सूत्रकारने (आत्मज्ञानी सूत्रकर्ता श्रीमद्भगवत्कुन्दकुन्दाचार्यदेवने) जिस निजात्मतत्त्वका वर्णन किया और जिसे जानकर भव्य जीव मुक्तिको प्राप्त करते हैं, उस निजात्मतत्त्वको उत्तम सुखकी प्राप्तिके हेतु मैं भाता हूँ ।६७।

[श्लोकार्थः—] परमात्मतत्त्व आदि–अन्त रहित है, दोष रहित है, निर्द्वन्द्व है और अक्षय विशाल उत्तम ज्ञानस्वरूप है । जगतमें जो भव्य जन उसकी भावनारूप परिणमित होते हैं, वे भवजनित दुःखोंसे दूर ऐसी सिद्धिको प्राप्त करते हैं ।६८।

---

* अच्युत=अस्खलित; निजस्वरूपसे न हटा हुआ ।

णिग्गंथो णीरागो णिस्सल्लो सयलदोसणिम्मुक्को ।
णिक्कामो णिक्कोहो णिम्माणो णिम्मदो अप्पा ।।४४।।

निर्ग्रन्थो नीरागो निःशल्यः सकलदोषनिर्मुक्तः ।
निःकामो निःक्रोधो निर्मानो निर्मदः आत्मा ।।४४।।

अत्रापि शुद्धजीवस्वरूपमुक्तम् ।

बाह्याभ्यन्तरचतुर्विंशतिपरिग्रहपरित्यागलक्षणत्वान्निर्ग्रन्थः । सकलमोहरागद्वेषात्मकचेतनकर्माभावान्नीरागः । निदानमायामिथ्याशल्यत्रयाभावान्निःशल्यः । शुद्धनिश्चयनयेन शुद्धजीवास्तिकायस्य द्रव्यभावनोकर्माभावात् सकलदोषनिर्मुक्तः । शुद्धनिश्चयनयेन निजपरमतत्त्वेऽपि वाञ्छाभावान्निःकामः । निश्चयनयेन प्रशस्ताप्रशस्तसमस्तपरद्रव्यपरिणतेरभावान्निःक्रोधः ।

गाथा ४४

अन्वयार्थः—[आत्मा] आत्मा [निर्ग्रन्थः] निर्ग्रंन्थ, [नीरागः] निराग, [निःशल्यः] निःशल्य, [सकलदोषनिर्मुक्तः] सर्वदोषविमुक्त, [निःकामः] निष्काम, [निःक्रोधः] निःक्रोध, [निर्मानः] निर्मान और [निर्मदः] निर्मद है ।

टीकाः—यहाँ (इस गाथामें) भी शुद्ध जीवका स्वरूप कहा है ।

शुद्ध जीवास्तिकाय बाह्य–अभ्यंतर [1]चौवीस परिग्रहके परित्यागस्वरूप होनेसे निर्ग्रन्थ है; सकल मोह–राग–द्वेषात्मक चेतन कर्मके अभावके कारण निराग है; निदान, माया और मिथ्यात्व—इन तीन शल्योंके अभावके कारण निःशल्य है; शुद्ध निश्चयनयसे शुद्ध जीवास्तिकायको द्रव्यकर्म, भावकर्म और नोकर्मका अभाव होनेके कारण सर्वदोषविमुक्त है; शुद्ध निश्चयनयसे निज परम तत्त्वकी भी वांछा न होनेसे निष्काम है; निश्चयनयसे प्रशस्त–अप्रशस्त समस्त परद्रव्यपरिणतिका अभाव होनेके कारण निःक्रोध है; निश्चयनयसे सदा परम समरसीभावस्वरूप होनेके कारण निर्मान है; निश्चयनयसे

१–क्षेत्र, मकान, चाँदी, सोना, धन, धान्य, दासी, दास, वस्त्र और बरतन—ऐसा दस प्रकारका बाह्य परिग्रह है; एक मिथ्यात्व, चार कषाय और नौ नोकषाय ऐसा चौदह प्रकारका अभ्यन्तर परिग्रह है।

निर्ग्रन्थ है, निराग है, निःशल्य, जीव अमान है ।
सब दोष रहित, अक्रोध, निर्मद जीव यह निष्काम है ।।४४।।

निश्चयनयेन सदा परमसमरसीभावात्मकत्वान्निर्मानः । निश्चयनयेननिःशेषतोऽन्तर्मुखत्वान्निर्मदः । उक्तप्रकारविशुद्धसहजसिद्धनित्यनिरावरणनिजकारणसमयसारस्वरूपमुपादेयमिति ।

तथा चोक्तं श्रीमदमृतचन्द्रसूरिभिः—

(मंदाक्रांता)

"इत्युच्छेदात्परपरिणतेः कर्तृकर्मादिभेद-
भ्रान्तिध्वंसादपि च सुचिराल्लब्धशुद्धात्मतत्त्वः ।
सञ्चिन्मात्रे महसि विशदे मूर्छितश्चेतनोऽयं
स्थास्यत्युद्यत्सहजमहिमा सर्वदा मुक्त एव ॥"

तथा हि—

(मंदाक्रांता)

ज्ञानज्योतिःप्रहतदुरितध्वान्तसंघातकात्मा
नित्यानन्दाद्यतुलमहिमा सर्वदा मूर्तिमुक्तः ।
स्वस्मिन्नुच्चैरविचलतया जातशीलस्य मूलं
यस्तं वन्दे भवभयहरं मोक्षलक्ष्मीशमीशम् ॥६९॥

निःशेषरूपसे अंतर्मुख होनेके कारण निर्मद है। उक्त प्रकारका (ऊपर कहे हुए प्रकारका), विशुद्ध सहजसिद्ध नित्य–निरावरण निज कारणसमयसारका स्वरूप उपादेय है।

इसीप्रकार (आचार्यदेव) श्रीमद् अमृतचन्द्रसूरिने (श्री प्रवचनसारकी टीकामें ८ वें श्लोक द्वारा) कहा है कि:—

[श्लोकार्थः—] इसप्रकार परपरिणतिके उच्छेद द्वारा (अर्थात् परद्रव्यरूप परिणमनके नाश द्वारा) तथा कर्ता, कर्म आदि भेद होनेकी जो भ्रान्ति उसके भी नाश द्वारा अन्तमें जिसने शुद्ध आत्मतत्त्वको उपलब्ध किया है—ऐसा यह आत्मा, चैतन्यमात्ररूप विशद (निर्मल) तेजमें लीन रहता हुआ, अपनी सहज (स्वाभाविक) महिमाके प्रकाशमानरूपसे सर्वदा मुक्त ही रहेगा।"

और (४४ वीं गाथाकी टीका पूर्ण करते हुए टीकाकार मुनिराज श्लोक कहते हैं) :—

[श्लोकार्थः—] जिसने ज्ञानज्योति द्वारा पापरूपी अंधकारसमूहका नाश किया है, जो नित्य आनन्द आदि अतुल महिमाका धारण करनेवाला है, जो सर्वदा

वण्णरसगंधफासा थीपुंसणउंसयादिपज्जाया ।
संठाणा संहणणा सव्वे जीवस्स णो संति ॥४५॥

अरसमरूवमगंधं अव्वत्तं चेदणागुणमसद्दं ।
जाण अलिंगग्गहणं जीवमणिद्दिट्ठसंठाणं ॥४६॥

वर्णरसगंधस्पर्शाः स्त्रीपुंनपुंसकादिपर्यायाः ।
संस्थानानि संहननानि सर्वे जीवस्य नो सन्ति ॥४५॥

अरसमरूपमगंधमव्यक्तं चेतनागुणमशब्दम् ।
जानीह्यलिंगग्रहणं जीवमनिर्दिष्टसंस्थानम् ॥४६॥

इह हि परमस्वभावस्य कारणपरमात्मस्वरूपस्य समस्तपौद्गलिकविकारजातं न समस्तीत्युक्तम् ।

अमूर्त है, जो अपनेमें अत्यन्त अविचलपने द्वारा उत्तम शीलका मूल है, उस भवभयको हरनेवाले मोक्षलक्ष्मीके ऐश्वर्यवान स्वामीको मैं वन्दन करता हूँ ।६९।

गाथा ४५–४६

अन्वयार्थः—[वर्णरसगंधस्पर्शाः] वर्ण-रस-गंध-स्पर्श, [स्त्रीपुंनपुंसकादिपर्यायाः] स्त्री-पुरुष-नपुंसकादि पर्यायें, [संस्थानानि] संस्थान और [संहननानि] संहनन–[सर्वे] यह सब [जीवस्य] जीवको [नो सन्ति] नहीं हैं ।

[जीवम्] जीवको [अरसम्] अरस, [अरूपम्] अरूप, [अगंधम्] अगंध, [अव्यक्तम्] अव्यक्त, [चेतनागुणम्] चेतनागुणवाला, [अशब्दम्] अशब्द, [अलिंगग्रहणम्] अलिंगग्रहण (लिंगसे अग्राह्य) और [अनिर्दिष्टसंस्थानम्] जिसे कोई संस्थान नहीं कहा है ऐसा [जानीहि] जान ।

टीकाः—यहाँ (इन दो गाथाओंमें) परमस्वभावभूत ऐसा जो कारण परमात्माका स्वरूप उसे समस्त पौद्गलिक विकारसमूह नहीं है ऐसा कहा है ।

नहिं स्पर्श–रस–अरु गंध–वर्ण न, क्लीव, नर–नारी नहीं ।
संस्थान संहनन सर्व ही ये भाव सब जीवको नहीं ॥४५॥

रस, रूप, गंध न, व्यक्त नहिं, नहिं शब्द, चेतनगुणमयी ।
निर्दिष्ट नहिं संस्थान, होता जीवलिंग–ग्रहण नहीं ॥४६॥

निश्चयेन वर्णपंचकं, रसपंचकं, गन्धद्वितयं, स्पर्शाष्टकं, स्त्रीपुंनपुंसकादिविजातीयविभावव्यंजनपर्यायाः, कुब्जादिसंस्थानानि, वज्रर्षभनाराचादिसंहननानि विद्यन्ते पुद्गलानामेव, न जीवानाम् । संसारावस्थायां संसारिणो जीवस्य स्थावरनामकर्मसंयुक्तस्य कर्मफलचेतना भवति, त्रसनामकर्मसनाथस्य कार्ययुतकर्मफलचेतना भवति । कार्यपरमात्मनः कारणपरमात्मनश्च शुद्धज्ञानचेतना भवति । अत एव कार्यसमयसारस्य वा कारणसमयसारस्य वा शुद्धज्ञानचेतना सहजफलरूपा भवति । अतः सहजशुद्धज्ञानचेतनात्मानं निजकारणपरमात्मानं संसारावस्थायां मुक्तावस्थायां वा सर्वदैकरूपत्वादुपादेयमिति हे शिष्य त्वं जानीहि इति ।

तथा चोक्तमेकत्वसप्ततौ—

(मंदाक्रांता)

"आत्मा भिन्नस्तदनुगतिमत्कर्म भिन्नं तयोर्या
प्रत्यासत्तेर्भवति विकृतिः साऽपि भिन्ना तथैव ।
कालक्षेत्रप्रमुखमपि यत्तच्च भिन्नं मतं मे
भिन्नं भिन्नं निजगुणकलालंकृतं सर्वमेतत् ।।"

निश्चयसे पाँच वर्ण, पाँच रस, दो गंध, आठ स्पर्श, स्त्री–पुरुष–नपुंसकादि विजातीय विभावव्यंजनपर्यायें, कुब्जादि संस्थान, वज्रर्षभनाराचादि संहनन पुद्गलोंको ही हैं, जीवोंको नहीं हैं । संसार–दशामें स्थावरनामकर्मयुक्त संसारी जीवको कर्मफलचेतना होती है, त्रसनामकर्मयुक्त संसारी जीवको कार्य सहित कर्मफलचेतना होती है । कार्यपरमात्मा और कारणपरमात्माको शुद्धज्ञानचेतना होती है । इसीसे कार्यसमयसार अथवा कारणसमयसारको सहजफलरूप शुद्धज्ञानचेतना होती है । इसलिये सहजशुद्ध–ज्ञानचेतनास्वरूप निज कारणपरमात्मा संसारावस्थामें या मुक्तावस्थामें सर्वदा एकरूप होनेसे उपादेय है ऐसा, हे शिष्य ! तू जान ।

इसप्रकार एकत्वसप्ततिमें (श्री पद्मनन्दि–आचार्यदेवकृत पद्मनन्दिपंचविंशतिका नामक शास्त्रमें एकत्वसप्तति नामक अधिकारमें ७९ वें श्लोक द्वारा) कहा है कि:—

[श्लोकार्थ:—] मेरा ऐसा मंतव्य है कि—आत्मा पृथक् है और उसके पीछे-पीछे चलनेवाला कर्म पृथक् है; आत्मा और कर्मकी अति निकटतासे जो विकृति होती है वह भी उसीप्रकार (आत्मासे) पृथक् है; और काल–क्षेत्रादि जो हैं वे भी (आत्मासे)

तथा हि—

(मालिनी)

असति च सति बन्धे शुद्धजीवस्य रूपाद्
रहितमखिलमूर्तद्रव्यजालं विचित्रम् ।
इति जिनपतिवाक्यं वक्ति शुद्धं बुधानां
भुवनविदितमेतद्भव्य जानीहि नित्यम् ॥७०॥

जारिसिया सिद्धप्पा भवमल्लिय जीव तारिसा होंति ।
जरमरणजम्ममुक्का अट्ठगुणालंकिया जेण ॥४७॥

यादृशाः सिद्धात्मानो भवमालीना जीवास्तादृशा भवन्ति ।
जरामरणजन्ममुक्ता अष्टगुणालंकृता येन ॥४७॥

पृथक् हैं । निज निज गुणकलासे अलंकृत यह सब पृथक्–पृथक् हैं (अर्थात् अपने–अपने गुणों तथा पर्यायोंसे युक्त सर्व द्रव्य अत्यन्त भिन्न–भिन्न हैं) ।"

और (इन दो गाथाओंकी टीका पूर्ण करते हुए टीकाकार मुनिराज श्लोक कहते हैं) :—

[श्लोकार्थः—] "बन्ध हो न हो (अर्थात् बन्धावस्थामें या मोक्षावस्थामें), समस्त विचित्र मूर्तद्रव्यजाल (अनेकविध मूर्तद्रव्योंका समूह) शुद्ध जीवके रूपसे व्यतिरिक्त है" ऐसा जिनदेवका शुद्ध वचन बुधपुरुषोंको कहते हैं । इस भुवनविदितको (–इस जगतप्रसिद्ध सत्यको), हे भव्य ! तू सदा जान ।७०।

गाथा ४७

अन्वयार्थः—[**यादृशाः**] जैसे [**सिद्धात्मानः**] सिद्ध आत्मा हैं [**तादृशाः**] वैसे [**भवम् आलीनाः जीवाः**] भवलीन (संसारी) जीव [**भवन्ति**] हैं, [**येन**] जिससे (वे संसारी जीव सिद्धात्माओंकी भाँति) [**जरामरणजन्ममुक्ताः**] जन्म–जरा–मरणसे रहित और [**अष्टगुणालंकृताः**] आठ गुणोंसे अलंकृत हैं ।

है सिद्ध जैसे जीव, त्यों भवलीन संसारी वही ।
गुण आठसे जो है अलंकृत जन्म-मरण-जरा नहीं ॥४७॥

शुद्धद्रव्यार्थिकनयाभिप्रायेण संसारिजीवानां मुक्तजीवानां विशेषाभावोपन्यासोयम् ।

ये केचिद् अत्यासन्नभव्यजीवाः ते पूर्वं संसारावस्थायां संसारक्लेशायासचित्ताः सन्तः सहजवैराग्यपरायणाः द्रव्यभावलिंगधराः परमगुरुप्रसादासादितपरमागमाभ्यासेन सिद्धक्षेत्रं परिप्राप्य निर्व्याबाधसकलविमलकेवलज्ञानकेवलदर्शनकेवलसुखकेवलशक्तियुक्ताः सिद्धात्मानः कार्यसमयसाररूपाः कार्यशुद्धाः । ते यादृशास्तादृशा एव भविनः शुद्धनिश्चयनयेन । येन कारणेन तादृशास्तेन जरामरणजन्ममुक्ताः सम्यक्त्वाद्यष्टगुणपुष्टितुष्टाश्चेति ।

(अनुष्टुभ्)

प्रागेव शुद्धता येषां सुधियां कुधियामपि ।
नयेन केनचित्तेषां भिदां कामपि वेद्म्यहम् ॥७१॥

टीकाः—शुद्ध द्रव्यार्थिक नयके अभिप्रायसे संसारी जीवोंमें और मुक्त जीवोंमें अन्तर न होनेका यह कथन है ।

जो कोई अति–आसन्न–भव्य जीव हुए, वे पहले संसारावस्थामें संसार–क्लेशसे थके चित्तवाले होते हुए सहजवैराग्यपरायण होनेसे द्रव्यभाव लिंगको धारण करके परम-गुरुके प्रसादसे प्राप्त किये हुए परमागमके अभ्यास द्वारा सिद्धक्षेत्रको प्राप्त करके अव्याबाध (बाधा रहित) सकल–विमल (सर्वथा निर्मल) केवलज्ञान–केवलदर्शन–केवलसुख–केवलवीर्ययुक्त सिद्धात्मा होगये—कि जो सिद्धात्मा कार्यसमयसाररूप हैं, *कार्यशुद्ध हैं । जैसे वे सिद्धात्मा हैं वैसे ही शुद्धनिश्चयनयसे भववाले (संसारी) जीव हैं । जिसकारण वे संसारी जीव सिद्धात्मा समान हैं, उस कारण वे संसारी जीव जन्मजरामरणसे रहित और सम्यक्त्वादि आठ गुणोंकी पुष्टिसे तुष्ट हैं (–सम्यक्त्व, अनन्त ज्ञान, अनन्त दर्शन, अनन्त वीर्य, सूक्ष्मत्व, अवगाहन, अगुरुलघु तथा अव्याबाध इन आठ गुणोंकी समृद्धिसे आनन्दमय हैं) ।

[अब ४७ वीं गाथाकी टीका पूर्ण करते हुए टीकाकार मुनिराज श्लोक कहते हैं :]

[श्लोकार्थः—] जिन सुबुद्धिओंको तथा कुबुद्धिओंको पहलेसे ही शुद्धता है, उनमें कुछ भी भेद मैं किस नयसे जानूं ? (वास्तवमें उनमें कुछ भी भेद अर्थात् अंतर नहीं है ।) ।७१।

---

* कार्यशुद्ध=कार्य–अपेक्षासे शुद्ध ।

असरीरा अविणासा अणिंदिया णिम्मला विसुद्धप्पा ।
जह लोयग्गे सिद्धा तह जीवा संसिदी णेया ॥४८॥

अशरीरा अविनाशा अतीन्द्रिया निर्मला विशुद्धात्मानः ।
यथा लोकाग्रे सिद्धास्तथा जीवाः संसृतौ ज्ञेयाः ॥४८॥

अयं च कार्यकारणसमयसारयोर्विशेषाभावोपन्यासः ।

निश्चयेन पंचशरीरप्रपंचाभावादशरीराः, निश्चयेन नरनारकादिपर्यायपरित्यागस्वीकाराभावादविनाशाः, युगपत्परमतत्त्वस्थितसहजदर्शनादिकारणशुद्धस्वरूपपरिच्छित्तिसमर्थसहजज्ञानज्योतिरपहस्तितसमस्तसंशयस्वरूपत्वादतीन्द्रियाः, मलजनकक्षायोपशमिकादिविभावस्वभावानामभावान्निर्मलाः, द्रव्यभावकर्माभावाद् विशुद्धात्मानः यथैव लोकाग्रे भगवन्तः सिद्धपरमेष्ठिन-

---

गाथा ४८

अन्वयार्थः—[यथा] जिसप्रकार [लोकाग्रे] लोकाग्रमें [सिद्धाः] सिद्धभगवन्त [अशरीराः] अशरीरी, [अविनाशाः] अविनाशी, [अतीन्द्रियाः] अतीन्द्रिय, [निर्मलाः] निर्मल और [विशुद्धात्मानः] विशुद्धात्मा (विशुद्धस्वरूपी) हैं, [तथा] उसीप्रकार [संसृतौ] संसारमें [जीवाः] (सर्व) जीव [ज्ञेयाः] जानना ।

टीकाः—और यह, कार्यसमयसार तथा कारणसमयसारमें अन्तर न होनेका कथन है ।

जिसप्रकार लोकाग्रमें सिद्धपरमेष्ठी भगवन्त निश्चयसे पाँच शरीरके प्रपंचके अभावके कारण "अशरीरी" हैं, निश्चयसे नर–नारकादि पर्यायोंके त्याग–ग्रहणके अभावके कारण "अविनाशी" हैं, परम तत्त्वमें स्थित सहजदर्शनादिरूप कारणशुद्धस्वरूपको युगपद् जाननेमें समर्थ ऐसी सहजज्ञानज्योति द्वारा जिसमेंसे समस्त संशय दूर कर दिये गये हैं ऐसे स्वरूपवाले होनेके कारण "अतीन्द्रिय" हैं, मलजनक क्षायोपशमिकादि विभावस्वभावोंके अभावके कारण "निर्मल" हैं और द्रव्यकर्मों तथा भावकर्मोंके

विन देह अविनाशी, अतीन्द्रिय, शुद्ध निर्मल सिद्ध ज्यों ।
लोकाग्रमें जैसे विराजे, जीव है भवलीन त्यों ॥४८॥

स्तिष्ठन्ति, तथैव संसृतावपि अमी केनचिन्नयबलेन संसारिजीवाः शुद्धा इति ।

(शार्दूलविक्रीडित)

शुद्धाशुद्धविकल्पना भवति सा मिथ्यादृशि प्रत्यहं
शुद्धं कारणकार्यतत्त्वयुगलं सम्यग्दृशि प्रत्यहम् ।
इत्थं यः परमागमार्थमतुलं जानाति सद्दृक् स्वयं
सारासारविचारचारुधिषणा वन्दामहे तं वयम् ।।७२।।

एदे सव्वे भावा ववहारणयं पडुच्च भणिदा हु ।
सव्वे सिद्धसहावा सुद्धणया संसिदी जीवा ॥४९॥

एते सर्वे भावा व्यवहारनयं प्रतीत्य भणिताः खलु ।
सर्वे सिद्धस्वभावाः शुद्धनयात् संसृतौ जीवाः ।।४९।।

अभाव के कारण "विशुद्धात्मा" हैं, उसीप्रकार संसारमें भी यह संसारी जीव किसी नयके बलसे (किसी नयसे) शुद्ध हैं ।

[अब ४८ वीं गाथाकी टीका पूर्ण करते हुए टीकाकार मुनिराज श्लोक कहते हैं :]

[श्लोकार्थः—] शुद्ध–अशुद्धकी जो *विकल्पना वह मिथ्यादृष्टिको सदैव होती है; सम्यग्दृष्टिको तो सदा (ऐसी मान्यता होती है कि) कारणतत्त्व और कार्यतत्त्व दोनों शुद्ध हैं । इसप्रकार परमागमके अतुल अर्थको सारासारके विचारवाली सुन्दर बुद्धि द्वारा जो सम्यग्दृष्टि स्वयं जानता है, उसे हम वन्दन करते हैं ।७२।

गाथा ४९

अन्वयार्थः—[एते] यह (पूर्वोक्त) [सर्वे भावाः] सब भाव [खलु] वास्तवमें [व्यवहारनयं प्रतीत्य] व्यवहारनयका आश्रय करके [भणिताः] (संसारी जीवोंमें विद्यमान) कहे गये हैं; [शुद्धनयात्] शुद्धनयसे [संसृतौ] संसारमें रहनेवाले [सर्वे-जीवाः] सर्व जीव [सिद्धस्वभावाः] सिद्ध स्वभावी हैं ।

---

* विकल्पना=विपरीत कल्पना; मिथ्या मान्यता; अनिश्चय; शंका; भेद करना ।

व्यवहारनयसे हैं कहे सब जीवके ही भाव ये ।
है शुद्धनयसे जीव सब भवलीन सिद्ध स्वभावसे ।।४९।।

निश्चयव्यवहारनययोरुपादेयत्वप्रद्योतनमेतत् ।

ये पूर्वं न विद्यन्ते इति प्रतिपादितास्ते सर्वे विभावपर्यायाः खलु व्यवहारनयादेशेन विद्यन्ते। संसृतावपि ये विभावभावैश्चतुर्भिः परिणताः सन्तस्तिष्ठन्ति अपि च ते सर्वे भगवतां सिद्धानां शुद्धगुणपर्यायैः सदृशाः शुद्धनयादेशादिति ।

तथा चोक्तं श्रीमदमृतचन्द्रसूरिभिः—

(मालिनी)

"व्यवहरणनयः स्याद्यद्यपि प्राक्पदव्या-
मिह निहितपदानां हंत हस्तावलम्बः ।

टीकाः—यह, निश्चयनय और व्यवहारनयकी *उपादेयताका प्रकाशन (–कथन) है।

पहले जो विभावपर्यायें "विद्यमान नहीं हैं" ऐसी प्रतिपादित की गई हैं वे सब विभावपर्यायें वास्तवमें व्यवहारनयके कथनसे विद्यमान हैं। और जो (व्यवहारनयके कथनसे) चार विभावभावरूप परिणत होनेसे संसारमें भी विद्यमान हैं वे सब शुद्धनयके कथनसे शुद्धगुणपर्यायों द्वारा सिद्धभगवन्त समान हैं (अर्थात् जो जीव व्यवहारनयके कथनसे औदयिकादि विभावभावोंवाले होनेसे संसारी हैं वे सब शुद्धनयके कथनसे शुद्ध गुण तथा शुद्ध पर्यायोंवाले होनेसे सिद्ध सदृश हैं)।

इसीप्रकार (आचार्यदेव) श्रीमद् अमृतचन्द्रसूरिने (श्री समयसारकी आत्मख्याति नामक टीकामें पाँचवें श्लोक द्वारा) कहा है किः—

---

* प्रमाणभूत ज्ञानमें शुद्धात्मद्रव्यका तथा उसकी पर्यायोंका—दोनोंका सम्यक्ज्ञान होना चाहिये। "स्वयंको कथंचित् विभावपर्यायें विद्यमान हैं" ऐसा स्वीकार ही जिसके ज्ञानमें न हो उसे शुद्धात्मद्रव्यका भी सच्चा ज्ञान नहीं हो सकता। इसलिये "व्यवहारनयके विषयोंका भी ज्ञान तो ग्रहण करने योग्य है" ऐसी विवक्षासे ही यहाँ व्यवहारनयको उपादेय कहा है, "उनका आश्रय ग्रहण करने योग्य है" ऐसी विवक्षासे नहीं। व्यवहारनयके विषयोंका आश्रय (आलम्बन, झुकाव, सन्मुखता, भावना) तो छोड़नेयोग्य है ही ऐसा समझनेके लिये ५० वीं गाथामें व्यवहारनयको स्पष्टरूपसे हेय कहा जायेगा। जिस जीवके अभिप्रायमें शुद्धात्मद्रव्यके आश्रयका ग्रहण और पर्यायोंके आश्रयका त्याग हो, उसी जीवको द्रव्यका तथा पर्यायोंका ज्ञान सम्यक् है ऐसा समझना, अन्यको नहीं।

तदपि परममर्थं चिच्चमत्कारमात्रं
परविरहितमन्तः पश्यतां नैष किंचित् ॥"

तथा हि—

(स्वागता)

शुद्धनिश्चयनयेन विमुक्तौ
संसृतावपि च नास्ति विशेषः ।
एवमेव खलु तत्त्वविचारे
शुद्धतत्त्वरसिकाः प्रवदन्ति ॥७३॥

पुव्वुत्तसयलभावा परदव्वं परसहावमिदि हेयं ।
सगदव्वमुवादेयं अंतरतच्चं हवे अप्पा ॥५०॥

पूर्वोक्तसकलभावाः परद्रव्यं परस्वभावा इति हेयाः ।
स्वकद्रव्यमुपादेयं अन्तस्तत्त्वं भवेदात्मा ॥५०॥

"[श्लोकार्थः—] यद्यपि व्यवहारनय इस प्रथम भूमिकामें जिन्होंने पैर रखा है ऐसे जीवोंको, अरे रे ! हस्तावलम्बनरूप भले हो, तथापि जो जीव चैतन्यचमत्कार-मात्र, परसे रहित ऐसे परम पदार्थको अन्तरङ्गमें देखते हैं उन्हें यह व्यवहारनय कुछ नहीं है।"

और (इस ४९ वीं गाथाकी टीका पूर्ण करते हुए टीकाकार मुनिराज श्लोक कहते हैं) :—

[श्लोकार्थः—] "शुद्धनिश्चयनयसे मुक्तिमें तथा संसारमें अन्तर नहीं है;" ऐसा ही वास्तवमें, तत्त्व विचारने पर (—परमार्थ वस्तुस्वरूपका विचार अथवा निरूपण करने पर), शुद्ध तत्त्वके रसिक पुरुष कहते हैं ।७३।

गाथा ५०

अन्वयार्थः—[पूर्वोक्तसकलभावाः] पूर्वोक्त सर्व भाव [परस्वभावाः] पर स्वभाव हैं, [परद्रव्यम्] परद्रव्य हैं, [इति] इसलिये [हेयाः] हेय हैं, [अन्तस्तत्त्वं] अन्तः तत्त्व [स्वकद्रव्यम्] ऐसा स्वद्रव्य—[आत्मा] आत्मा—[उपादेयम्] उपादेय [भवेत्] है ।

पर-द्रव्य हैं परभाव हैं पूर्वोक्त सारे भाव ही ।
अतएव हैं ये त्याज्य, अन्तस्तत्त्व है आदेय ही ॥५०॥

हेयोपादेयत्यागोपादानलक्षणकथनमिदम् ।

ये केचिद् विभावगुणपर्यायास्ते पूर्वं व्यवहारनयादेशादुपादेयत्वेनोक्ताः शुद्धनिश्चयनयबलेन हेया भवन्ति । कुतः ? परस्वभावत्वात्, अत एव परद्रव्यं भवति । सकलविभावगुणपर्यायनिर्मुक्तं शुद्धान्तस्तत्त्वस्वरूपं स्वद्रव्यमुपादेयम् । अस्य खलु सहजज्ञानसहजदर्शनसहजचारित्रसहजपरमवीतरागसुखात्मकस्य शुद्धान्तस्तत्त्वस्वरूपस्याधारः सहजपरमपारिणामिकभावलक्षणकारणसमयसार इति ।

तथा चोक्तं श्रीमदमृतचन्द्रसूरिभिः—

(शार्दूलविक्रीडित)

"सिद्धान्तोऽयमुदात्तचित्तचरितैर्मोक्षार्थिभिः सेव्यतां
शुद्धं चिन्मयमेकमेव परमं ज्योतिः सदैवास्म्यहम् ।
एते ये तु समुल्लसंति विविधा भावाः पृथग्लक्षणा-
स्तेऽहं नास्मि यतोऽत्र ते मम परद्रव्यं समग्रा अपि ।"

टीकाः—यह, हेय–उपादेय अथवा त्याग–ग्रहणके स्वरूपका कथन है ।

जो कोई विभावगुणपर्यायें हैं वे पहले (४९ वीं गाथामें) व्यवहारनयके कथन द्वारा उपादेयरूपसे कही गई थीं किन्तु शुद्धनिश्चयनयके बलसे (शुद्धनिश्चयनयसे) वे हेय हैं । किस कारणसे ? क्योंकि वे परस्वभाव हैं, और इसीलिये परद्रव्य हैं । सर्व विभावगुणपर्यायोंसे रहित शुद्ध–अन्तःतत्त्वस्वरूप स्वद्रव्य उपादेय है । वास्तवमें सहजज्ञान–सहजदर्शन–सहजचारित्र–सहजपरमवीतरागसुखात्मक शुद्ध–अन्तःतत्त्वस्वरूप इस स्वद्रव्यका आधार सहजपरमपारिणामिकभावलक्षण (–सहज परम पारिणामिक भाव जिसका लक्षण है ऐसा) कारणसमयसार है ।

इसीप्रकार (आचार्यदेव) श्रीमद्‌अमृतचन्द्रसूरिने (श्री समयसारकी आत्मख्याति नामक टीकामें १८५ वें श्लोक द्वारा) कहा है किः—

"[श्लोकार्थः—] जिनके चित्तका चरित्र उदात्त (–उदार, उच्च, उज्ज्वल) है ऐसे मोक्षार्थी इस सिद्धान्तका सेवन करो कि—मैं तो शुद्ध चैतन्यमय एक परम ज्योति ही सदैव हूँ; और यह जो भिन्न लक्षणवाले विविध प्रकारके भाव प्रगट होते हैं वह मैं नहीं हूँ, क्योंकि वे सब मुझे परद्रव्य हैं ।"

तथा हि—

(शालिनी)

न ह्यस्माकं शुद्धजीवास्तिकाया-
दन्ये सर्वे पुद्गलद्रव्यभावाः ।
इत्थं व्यक्तं वक्ति यस्तत्त्ववेदी
सिद्धिं सोऽयं याति तामत्यपूर्वाम् ।।७४।।

विवरीयाभिणिवेसविवज्जियसद्दहणमेव सम्मत्तं ।
संसयविमोहविब्भमविवज्जियं होदि सण्णाणं ।।५१।।
चलमलिणमगाढत्तविवज्जियसद्दहणमेव सम्मत्तं ।
अधिगमभावो णाणं हेयोवादेयतच्चाणं ।।५२।।
सम्मत्तस्स णिमित्तं जिणसुत्तं तस्स जाणया पुरिसा ।
अंतरहेऊ भणिदा दंसणमोहस्स खयपहुदी ।।५३।।

और (इस ५० वीं गाथाकी टीका पूर्ण करते हुए टीकाकार मुनिराज श्लोक कहते हैं) :—

[श्लोकार्थः—] "शुद्ध जीवास्तिकायसे अन्य ऐसे जो सब पुद्गलद्रव्यके भाव वे वास्तवमें हमारे नहीं हैं"—ऐसा जो तत्त्ववेदी स्पष्टरूपसे कहते हैं वे अति अपूर्व सिद्धिको प्राप्त होते हैं ।७४।

मिथ्याभिप्राय विहीन जो श्रद्धान वह सम्यक्त्व है ।
संशय, विमोह, विभ्रान्ति विरहित ज्ञान सुज्ञानत्व है ।।५१।।

चल, मल, अगाढ़पने रहित श्रद्धान वह सम्यक्त्व है ।
आदेय, हेय पदार्थका अवबोध सुज्ञानत्व है ।।५२।।

जिनसूत्र समकितहेतु है, अरु सूत्रज्ञाता पुरुष जो ।
वह जान अंतर्हेतु जिसके दर्श-मोहक्षयादि हो ।।५३।।

सम्मत्तं सण्णाणं विज्जदि मोक्खस्स होदि सुण चरणं।
ववहारणिच्छएण दु तम्हा चरणं पवक्खामि ॥५४॥

ववहारणयचरित्ते ववहारणयस्स होदि तवचरणं ।
णिच्छयणयचारित्ते तवचरणं होदि णिच्छयदो ॥५५॥

विपरीताभिनिवेशविवर्जितश्रद्धानमेव सम्यक्त्वम् ।
संशयविमोहविभ्रमविवर्जितं भवति संज्ञानम् ॥५१॥

चलमलिनमगाढत्वविवर्जितश्रद्धानमेव सम्यक्त्वम् ।
अधिगमभावो ज्ञानं हेयोपादेयतत्त्वानाम् ॥५२॥

सम्यक्त्वस्य निमित्तं जिनसूत्रं तस्य ज्ञायकाः पुरुषाः ।
अन्तर्हेतवो भणिताः दर्शनमोहस्य क्षयप्रभृतेः ॥५३॥

सम्यक्त्वं संज्ञानं विद्यते मोक्षस्य भवति शृणुचरणम् ।
व्यवहारनिश्चयेन तु तस्माच्चरणं प्रवक्ष्यामि ॥५४॥

व्यवहारनयचारित्रे व्यवहारनयस्य भवति तपश्चरणम् ।
निश्चयनयचारित्रे तपश्चरणं भवति निश्चयतः ॥५५॥

गाथा ५१–५५

अन्वयार्थः—[विपरीताभिनिवेशविवर्जितश्रद्धानम् एव] विपरीत *अभिनिवेश रहित श्रद्धान ही [सम्यक्त्वम्] सम्यक्त्व है; [संशयविमोहविभ्रमविवर्जितम्] संशय, विमोह और विभ्रम रहित (ज्ञान) वह [संज्ञानम् भवति] सम्यग्ज्ञान है ।

---

* अभिनिवेश=अभिप्राय; आग्रह ।

सम्यक्त्व, सम्यग्ज्ञान अरु चारित्र मोक्ष उपाय हैं ।
व्यवहार निश्चयसे अतः चारित्र मम प्रतिपाद्य है ॥५४॥

व्यवहारनयचारित्रमें व्यवहारनय तप जानिये ।
चारित्र निश्चयमें तपश्चर्या नियत-नय मानिये ॥५५॥

रत्नत्रयस्वरूपाख्यानमेतत् ।

भेदोपचाररत्नत्रयमपि तावद् विपरीताभिनिवेशविवर्जितश्रद्धानरूपं भगवतां सिद्धिपरंपराहेतुभूतानां पंचपरमेष्ठिनां चलमलिनागाढविवर्जितसमुपजनितनिश्चलभक्तियुक्तत्वमेव । विपरीते हरिहिरण्यगर्भादिप्रणीते पदार्थसार्थे ह्यभिनिवेशाभाव इत्यर्थः । संज्ञानमपि च संशयविमोहविभ्रमविवर्जितमेव । तत्र संशयः तावत् जिनो वा शिवो वा देव इति । विमोहः शाक्या-

---

[चलमलिनमगाढत्वविवर्जितश्रद्धानम् एव] चलता, मलिनता और अगाढ़ता रहित श्रद्धान ही [सम्यक्त्वम्] सम्यक्त्व है; [हेयोपादेयतत्त्वानाम्] हेय और उपादेय तत्त्वोंको [अधिगमभावः] जाननेरूप भाव वह [ज्ञानम्] (सम्यक्) ज्ञान है ।

[सम्यक्त्वस्य निमित्तं] सम्यक्त्वका निमित्त [जिनसूत्रं] जिन सूत्र है; [तस्य ज्ञायकाः पुरुषाः] जिनसूत्रके जाननेवाले पुरुषोंको [अन्तर्हेतवः] (सम्यक्त्वके) अन्तरंग हेतु [भणिताः] कहे हैं, [दर्शनमोहस्य क्षयप्रभृतेः] क्योंकि उनको दर्शनमोहके क्षयादिक हैं ।

[शृणु] सुन, [मोक्षस्य] मोक्षके लिये [सम्यक्त्वं] सम्यक्त्व होता है, [संज्ञानं] सम्यग्ज्ञान [विद्यते] होता है, [चरणम्] चारित्र (भी) [भवति] होता है, [तस्मात्] इसलिये [व्यवहारनिश्चयेन तु] मैं व्यवहार और निश्चयसे [चरणं प्रवक्ष्यामि] चारित्र कहूँगा ।

[व्यवहारनयचरित्रे] व्यवहारनयके चारित्रमें [व्यवहारनयस्य] व्यवहारनयका [तपश्चरणम्] तपश्चरण [भवति] होता है; [निश्चयनयचारित्रे] निश्चयनयके चारित्रमें [निश्चयतः] निश्चयसे [तपश्चरणम्] तपश्चरण [भवति] होता है ।

टीकाः—यह, रत्नत्रयके स्वरूपका कथन है ।

प्रथम, भेदोपचार–रत्नत्रय इसप्रकार है:–विपरीत अभिनिवेश रहित श्रद्धानरूप ऐसा जो सिद्धिके परम्पराहेतुभूत भगवन्त पंचपरमेष्ठीके प्रति उत्पन्न हुआ चलता–मलिनता–अगाढ़ता रहित निश्चल भक्तियुक्तपना वही सम्यक्त्व है । विष्णुब्रह्मादिकथित विपरीत पदार्थसमूहके प्रति अभिनिवेशका अभाव ही सम्यक्त्व है—ऐसा अर्थ है । संशय, विमोह और विभ्रम रहित (ज्ञान) ही सम्यग्ज्ञान है । वहाँ, जिन देव होंगे या शिव देव होंगे (–ऐसा शंकारूपभाव) वह संशय है; शाक्यादिकथित वस्तुमें निश्चय (अर्थात् बुद्धादि कथित पदार्थका निर्णय) वह विमोह है; अज्ञानपना (अर्थात् वस्तु क्या है

दिप्रोक्ते वस्तुनि निश्चयः । विभ्रमो ह्यज्ञानत्वमेव । पापक्रियानिवृत्तिपरिणामश्चारित्रम् । इति भेदोपचाररत्नत्रयपरिणतिः । तत्र जिनप्रणीतहेयोपादेयतत्त्वपरिच्छित्तिरेव सम्यग्ज्ञानम् । अस्य सम्यक्त्वपरिणामस्य बाह्यसहकारिकारणं वीतरागसर्वज्ञमुखकमलविनिर्गतसमस्तवस्तुप्रतिपादनसमर्थद्रव्यश्रुतमेव तत्त्वज्ञानमिति । ये मुमुक्षवः तेऽप्युपचारतः पदार्थनिर्णयहेतुत्वात् अंतरंगहेतव इत्युक्ताः दर्शनमोहनीयकर्मक्षयप्रभृतेः सकाशादिति । अभेदानुपचाररत्नत्रयपरिणतेर्जीवस्य टंकोत्कीर्णज्ञायकैकस्वभावनिजपरमतत्त्वश्रद्धानेन, तत्परिच्छित्तिमात्रांतर्मुखपरमबोधेन, तद्रूपाविचलस्थितिरूपसहजचारित्रेण अभूतपूर्वः सिद्धपर्यायो भवति । यः परमजिनयोगीश्वरः प्रथमं पापक्रियानिवृत्तिरूपव्यवहारनयचारित्रे तिष्ठति, तस्य खलु व्यवहारनयगोचरतपश्चरणं भवति । सहजनिश्चयनयात्मकपरमस्वभावात्मकपरमात्मनि प्रतपनं तपः । स्वस्वरूपाविचलस्थितिरूपं सहजनिश्चयचारित्रम् अनेन तपसा भवतीति ।

तथा चोक्तमेकत्वसप्ततौ—

तत्सम्बन्धी अजानपना) ही विभ्रम है । पापक्रियासे निवृत्तिरूप परिणाम वह चारित्र है । ऐसी भेदोपचार-रत्नत्रयपरिणति है । उसमें, जिनप्रणीत हेय-उपादेय तत्त्वोंका ज्ञान ही सम्यग्ज्ञान है । इस सम्यक्त्वपरिणामका बाह्य सहकारी कारण वीतरागसर्वज्ञके मुखकमलसे निकला हुआ समस्त वस्तुके प्रतिपादनमें समर्थ ऐसा द्रव्यश्रुतरूप तत्त्वज्ञान ही है । जो मुमुक्षु हैं उन्हें भी उपचारसे पदार्थनिर्णयके हेतुपनेके कारण (सम्यक्त्वपरिणामके) अन्तरङ्गहेतु कहे हैं, क्योंकि उन्हें दर्शनमोहनीयकर्मके क्षयादिक हैं ।

अभेद-अनुपचार-रत्नत्रयपरिणतिवाले जीवको, टंकोत्कीर्ण ज्ञायक जिसका एक स्वभाव है ऐसे निज परम तत्त्वकी श्रद्धा द्वारा, तद्ज्ञानमात्र (—उस निज परम तत्त्वके ज्ञानमात्रस्वरूप) ऐसे अन्तर्मुख परमबोध द्वारा और उसरूपसे (अर्थात् निज परम तत्त्वरूपसे) अविचलरूपसे स्थित होनेरूप सहजचारित्र द्वारा *अभूतपूर्व सिद्धपर्याय होती है । जो परमजिनयोगीश्वर पहले पापक्रियासे निवृत्तिरूप व्यवहारनयके चारित्रमें होते हैं, उन्हें वास्तवमें व्यवहारनयगोचर तपश्चरण होता है । सहजनिश्चयनयात्मक परमस्वभावस्वरूप परमात्मामें प्रतपन सो तप है; निज स्वरूपमें अविचल स्थितिरूप सहजनिश्चयचारित्र इस तपसे होता है ।

इसीप्रकार एकत्वसप्ततिमें (श्री पद्मनन्दि-आचार्यदेवकृत पद्मनन्दिपंचविंशतिका नामक शास्त्रमें एकत्वसप्तति नामके अधिकारमें १४ वें श्लोक द्वारा) कहा है किः—

---

* अभूतपूर्व=पहले कभी न हुआ हो ऐसा; अपूर्व ।

(अनुष्टुभ्)

"दर्शनं निश्चयः पुंसि बोधस्तद्बोध इष्यते ।
स्थितिरत्रैव चारित्रमिति योगः शिवाश्रयः ।।"

तथा च—

(मालिनी)

जयति सहजबोधस्तादृशी दृष्टिरेषा
चरणमपि विशुद्धं तद्विधं चैव नित्यम् ।
अघकुलमलपंकानीकनिर्मुक्तमूर्तिः
सहजपरमतत्त्वे संस्थिता चेतना च ।।७५।।

इति सुकविजनपयोजमित्रपंचेन्द्रियप्रसरवर्जितगात्रमात्रपरिग्रहश्रीपद्मप्रभमलधारिदेवविरचितायां नियमसारव्याख्यायां तात्पर्यवृत्तौ शुद्धभावाधिकारः तृतीयः श्रुतस्कन्धः ।।

"[श्लोकार्थः—] आत्माका निश्चय वह दर्शन है, आत्माका बोध वह ज्ञान है, आत्मामें ही स्थिति वह चारित्र है;—ऐसा योग (अर्थात् इन तीनोंकी एकता) शिवपदका कारण है ।"

और (इस शुद्धभाव अधिकारकी अन्तिम पाँच गाथाओंकी टीका पूर्ण करते हुए टीकाकार मुनिराज श्री पद्मप्रभमलधारिदेव श्लोक कहते हैं) :—

[श्लोकार्थः—] सहजज्ञान सदा जयवन्त है, वैसी (–सहज) यह दृष्टि सदा जयवन्त है, वैसा ही (–सहज) विशुद्ध चारित्र भी सदा जयवन्त है; पापसमूहरूपी मलकी अथवा कीचड़की पंक्तिसे रहित जिसका स्वरूप है ऐसी सहजपरमतत्त्वमें संस्थित चेतना भी सदा जयवन्त है ।७५।

इसप्रकार, सुकविजनरूपी कमलोंके लिये जो सूर्य समान हैं और पाँच इन्द्रियोंके विस्तार रहित देहमात्र जिन्हें परिग्रह था ऐसे श्री पद्मप्रभमलधारिदेव द्वारा रचित नियमसारकी तात्पर्यवृत्ति नामक टीकामें (अर्थात् श्रीमद्भगवत्कुन्दकुन्दाचार्यदेवप्रणीत श्री नियमसार परमागमकी निर्ग्रन्थ मुनिराज श्री पद्मप्रभमलधारिदेवविरचित तात्पर्यवृत्ति नामक टीकामें) शुद्धभाव अधिकार नामका तीसरा श्रुतस्कन्ध समाप्त हुआ ।

– ४ –

व्यवहारचारित्राधिकारः

अथेदानीं व्यवहारचारित्राधिकार उच्यते ।

कुलजोणिजीवमग्गणठाणाइसु जाणिऊण जीवाणं ।
तस्सारंभणियत्तणपरिणामो होइ पढमवदं ॥५६॥

कुलयोनिजीवमार्गणास्थानादिषु ज्ञात्वा जीवानाम् ।
तस्यारम्भनिवृत्तिपरिणामो भवति प्रथमव्रतम् ॥५६॥

अहिंसाव्रतस्वरूपाख्यानमेतत् ।

कुलविकल्पो योनिविकल्पश्च जीवमार्गणास्थानविकल्पाश्च प्रागेव प्रतिपादिताः । अत्र पुनरुक्तिदोषभयान्न प्रतिपादिताः । तत्रैव तेषां भेदान् बुद्ध्वा तद्रक्षापरिणतिरेव भवत्यहिंसा ।

अब व्यवहारचारित्र अधिकार कहा जाता है ।

गाथा ५६

अन्वयार्थः—[जीवानाम्] जीवोंके [कुलयोनिजीवमार्गणास्थानादिषु] कुल, योनि, जीवस्थान, मार्गणास्थान आदि [ज्ञात्वा] जानकर [तस्य] उनके [आरम्भनिवृत्तिपरिणामः] आरम्भसे निवृत्तिरूप परिणाम वह [प्रथमव्रतम्] पहला व्रत [भवति] है ।

टीकाः—यह, अहिंसाव्रतके स्वरूपका कथन है ।

कुलभेद, योनिभेद, जीवस्थानके भेद और मार्गणास्थानके भेद पहले ही

रे जानकर कुलयोनि, जीवस्थान मार्गण जीवके ।
आरम्भ इनके से विरत हो प्रथमव्रत कहते उसे ॥५६॥

तेषां मृतिर्भवतु वा न वा, प्रयत्नपरिणाममन्तरेण सावद्यपरिहारो न भवति । अत एव प्रयत्नपरे हिंसापरिणतेरभावादहिंसाव्रतं भवतीति ।

तथा चोक्तं श्रीसमन्तभद्रस्वामिभिः—

(शिखरिणी)

"अहिंसा भूतानां जगति विदितं ब्रह्म परमं
न सा तत्रारम्भोऽस्त्यणुरपि च यत्राश्रमविधौ ।
ततस्तत्सिद्ध्यर्थं परमकरुणो ग्रन्थमुभयं
भवानेवात्याक्षीन्न च विकृतवेषोपधिरतः ॥"

तथा हि—

(४२ वीं गाथाकी टीकामें ही) प्रतिपादित किये गये हैं; यहाँ पुनरुक्तिदोषके भयसे प्रतिपादित नहीं किये हैं । वहाँ कहे हुए उनके भेदोंको जानकर उनकी रक्षारूप परिणति ही अहिंसा है । उनका मरण हो या न हो, *प्रयत्नरूप परिणाम बिना सावद्यपरिहार (दोषका त्याग) नहीं होता । इसीलिये, प्रयत्नपरायणको हिंसापरिणतिका अभाव होनेसे अहिंसाव्रत होता है ।

इसीप्रकार (आचार्यवर) श्री समन्तभद्रस्वामीने (बृहत्स्वयंभूस्तोत्रमें श्री नमिनाथ भगवानकी स्तुति करते हुए ११९ वें श्लोक द्वारा) कहा है कि:—

"[श्लोकार्थ:—] जगतमें विदित है कि जीवोंकी अहिंसा परम ब्रह्म है । जिस आश्रमकी विधिमें लेश भी आरम्भ है वहाँ (–उस आश्रममें अर्थात् सग्रंथपनेमें) वह अहिंसा नहीं होती । इसलिये उसकी सिद्धिके हेतु, (हे नमिनाथ प्रभु !) परम करुणावन्त ऐसे आपश्रीने दोनों ग्रन्थको छोड़ दिया (–द्रव्य तथा भाव दोनों प्रकारके परिग्रहको छोड़कर निर्ग्रन्थपना अंगीकार किया), विकृत वेश तथा परिग्रहमें रत न हुए ।"

और (५६ वीं गाथाकी टीका पूर्ण करते हुए टीकाकार मुनिराज श्री पद्मप्रभमलधारिदेव श्लोक कहते हैं) :—

* मुनिको (मुनित्वोचित) शुद्धपरिणतिके साथ वर्तता हुआ जो (हठ रहित) देहचेष्टादिकसम्बन्धी-शुभोपयोग वह व्यवहार प्रयत्न है । [शुद्धपरिणति न हो वहाँ शुभोपयोग हठ सहित होता है; वह शुभोपयोग तो व्यवहार-प्रयत्न भी नहीं कहलाता ।]

(मालिनी)

त्रसहतिपरिणामध्वांतविध्वंसहेतुः
सकलभुवनजीवग्रामसौख्यप्रदो यः ।
स जयति जिनधर्मः स्थावरैकेन्द्रियाणां
विविधवधविदूरश्चारुशर्माब्धिपूरः ॥७६॥

रागेण व दोसेण व मोहेण व मोसभासपरिणामं ।
जो पजहदि साहु सया बिदियवदं होइ तस्सेव ॥५७॥

रागेण वा द्वेषेण वा मोहेन वा मृषाभाषापरिणामं ।
यः प्रजहाति साधुः सदा द्वितीयव्रतं भवति तस्यैव ॥५७॥

सत्यव्रतस्वरूपाख्यानमेतत् ।

अत्र मृषापरिणामः सत्यप्रतिपक्षः, स च रागेण वा द्वेषेण वा मोहेन वा जायते । सदा यः साधुः आसन्नभव्यजीवः तं परिणामं परित्यजति तस्य द्वितीयव्रतं भवति इति ।

[श्लोकार्थः—] त्रसघातके परिणामरूप अंधकारके नाशका जो हेतु है, सकल लोकके जीवसमूहको जो सुखप्रद है, स्थावर एकेन्द्रिय जीवोंके विविध वधसे जो बहुत दूर है और सुन्दर सुखसागरका जो पूर है, वह जिनधर्म जयवन्त वर्तता है ।७६।

गाथा ५७

अन्वयार्थः—[रागेण वा] रागसे, [द्वेषेण वा] द्वेषसे [मोहेन वा] अथवा मोहसे होनेवाले [मृषाभाषापरिणामं] मृषा भाषाके परिणामको [यः साधुः] जो साधु [प्रजहाति] छोड़ता है, [तस्य एव] उसीको [सदा] सदा [द्वितीयव्रतं] दूसरा व्रत [भवति] है ।

टीकाः—यह, सत्यव्रतके स्वरूपका कथन है ।

यहाँ (ऐसा कहा है कि), सत्यका प्रतिपक्ष (अर्थात् सत्यसे विरुद्ध परिणाम) वह मृषापरिणाम है; वे (असत्य बोलनेके परिणाम) रागसे, द्वेषसे अथवा मोहसे होते हैं; जो साधु—आसन्नभव्य जीव—उन परिणामोंका परित्याग करता है (–समस्त

जो राग, द्वेष रु मोहसे परिणाम हो मृष–भाषका ।
छोड़े उसे जो साधु, होता है उसे व्रत दूसरा ॥५७॥

(शालिनी)

वक्ति व्यक्तं सत्यमुच्चैर्जनो यः
स्वर्गस्त्रीणां भूरिभोगैकभाक् स्यात् ।
अस्मिन् पूज्यः सर्वदा सर्वसद्भिः
सत्यात्सत्यं चान्यदस्ति व्रतं किम् ॥७७॥

गामे वा णयरे वाऽरण्णे वा पेच्छिऊण परमत्थं ।
जो मुयदि गहणभावं तिदियवदं होदि तस्सेव ॥५८॥

ग्रामे वा नगरे वाऽरण्ये वा प्रेक्षयित्वा परमर्थम् ।
यो मुंचति ग्रहणभावं तृतीयव्रतं भवति तस्यैव ॥५८॥

तृतीयव्रतस्वरूपाख्यानमेतत् ।

वृत्यावृत्तो ग्रामः तस्मिन् वा चतुर्भिर्गोपुरैर्भासुरं नगरं तस्मिन् वा मनुष्यसंचारशून्यं

प्रकारसे छोड़ता है), उसे दूसरा व्रत होता है ।

[अब ५७ वीं गाथाकी टीका पूर्ण करते हुए टीकाकार मुनिराज श्लोक कहते हैं :]

[श्लोकार्थः—] जो पुरुष अति स्पष्टरूपसे सत्य बोलता है वह स्वर्गकी स्त्रियोंके अनेक भोगोंका एक भागी होता है (अर्थात् वह परलोकमें अनन्यरूपसे देवांगनाओंके बहुत–से भोग प्राप्त करता है) और इस लोकमें सर्वदा सर्व सत्पुरुषोंका पूज्य बनता है । वास्तवमें क्या सत्यसे अन्य कोई (बढ़कर) व्रत है ? ।७७।

गाथा ५८

अन्वयार्थः—[**ग्रामे वा**] ग्राममें [**नगरे वा**] नगरमें [**अरण्ये वा**] या वनमें [**परम् अर्थम्**] परायी वस्तुको [**प्रेक्षयित्वा**] देखकर [**यः**] जो (साधु) [**ग्रहणभावं**] उसे ग्रहण करनेके भावको [**मुंचति**] छोड़ता है, [**तस्य एव**] उसीको [**तृतीयव्रतं**] तीसरा व्रत [**भवति**] है ।

टीकाः—यह, तीसरे व्रतके स्वरूपका कथन है ।

जिसके चौतरफ बाड़ हो वह ग्राम (गाँव) है; जो चार द्वारोंसे सुशोभित

कानन, नगर या ग्राममें जो देख पर वस्तु उसे-
-छोड़े ग्रहणके भाव, होता तीसरा व्रत है उसे ॥५८॥

वनस्पतिजातवल्लीगुल्मप्रभृतिभिः परिपूर्णमरण्यं तस्मिन् वा परेण विसृष्टं निहितं पतितं वा विस्मृतं वा परद्रव्यं दृष्ट्वा स्वीकारपरिणामं यः परित्यजति, तस्य हि तृतीयव्रतं भवति इति ।

(आर्या)

आकर्षति रत्नानां संचयमुच्चैरचौर्य्यमेतदिह ।
स्वर्गस्त्रीसुखमूलं क्रमेण मुक्त्यंगनायाश्च ।।७८।।

दट्ठूण इत्थिरूवं वांछाभावं णियत्तदे तासु ।
मेहुणसण्णविवज्जियपरिणामो अहव तुरीयवदं ।।५९।।

दृष्ट्वा स्त्रीरूपं वांच्छाभावं निवर्तते तासु ।
मैथुनसंज्ञाविवर्जितपरिणामोऽथवा तुरीयव्रतम् ।।५९।।

हो वह नगर है; जो मनुष्यके संचार रहित, वनस्पतिसमूह, बेलों और वृक्षोंके झुंड आदिसे खचाखच भरा हो वह अरण्य है। ऐसे ग्राम, नगर या अरण्यमें अन्यसे छोड़ी हुई, रखी हुई, गिरी हुई अथवा भूली हुई परवस्तुको देखकर उसके स्वीकारपरिणामका (अर्थात् उसे अपनी बनाने–ग्रहण करनेके परिणामका) जो परित्याग करता है, उसे वास्तवमें तीसरा व्रत होता है ।

[अब ५८ वीं गाथाकी टीका पूर्ण करते हुए टीकाकार मुनिराज श्लोक कहते हैं :]

[श्लोकार्थः—] यह उग्र अचौर्य इस लोकमें रत्नोंके संचयको आकर्षित करता है और (परलोकमें) स्वर्गकी स्त्रियोंके सुखका कारण है तथा क्रमानुसार मुक्ति-रूपी स्त्रीके सुखका कारण है ।७८।

गाथा ५९

अन्वयार्थः—[**स्त्रीरूपं दृष्ट्वा**] स्त्रियोंका रूप देखकर [**तासु**] उनके प्रति [**वांच्छाभावं निवर्तते**] वांछाभावकी निवृत्ति वह [**अथवा**] अथवा [**मैथुनसंज्ञाविवर्जित-परिणामः**] मैथुनसंज्ञारहित जो परिणाम वह [**तुरीयव्रतम्**] चौथाव्रत है ।

जो देख रमणी रूप वांछाभाव उसमें छोड़ता ।
परिणाम मैथुन–संज्ञ–वर्जित व्रत चतुर्थ यही कहा ।।५९।।

चतुर्थव्रतस्वरूपकथनमिदम् ।

कमनीयकामिनीनां तन्मनोहराङ्गनिरीक्षणद्वारेण समुपजनितकौतूहलचित्तवांछापरित्यागेन, अथवा पुंवेदोदयाभिधाननोकषायतीव्रोदयेन संजातमैथुनसंज्ञापरित्यागलक्षणशुभपरिणामेन च ब्रह्मचर्यव्रतं भवति इति ।

(मालिनी)

भवति तनुविभूतिः कामिनीनां विभूतिं
स्मरसि मनसि कामिंस्त्वं तदा मद्वचः किम् ।
सहजपरमतत्त्वं स्वस्वरूपं विहाय
व्रजसि विपुलमोहं हेतुना केन चित्रम् ॥७९॥

सव्वेसिं गंथाणं चागो णिरवेक्खभावणापुव्वं ।
पंचमवदमिदि भणिदं चारित्तभरं वहंतस्स ॥६०॥

सर्वेषां ग्रन्थानां त्यागो निरपेक्षभावनापूर्वम् ।
पंचमव्रतमिति भणितं चारित्रभरं वहतः ॥६०॥

टीकाः—यह, चौथे व्रतके स्वरूपका कथन है ।

सुन्दर कामिनियोंके मनोहर अङ्गके निरीक्षण द्वारा उत्पन्न होनेवाली कुतूहलताके—चित्तवांछाके—परित्यागसे, अथवा पुरुषवेदोदय नामका जो नोकषायका तीव्र उदय उसके कारण उत्पन्न होनेवाली मैथुनसंज्ञाके परित्यागस्वरूप शुभ परिणामसे ब्रह्मचर्यव्रत होता है ।

[अब ५९ वीं गाथाकी टीका पूर्ण करते हुए टीकाकार मुनिराज श्लोक कहते हैं :]

[श्लोकार्थः—] कामिनियोंकी जो शरीरविभूति उस विभूतिका, हे कामी पुरुष ! यदि तू मनमें स्मरण करता है, तो मेरे वचनसे तुझे क्या लाभ होगा ? अहो ! आश्चर्य होता है कि सहज परमतत्त्वको—निज स्वरूपको—छोड़कर तू किस कारण विपुल मोहको प्राप्त हो रहा है ! ।७९।

गाथा ६०

निरपेक्ष-भाव संयुक्त सब ही ग्रन्थके परित्यागका ।
परिणाम है व्रत पंचवां चारित्रभर वहनारका ॥६०॥

इह हि पंचमव्रतस्वरूपमुक्तम् ।

सकलपरिग्रहपरित्यागलक्षणनिजकारणपरमात्मस्वरूपावस्थितानां परमसंयमिनां परमजिनयोगीश्वराणां सदैव निश्चयव्यवहारात्मकचारुचारित्रभरं वहतां, बाह्याभ्यन्तरचतुर्विंशतिपरिग्रहपरित्याग एव परंपरया पंचमगतिहेतुभूतं पंचमव्रतमिति ।

अन्वयार्थः—[निरपेक्षभावनापूर्वम्] [1]निरपेक्ष भावनापूर्वक (अर्थात् जिस भावनामें परकी अपेक्षा नहीं है ऐसी शुद्ध निरालम्बन भावना सहित) [सर्वेषां ग्रन्थानां त्यागः] सर्व परिग्रहोंका त्याग (सर्वपरिग्रहत्यागसम्बन्धी शुभभाव) उस, [चारित्रभरं वहतः] [2]चारित्रभर वहन करनेवालेको [पंचमव्रतम् इति भणितम्] पाँचवाँ व्रत कहा है ।

टीकाः—यहाँ (इस गाथामें) पाँचवें व्रतका स्वरूप कहा गया है ।

सकल परिग्रहके परित्यागस्वरूप निज कारणपरमात्माके स्वरूपमें अवस्थित (स्थिर हुए) परमसंयमियोंको—परम जिनयोगीश्वरोंको—सदैव निश्चयव्यवहारात्मक सुन्दर चारित्रभर वहन करनेवालोंको, बाह्य-अभ्यंतर चौवीस प्रकारके परिग्रहका परित्याग ही [3]परम्परासे पंचमगतिके हेतुभूत ऐसा पाँचवाँ व्रत है ।

१–मुनिको मुनित्वोचित निरपेक्ष शुद्ध परिणतिके साथ वर्तता हुआ जो (हठ-रहित) सर्वपरिग्रहत्याग-सम्बन्धी शुभोपयोग वह व्यवहार अपरिग्रहव्रत कहलाता है । शुद्ध परिणति न हो वहाँ शुभोपयोग हठ सहित होता है; वह शुभोपयोग तो व्यवहार-व्रत भी नहीं कहलाता । [इस पाँचवें व्रतको भाँति अन्य व्रतोंका भी समझ लेना ।]

२–चारित्रभर=चारित्रका भार; चारित्रसमूह; चारित्रकी अतिशयता ।

३–शुभोपयोगरूप व्यवहारव्रत शुद्धोपयोगका हेतु है और शुद्धोपयोग मोक्षका हेतु है ऐसा मानकर यहाँ उपचारसे व्यवहारव्रतको मोक्षका परम्पराहेतु कहा है । वास्तवमें तो शुभोपयोगी मुनिको मुनियोग्य शुद्धपरिणति ही (शुद्धात्मद्रव्यका अवलम्बन करती है इसलिये) विशेष शुद्धिरूप शुद्धोपयोगका हेतु होती है और वह शुद्धोपयोग मोक्षका हेतु होता है । इसप्रकार इस शुद्धपरिणतिमें रहे हुए मोक्षके परम्पराहेतुपनेका आरोप–उसके साथ रहनेवाले–शुभोपयोगमें करके व्यवहारव्रतको मोक्षका परम्पराहेतु कहा जाता है । जहाँ शुद्धपरिणति ही न हो वहाँ वर्तते हुए शुभोपयोगमें मोक्षके परम्पराहेतुपनेका आरोप भी नहीं किया जा सकता, क्योंकि जहां मोक्षका यथार्थ परम्पराहेतु प्रगट ही नहीं हुआ है—विद्यमान ही नहीं है वहाँ शुभोपयोगमें आरोप किसका किया जाये ?

तथा चोक्तं समयसारे—

"मज्झं परिग्गहो जदि तदो अहमजीवदं तु गच्छेज्ज ।
णादेव अहं जम्हा तम्हा ण परिग्गहो मज्झ ॥"

तथा हि—

(हरिणी)

त्यजतु भवभीरुत्वाद्भव्यः परिग्रहविग्रहं
निरुपमसुखावासप्राप्त्यै करोतु निजात्मनि ।
स्थितिमविचलां शर्माकारां जगज्जनदुर्लभां
न च भवति महच्चित्रं चित्रं सतामसतामिदम् ॥८०॥

पासुगमग्गेण दिवा अवलोगंतो जुगप्पमाणं हि ।
गच्छइ पुरदो समणो इरियासमिदी हवे तस्स ॥६१॥

प्रासुकमार्गेण दिवा अवलोकयन् युगप्रमाणं खलु ।
गच्छति पुरतः श्रमणः ईर्यासमितिर्भवेत्तस्य ॥६१॥

इसीप्रकार (श्रीमद्भगवत्कुन्दकुन्दाचार्यदेवप्रणीत) श्री समयसारमें (२०८ वीं गाथा द्वारा) कहा है कि :—

"[गाथार्थः—] यदि परद्रव्य–परिग्रह मेरा हो तो मैं अजीवत्वको प्राप्त होऊँ । मैं तो ज्ञाता ही हूँ इसलिये (परद्रव्यरूप) परिग्रह मेरा नहीं है ।"

और (६० वीं गाथाकी टीका पूर्ण करते हुए टीकाकार मुनिराज श्लोक कहते हैं) :—

[श्लोकार्थः—] भव्य जीव भवभीरुताके कारण परिग्रहविस्तारको छोड़ो और निरुपम सुखके *आवासकी प्राप्ति हेतु निज आत्मामें अविचल, सुखाकार (सुखमयी) तथा जगतजनोंको दुर्लभ ऐसी स्थिति (स्थिरता) करो । और यह (निजात्मामें अचल सुखात्मक स्थिति करनेका कार्य) सत्पुरुषोंको कोई महा आश्चर्यकी बात नहीं है, असत्पुरुषोंको आश्चर्यकी बात है ।८०।

गाथा ६१

अन्वयार्थः—[श्रमणः] जो श्रमण [प्रासुकमार्गेण] प्रासुक मार्ग पर [दिवा]

---

* आवास=निवासस्थान; घर; आयतन ।

मुनिराज चलते मार्ग दिनमें देख आगेकी मही ।
प्रासुक धुरा जितनी, उन्हें ही समिति ईर्या है कही ॥६१॥

अत्रेर्यासमितिस्वरूपमुक्तम् ।

यः परमसंयमी गुरुदेवयात्रादिप्रशस्तप्रयोजनमुद्दिश्यैकयुगप्रमाणं मार्गम् अवलोकयन् स्थावरजंगमप्राणिपरिरक्षार्थं दिवैव गच्छति, तस्य खलु परमश्रमणस्येर्यासमितिर्भवति । व्यवहारसमितिस्वरूपमुक्तम् । इदानीं निश्चयसमितिस्वरूपमुच्यते । अभेदानुपचाररत्नत्रयमार्गेण परमधर्मिणमात्मानं सम्यग् इता परिणतिः समितिः । अथवा निजपरमतत्त्व निरतसहजपरमबोधादिपरमधर्माणां संहतिः समितिः । इति निश्चयव्यवहारसमितिभेदं बुद्ध्वा तत्र परमनिश्चयसमितिमुपयातु भव्य इति ।

दिनमें [युगप्रमाणं] धुरा प्रमाण [पुरतः] आगे [खलु अवलोकयन्] देखकर [गच्छति] चलता है, [तस्य] उसे [ईर्यासमितिः] ईर्यासमिति [भवेत्] होती है ।

टीकाः—यहाँ (इस गाथामें) ईर्यासमितिका स्वरूप कहा है ।

जो *परमसंयमी गुरुयात्रा (गुरुके पास जाना), देवयात्रा (देवके पास जाना) आदि प्रशस्त प्रयोजनका उद्देश्य रखकर एक धुरा (चार हाथ) जितना मार्ग देखते-देखते स्थावर तथा जंगम प्राणियोंकी परिरक्षा (समस्त प्रकारसे रक्षा)के हेतु दिनमें ही चलता है, उस परमश्रमणको ईर्यासमिति होती है । (इसप्रकार) व्यवहारसमितिका स्वरूप कहा गया ।

अब निश्चयसमितिका स्वरूप कहा जाता है : अभेद–अनुपचार–रत्नत्रयरूपी मार्ग पर परमधर्मी ऐसे (अपने) आत्माके प्रति सम्यक् "इति" (–गति) अर्थात् परिणति वह समिति है; अथवा, निज परमतत्त्वमें लीन सहज परमज्ञानादिक परमधर्मोंकी संहति (–मिलन, संगठन) वह समिति है ।

इसप्रकार निश्चय और व्यवहाररूप समितिभेद जानकर उनमें (–उन दो में से) परमनिश्चयसमितिको भव्य जीव प्राप्त करो ।

[अब ६१ वीं गाथाकी टीका पूर्ण करते हुए टीकाकार मुनिराज चार श्लोक कहते हैं :]

---

* परमसंयमी मुनिको (अर्थात् मुनियोग्य शुद्धपरिणतिवाले मुनिको) शुद्धपरिणतिके साथ वर्तता हुआ जो (हठरहित) ईर्यासम्बन्धी (–गमनसम्बन्धी; चलनेसम्बन्धी) शुभोपयोग वह व्यवहार ईर्यासमिति है । शुद्धपरिणति न हो वहाँ शुभोपयोग हठ सहित होता है; वह शुभोपयोग तो व्यवहार समिति भी नहीं कहलाता [इस ईर्यासमितिकी भाँति अन्य समितियोंका भी समझ लेना ।]

(मंदाक्रांता)

इत्थं बुद्ध्वा परमसमितिं मुक्तिकान्तासखीं यो ।
मुक्त्वा संगं भवभयकरं हेमरामात्मकं च ।
स्थित्वाऽपूर्वे सहजविलसच्चिच्चमत्कारमात्रे
भेदाभावे समयति च यः सर्वदा मुक्त एव ॥८१॥

(मालिनी)

जयति समितिरेषा शीलमूलं मुनीनां
त्रसहतिपरिदूरा स्थावराणां हतेर्वा ।
भवदवपरितापक्लेशजीमूतमाला
सकलसुकृतसीत्यानीकसन्तोषदायी ॥८२॥

(मालिनी)

नियतमिह जनानां जन्म जन्मार्णवेऽस्मिन्
समितिविरहितानां कामरोगातुराणाम् ।
मुनिप कुरु ततस्त्वं त्वन्मनोगेहमध्ये
ह्यपवरकममुष्याश्चारुयोषित्सुमुक्तेः ॥८३॥

[श्लोकार्थः—] इसप्रकार मुक्तिकान्ताकी (मुक्तिसुन्दरीकी) सखी परमसमितिको जानकर जो जीव भवभयके करनेवाले कंचनकामिनीके संगको छोड़कर, अपूर्व, सहज–विलसते (स्वभावसे प्रकाशते), अभेद चैतन्यचमत्कारमात्रमें स्थित रहकर (उसमें) सम्यक् "इति" (–गति) करते हैं अर्थात् सम्यक्‌रूपसे परिणमित होते हैं वे सर्वदा मुक्त ही हैं ।८१।

[श्लोकार्थः—] जो (समिति) मुनियोंको शीलका (–चारित्रका) मूल है, जो त्रस जीवोंके घातसे तथा स्थावर जीवोंके घातसे समस्त प्रकारसे दूर है, जो भवदावानलके परितापरूपी क्लेशको शान्त करनेवाली तथा समस्त सुकृतरूपी धान्यकी राशिको (पोषण देकर) सन्तोष देनेवाली मेघमाला है, ऐसी यह समिति जयवन्त है ।८२।

[श्लोकार्थः—] यहाँ (विश्वमें) यह निश्चित है कि इस जन्मार्णवमें (भवसागरमें) समितिरहित कामरोगातुर (–इच्छारूपी रोगसे पीड़ित) जनोंका जन्म होता है । इसलिये हे मुनि ! तू अपने मनरूपी घरमें इस सुमुक्तिरूपी सुन्दर स्त्रीके लिये निवासगृह रख (अर्थात् तू मुक्तिका चिंतवन कर) ।८३।

(आर्या)

निश्चयरूपां समितिं सूते यदि मुक्तिभाग्भवेन्मोक्षः ।
बत न च लभतेऽपायात् संसारमहार्णवे भ्रमति ॥८४॥

पेसुण्णहासकक्कसपरणिंदप्पप्पसंसियं वयणं ।
परिचत्ता सपरहिदं भासासमिदी वदंतस्स ॥६२॥

पैशून्यहास्यकर्कशपरनिन्दात्मप्रशंसितं वचनम् ।
परित्यक्त्वा स्वपरहितं भाषासमितिर्वदतः ॥६२॥

अत्र भाषासमितिस्वरूपमुक्तम् ।

कर्णेजपमुखविनिर्गतं नृपतिकर्णाभ्यर्णगतं चैकपुरुषस्य एककुटुम्बस्य एकग्रामस्य वा महद्विपत्कारणं वचः पैशून्यम् । क्वचित् कदाचित् किंचित् परजनविकाररूपमवलोक्य त्वाकर्ण्य च हास्याभिधाननोकषायसमुपजनितम् ईषच्छुभमिश्रितमप्यशुभकर्मकारणं पुरुषमुखविकारगतं

[श्लोकार्थः—] यदि जीव निश्चयरूप समितिको उत्पन्न करे, तो वह मुक्तिको प्राप्त करता है—मोक्षरूप होता है । परन्तु समितिके नाशसे (—अभावसे), अरेरे ! वह मोक्ष प्राप्त नहीं कर पाता, किन्तु संसाररूपी महासागरमें भटकता है ।८४।

गाथा ६२

अन्वयार्थः—[पैशून्यहास्यकर्कशपरनिन्दात्मप्रशंसितं वचनम्] पैशून्य (चुगली), हास्य, कर्कश भाषा, परनिन्दा और आत्मप्रशंसारूप वचन [परित्यक्त्वा] परित्यागीको [स्वपरहितं वदतः] जो स्वपरहितरूप वचन बोलता है, उसे [भाषासमितिः] भाषासमिति होती है ।

टीकाः—यहाँ भाषासमितिका स्वरूप कहा है ।

चुगलखोर मनुष्यके मुँहसे निकले हुए और राजाके कान तक पहुँचे हुए, किसी एक पुरुष, किसी एक कुटुम्ब अथवा किसी एक ग्रामको महा विपत्तिके कारणभूत ऐसे वचन वह पैशून्य है । कहीं कभी किन्हीं परजनोंके विकृत रूपको देखकर अथवा सुनकर हास्य नामक नोकषायसे उत्पन्न होनेवाला, किंचित् शुभके साथ मिश्रित होने

पैशून्य, कर्कश, हास्य, परनिन्दा प्रशंसा आत्मकी ।
छोड़ें कहे हितकर वचन, उसके समिति है वचनकी ॥६२॥

हास्यकर्म। कर्णशष्कुलीविवराभ्यर्णगोचरमात्रेण परेषामप्रीतिजननं हि कर्कशवचः परेषां भूताभूतदूषणपुरस्सरवाक्यं परनिन्दा। स्वस्य भूताभूतगुणस्तुतिरात्मप्रशंसा। एतत्सर्वमप्रशस्तवचः परित्यज्य स्वस्य च परस्य च शुभशुद्धपरिणतिकारणं वचो भाषासमितिरिति।

तथा चोक्तं श्रीगुणभद्रस्वामिभिः—

(मालिनी)

"समधिगतसमस्ताः सर्वसावद्यदूराः
स्वहितनिहितचित्ताः शांतसर्वप्रचाराः।
स्वपरसफलजल्पाः सर्वसंकल्पमुक्ताः
कथमिह न विमुक्तेर्भाजनं ते विमुक्ताः ॥"

तथा च—

पर भी अशुभ कर्मका कारण, पुरुषके मुंहके विकारके साथ सम्बन्धवाला, वह हास्यकर्म है। कर्ण छिद्रके निकट पहुंचनेमात्रसे जो दूसरोंको अप्रीति उत्पन्न करते हैं वे कर्कश वचन हैं। दूसरेके विद्यमान–अविद्यमान दूषणपूर्वकके वचन (अर्थात् परके सच्चे तथा भूठे दोष कहनेवाले वचन) वह परनिन्दा है। अपने विद्यमान–अविद्यमान गुणोंकी स्तुति वह आत्मप्रशंसा है।—यह सब अप्रशस्त वचनोंके परित्याग पूर्वक स्व तथा परको शुभ और शुद्ध परिणतिके कारणभूत वचन वह भाषासमिति है।

इसीप्रकार (आचार्यवर) श्रीगुणभद्रस्वामीने (आत्मानुशासनमें २२६ वें श्लोक द्वारा) कहा है कि:—

"[श्लोकार्थः—] जिन्होंने सब (वस्तुस्वरूप) जान लिया है, जो सर्व सावद्यसे दूर हैं, जिन्होंने स्वहितमें चित्तको स्थापित किया है, जिन्होंने सर्व *प्रचार शान्त हुआ है, जिनकी भाषा स्वपरको सफल (हितरूप) है, जो सर्व संकल्प रहित हैं, वे विमुक्त पुरुष इस लोकमें विमुक्तिका भाजन क्यों नहीं होंगे ? (अर्थात् ऐसे मुनिजन अवश्य मोक्षके पात्र हैं।)"

और (६२ वीं गाथाकी टीका पूर्ण करते हुए टीकाकार मुनिराज श्लोक कहते हैं):—

---

* प्रचार=व्यवस्था; कार्य सिर पर लेना; आरम्भ; बाह्य प्रवृत्ति।

(अनुष्टुभ्)

परब्रह्मण्यनुष्ठाननिरतानां मनीषिणाम् ।
अन्तरैरप्यलं जल्पैः बहिर्जल्पैश्च किं पुनः ॥८५॥

कदकारिदाणुमोदणरहिदं तह पासुगं पसत्थं च ।
दिण्णं परेण भत्तं समभुत्ती एसणासमिदी ॥६३॥

कृतकारितानुमोदनरहितं तथा प्रासुकं प्रशस्तं च ।
दत्तं परेण भक्तं संभुक्तिः एषणासमितिः ॥६३॥

अत्रैषणासमितिस्वरूपमुक्तम् । तद्यथा—

मनोवाक्कायानां प्रत्येकं कृतकारितानुमोदनैः कृत्वा नव विकल्पा भवन्ति, न तैः संयुक्तमन्नं नवकोटिविशुद्धमित्युक्तम्; अतिप्रशस्तं मनोहरं, हरितकायात्मकसूक्ष्मप्राणिसंचारा-

---

[श्लोकार्थः—] परब्रह्मके अनुष्ठानमें निरत (अर्थात् परमात्माके आचरणमें लीन) ऐसे बुद्धिमान पुरुषोंको—मुनिजनोंको अन्तर्जल्पसे (—विकल्परूप अन्तरंग उत्थानसे) भी बस होओ, बहिर्जल्पकी (—भाषा बोलनेकी) तो बात ही क्या ? ।८५।

गाथा ६३

अन्वयार्थः—[परेण दत्तं] पर द्वारा दिया गया, [कृतकारितानुमोदनरहितं] कृत–कारित–अनुमोदन रहित, [तथा प्रासुकं] प्रासुक [प्रशस्तं च] और *प्रशस्त [भक्तं] भोजन करनेरूप [संभुक्तिः] जो सम्यक् आहारग्रहण [एषणासमितिः] वह एषणासमिति है ।

टीकाः—यहाँ एषणासमितिका स्वरूप कहा है । वह इसप्रकार—

मन, वचन और कायमेंसे प्रत्येकको कृत, कारित और अनुमोदना सहित मानकर उनके नौ भेद होते हैं; उनसे संयुक्त अन्न नव कोटिरूपसे विशुद्ध नहीं है ऐसा (शास्त्रमें) कहा है; अतिप्रशस्त अर्थात् मनोहर (अन्न); हरितकायमय सूक्ष्म

---

* प्रशस्त = अच्छा; शास्त्रमें प्रशंसित; जो व्यवहारसे प्रमादादिका या रोगादिका निमित्त न हो ऐसा ।

आहार प्रासुक शुद्ध लें पर–दत्त कृत कारित बिना ।
करते नहिं अनुमोदना मुनि समिति जिनके एषणा ॥६३॥

गोचरं प्रासुकमित्यभिहितम्; प्रतिग्रहोच्चस्थानपादक्षालनार्चनप्रणामयोगशुद्धिभिक्षाशुद्धिनामधेयैर्नवविधपुण्यैः प्रतिपत्तिं कृत्वा श्रद्धाशक्त्यलुब्धताभक्तिज्ञानदयाक्षमाऽभिधानसप्तगुणसमाहितेन शुद्धेन योग्याचारेणोपासकेन दत्तं भक्तं भुंजानः तिष्ठति यः परमतपोधनः तस्यैषणासमितिर्भवति। इति व्यवहारसमितिक्रमः। अथ निश्चयतो जीवस्याशनं नास्ति परमार्थतः, षट्प्रकारमशनं व्यवहारतः संसारिणामेव भवति।

तथा चोक्तं—

"णोकम्मकम्महारो लेप्पाहारो य कवलमाहारो।
उज्ज मणो वि य कमसो आहारो छव्विहो णेयो ॥"

प्राणियोंके संचारको अगोचर वह प्रासुक (अन्न)–ऐसा (शास्त्रमें) कहा है। *प्रतिग्रह, उच्च स्थान, पादप्रक्षालन, अर्चन, प्रणाम, योगशुद्धि (मन–वचन–कायाकी शुद्धि) और भिक्षाशुद्धि—इस नवविध पुण्यसे (नवधा भक्तिसे) आदर करके, श्रद्धा, शक्ति, अलुब्धता, भक्ति, ज्ञान, दया और क्षमा—इन (दाताके) सात गुणों सहित शुद्ध योग्य–आचारवाले उपासक द्वारा दिया गया (नव कोटिरूपसे शुद्ध, प्रशस्त और प्रासुक) भोजन जो परम तपोधन लेते हैं, उन्हें एषणासमिति होती है। ऐसा व्यवहारसमितिका क्रम है।

अब निश्चयसे ऐसा है कि—जीवको परमार्थसे अशन नहीं है; छह प्रकारका अशन व्यवहारसे संसारियोंको ही होता है।

इसीप्रकार कहा है कि:—

"[गाथार्थः—] नोकर्म–आहार, कर्म–आहार, लेप–आहार, कवल–आहार, ओज–आहार और मन–आहार—ऐसा क्रमशः छह प्रकारका आहार जानना।"

---

* प्रतिग्रह="आहारजल शुद्ध है; तिष्ठ, तिष्ठ, तिष्ठ, (ठहरिये, ठहरिये, ठहरिये)" ऐसा कहकर आहारग्रहणकी प्रार्थना करना; कृपा करनेके लिये प्रार्थना; आदरसन्मान। [इसप्रकार प्रतिग्रह किया जाने पर, यदि मुनि कृपा करके ठहर जायें तो दाताके सात गुणोंसे युक्त श्रावक उन्हें अपने घरमें ले जाकर, उच्च–आसन पर विराजमान करके, पाँव धोकर, पूजन करता है और प्रणाम करता है। फिर मन–वचन–कायाकी शुद्धिपूर्वक शुद्ध भिक्षा देता है।]

अशुद्धजीवानां विभावधर्मं प्रति व्यवहारनयस्योदाहरणमिदम् । इदानीं निश्चयस्योदाहृतिरुच्यते । तद्यथा—

"जस्स अणेसणमप्पा तं पि तवो तप्पडिच्छगा समणा ।
अण्णं भिक्खमणेसणमध ते समणा अणाहारा ॥"

तथा चोक्तं श्रीगुणभद्रस्वामिभिः—

(मालिनी)

"यमनियमनितान्तः शांतबाह्यान्तरात्मा
परिणमितसमाधिः सर्वसत्त्वानुकंपी ।
विहितहितमिताशी क्लेशजालं समूलं
दहति निहतनिद्रो निश्चिताध्यात्मसारः ॥"

—अशुद्ध जीवोंके विभावधर्म सम्बन्धमें व्यवहारनयका यह (अवतरणकी हुई गाथामें) उदाहरण है ।

अब (श्री प्रवचनसारकी २२७ वीं गाथा द्वारा) निश्चयका उदाहरण कहा जाता है । वह इसप्रकार :—

"[गाथार्थः—] जिसका आत्मा एषणारहित है (अर्थात् जो अनशनस्वभावी आत्माको जाननेके कारण स्वभावसे आहारकी इच्छा रहित है) उसे वह भी तप है; (और) उसे प्राप्त करनेके लिये (—अनशनस्वभावी आत्माको परिपूर्णरूपसे प्राप्त करनेके लिये) प्रयत्न करनेवाले ऐसे जो श्रमण उन्हें अन्य (—स्वरूपसे भिन्न ऐसी) भिक्षा एषणा विना (—एषणादोष रहित) होती है; इसलिये वे श्रमण अनाहारी हैं ।"

इसीप्रकार (आचार्यवर) श्री गुणभद्रस्वामीने (आत्मानुशासनमें २२५ वें श्लोक द्वारा) कहा है कि:—

"[श्लोकार्थः—] जिसने अध्यात्मके सारका निश्चय किया है, जो अत्यन्त यमनियम सहित है, जिसका आत्मा बाहरसे और भीतरसे शान्त हुआ है, जिसे समाधि परिणमित हुई है, जिसे सर्व जीवोंके प्रति अनुकम्पा है, जो विहित (शास्त्राज्ञाके अनुसार) *हित–मित भोजन करनेवाला है, जिसने निद्राका नाश किया है, वह (मुनि) क्लेशजालको समूल जला देता है ।"

---

* हित–मित=हितकर और उचित मात्रामें ।

तथा हि—

(शालिनी)

भुक्त्वा भक्तं भक्तहस्ताग्रदत्तं
ध्यात्वात्मानं पूर्णबोधप्रकाशम् ।
तप्त्वा चैवं सत्तपः सत्तपस्वी
प्राप्नोतीद्धां मुक्तिवारांगनां सः ॥८६॥

पोत्थइकमंडलाइं गहणविसग्गेसु पयतपरिणामो ।
आदावणणिक्खेवणसमिदी होदि त्ति णिद्दिट्ठा ॥६४॥

पुस्तककमण्डलादिग्रहणविसर्गयोः प्रयत्नपरिणामः ।
आदाननिक्षेपणसमितिर्भवतीति निर्दिष्टा ॥६४॥

अत्रादाननिक्षेपणसमितिस्वरूपमुक्तम् ।

अपहृतसंयमिनां संयमज्ञानाद्युपकरणग्रहणविसर्गसमयसमुद्भवसमितिप्रकारोक्तिरियम् ।

और (६३ वीं गाथाकी टीका पूर्ण करते हुए टीकाकार मुनिराज श्लोक कहते हैं) :—

[श्लोकार्थः—] भक्तके हस्ताग्रसे (—हाथकी उङ्गलियोंसे) दिया गया भोजन लेकर, पूर्ण ज्ञानप्रकाशवाले आत्माका ध्यान करके, इसप्रकार सत् तपको (—सम्यक् तपको) तपकर, वह सत् तपस्वी (—सच्चा तपस्वी) दैदीप्यमान मुक्तिवारांगनाको (—मुक्तिरूपी स्त्रीको) प्राप्त करता है ।८६।

गाथा ६४

अन्वयार्थः—[पुस्तककमण्डलादिग्रहणविसर्गयोः] पुस्तक, कमण्डल आदि लेने-रखने सम्बन्धी [प्रयत्नपरिणामः] प्रयत्नपरिणाम वह [आदाननिक्षेपणसमितिः] आदान-निक्षेपणसमिति [भवति] है [इति निर्दिष्टा] ऐसा कहा है ।

टीकाः—यहाँ आदाननिक्षेपणसमितिका स्वरूप कहा है ।

पुस्तक कमण्डल आदि निक्षेपणग्रहण करते यती ।
होता प्रयत परिणाम वह आदाननिक्षेपण समिति ॥६४॥

उपेक्षासंयमिनां न पुस्तककमण्डलुप्रभृतयः, अतस्ते परमजिनमुनयः एकान्ततो निस्पृहाः, अत एव बाह्योपकरणनिर्मुक्ताः । अभ्यन्तरोपकरणं निजपरमतत्त्वप्रकाशदक्षं निरुपाधिस्वरूपसहजज्ञानमन्तरेण न किमप्युपादेयमस्ति । अपहृतसंयमधराणां परमागमार्थस्य पुनः पुनः प्रत्यभिज्ञानकारणं पुस्तकं ज्ञानोपकरणमिति यावत्, शौचोपकरणं च कायविशुद्धिहेतुः कमण्डलुः, संयमोपकरणहेतुः पिच्छः । एतेषां ग्रहणविसर्गयोः समयसमुद्भवप्रयत्नपरिणामविशुद्धिरेव हि आदाननिक्षेपणसमितिरिति निर्दिष्टेति ।

(मालिनी)

समितिषु समितीयं राजते सोत्तमानां
परमजिनमुनीनां संहतौ क्षांतिमैत्री ।
त्वमपि कुरु मनःपंकेरुहे भव्य नित्यं
भवसि हि परमश्रीकामिनीकांतकांतः ॥८७॥

यह, [1]अपहृतसंयमियोंको संयमज्ञानादिकके उपकरण लेते–रखते समय उत्पन्न होनेवाली समितिका प्रकार कहा है । [2]उपेक्षासंयमियोंको पुस्तक, कमण्डल आदि नहीं होते; वे परमजिनमुनि एकान्तमें (–सर्वथा) निस्पृह होते हैं इसीलिये वे बाह्य उपकरण रहित होते हैं । अभ्यंतर उपकरणभूत, निज परमतत्त्वको प्रकाशित करनेमें चतुर ऐसा जो निरुपाधिस्वरूप सहज ज्ञान उसके अतिरिक्त अन्य कुछ उन्हें उपादेय नहीं है । अपहृतसंयमधरोंको परमागमके अर्थका पुनः पुनः प्रत्यभिज्ञान होनेमें कारणभूत ऐसी पुस्तक वह ज्ञानका उपकरण है; शौचका उपकरण कायविशुद्धिके हेतुभूत कमण्डल है; संयमका उपकरण–हेतु पींछी है । इन उपकरणोंको लेते–रखते समय उत्पन्न होनेवाली प्रयत्नपरिणामरूप विशुद्धि ही आदाननिक्षेपणसमिति है ऐसा (शास्त्रमें) कहा है ।

[अब ६४ वीं गाथाकी टीका पूर्ण करते हुए टीकाकार मुनिराज श्लोक कहते हैं :]

[श्लोकार्थः—] उत्तम परमजिनमुनियोंकी यह समिति समितियोंमें शोभती

१–अपहृतसंयमी=अपहृतसंयमवाले मुनि । [अपवाद, व्यवहारनय, एकदेशपरित्याग, अपहृतसंयम (हीन–न्यूनतावाला संयम), सरागचारित्र और शुभोपयोग—यह सब एकार्थ हैं ।]

२–उपेक्षासंयमी=उपेक्षासंयमवाले मुनि । [उत्सर्ग, निश्चयनय, सर्वपरित्याग, उपेक्षासंयम, वीतरागचारित्र और शुद्धोपयोग—यह सब एकार्थ हैं ।]

पासुगभूमिपदेसे गूढे रहिए परोपरोहेण ।
उच्चारादिच्चागो पइट्ठासमिदी हवे तस्स ॥६५॥

प्रासुकभूमिप्रदेशे गूढे रहिते परोपरोधेन ।
उच्चारादित्यागः प्रतिष्ठासमितिर्भवेत्तस्य ॥६५॥

मुनीनां कायमलादित्यागस्थानशुद्धिकथनमिदम् ।

शुद्धनिश्चयतो जीवस्य देहाभावान्न चान्नग्रहणपरिणतिः । व्यवहारतो देहः विद्यते; तस्यैव हि देहे सति ह्याहारग्रहणं भवति; आहारग्रहणान्मलमूत्रादयः संभवन्त्येव । अत एव संयमिनां मलमूत्रविसर्गस्थानं निर्जन्तुकं परेषामुपरोधेन विरहितम् । तत्र स्थाने शरीरधर्मं कृत्वा पश्चात्तस्मात्स्थानादुत्तरेण कतिचित् पदानि गत्वा ह्युदङ्मुखः स्थित्वा चोत्सृज्य कायकर्माणि

है । उसके संगमें क्षांति और मैत्री होते हैं (अर्थात् इस समितियुक्त मुनिको धीरज–सहनशीलता–क्षमा और मैत्रीभाव होते हैं) । हे भव्य ! तू भी मन–कमलमें सदा वह समिति धारण कर, कि जिससे तू परमश्रीरूपी कामिनीका प्रिय कान्त होगा (अर्थात् मुक्तिलक्ष्मीका वरण करेगा) ।८७।

गाथा ६५

अन्वयार्थः—[**परोपरोधेन रहिते**] जिसे परके उपरोध रहित (–दूसरेसे रोका न जाये ऐसे), [**गूढे**] गूढ़ और [**प्रासुकभूमिप्रदेशे**] प्रासुक भूमिप्रदेशमें [**उच्चारादित्यागः**] मलादिका त्याग हो, [**तस्य**] उसे [**प्रतिष्ठासमितिः**] प्रतिष्ठापन समिति [**भवेत्**] होती है ।

टीकाः—यह, मुनियोंको कायमलादित्यागके स्थानकी शुद्धिका कथन है ।

शुद्धनिश्चयसे जीवको देहका अभाव होनेसे अन्नग्रहणरूप परिणति नहीं है । व्यवहारसे (–जीवको) देह है; इसलिये उसीको देह होनेसे आहारग्रहण है; आहारग्रहणके कारण मलमूत्रादिक सम्भवित हैं ही । इसीलिये संयमियोंको मलमूत्रादिकके उत्सर्गका (–त्यागका) स्थान जन्तुरहित तथा परके उपरोध रहित होता है । उस स्थान पर शरीरधर्म करके फिर जो परसंयमी उस स्थानसे उत्तर दिशामें कुछ डग

जो गूढ़ प्रासुक और पर–उपरोध बिन भू पर यती—
मल त्याग करते हैं उन्हें समिति प्रतिष्ठापन कही ॥६५॥

संसारकारणं परिणामं मनश्च संसृतेर्निमित्तं, स्वात्मानमव्यग्रो भूत्वा ध्यायति यः परमसंयमी मुहुर्मुहुः कलेवरस्याप्यशुचित्वं वा परिभावयति, तस्य खलु प्रतिष्ठापनसमितिरिति। नान्येषां स्वैरवृत्तीनां यतिनामधारिणां काचित् समितिरिति।

(मालिनी)

समितिरिह यतीनां मुक्तिसाम्राज्यमूलं
जिनमतकुशलानां स्वात्मचिंतापराणाम्।
मधुसखनिशितास्त्रव्रातसंभिन्नचेतः-
सहितमुनिगणानां नैव सा गोचरा स्यात् ॥८८॥

(हरिणी)

समितिसमितिं बुद्ध्वा मुक्त्यंगनाभिमतामिमां
भवभवभयध्वांतप्रध्वंसपूर्णशशिप्रभाम्।
मुनिप तव सद्दीक्षाकान्तासखीमधुना मुदा
जिनमततपःसिद्धं यायाः फलं किमपि ध्रुवम् ॥८९॥

जाकर उत्तरमुख खड़े रहकर, कायकर्मोंका (-शरीरकी क्रियाओंका), संसारके कारणभूत हों ऐसे परिणामोंका तथा संसारके निमित्तभूत मनका उत्सर्ग करके, निज आत्माको अव्यग्र (-एकाग्र) होकर ध्याता है अथवा पुनः पुनः कलेवरकी (-शरीरकी) भी अशुचिता सर्व ओरसे भाता है, उसे वास्तवमें प्रतिष्ठापनसमिति होती है। दूसरे स्वच्छन्दवृत्तिवाले यतिनामधारियोंको कोई समिति नहीं होती।

[अब ६५ वीं गाथाकी टीका पूर्ण करते हुए टीकाकार मुनिराज तीन श्लोक कहते हैं :]

[श्लोकार्थः—] जिनमतमें कुशल और स्वात्मचिंतनमें परायण ऐसे यतिओंको यह समिति मुक्तिसाम्राज्यका मूल है। कामदेवके तीक्ष्ण अस्त्रसमूहसे भिदे हुए हृदयवाले मुनिगणोंको वह (समिति) गोचर होती ही नहीं।८८।

[श्लोकार्थः—] हे मुनि! समितियोंमेंकी इस समितिको—कि जो मुक्तिरूपी स्त्रीको प्यारी है, जो भवभवके भयरूपी अंधकारको नष्ट करनेके लिये पूर्ण चन्द्रकी प्रभा समान है तथा तेरी सत्-दीक्षारूपी कान्ताकी (-सच्ची दीक्षारूपी प्रिय स्त्रीकी) सखी है उसे—अब प्रमोदसे जानकर, जिनमतकथित तपसे सिद्ध होनेवाले ऐसे किसी (अनुपम) ध्रुव फलको तू प्राप्त करेगा।८९।

(द्रुतविलंबित)

समितिसंहतितः फलमुत्तमं
सपदि याति मुनिः परमार्थतः ।
न च मनोवचसामपि गोचरं
किमपि केवलसौख्यसुधामयम् ॥९०॥

कालुस्समोहसण्णारागद्दोसाइअसुहभावाणं ।
परिहारो मणुगुत्ती ववहारणयेण परिकहियं ॥६६॥

कालुष्यमोहसंज्ञारागद्वेषाद्यशुभभावानाम् ।
परिहारो मनोगुप्तिः व्यवहारनयेन परिकथिता ॥६६॥

व्यवहारमनोगुप्तिस्वरूपाख्यानमेतत् ।

क्रोधमानमायालोभाभिधानैश्चतुर्भिः कषायैः क्षुभितं चित्तं कालुष्यम् । मोहो दर्शन-

---

[श्लोकार्थः—] समितिकी संगति द्वारा वास्तवमें मुनि मन–वाणीको भी अगोचर (–मनसे अचिंत्य और वाणीसे अकथ्य) ऐसा कोई केवलसुखामृतमय उत्तम फल शीघ्र प्राप्त करता है ।९०।

गाथा ६६

अन्वयार्थः—[कालुष्यमोहसंज्ञारागद्वेषाद्यशुभभावानाम्] कलुषता, मोह, संज्ञा, राग, द्वेष आदि अशुभ भावोंके [परिहारः] परिहारको [व्यवहारनयेन] व्यवहारनयसे [मनोगुप्तिः] मनोगुप्ति [परिकथिता] कहा है ।

टीकाः—यह, व्यवहार *मनोगुप्तिके स्वरूपका कथन है ।

क्रोध, मान, माया और लोभ नामक चार कषायोंसे क्षुब्ध हुआ चित्त सो

---

* मुनिको मुनित्वोचित शुद्धपरिणतिके साथ वर्तता हुआ जो (हठ रहित) मन–आश्रित, वचन–आश्रित अथवा काय–आश्रित शुभोपयोग उसे व्यवहार गुप्ति कहा जाता है, क्योंकि शुभोपयोगमें मन, वचन या कायके साथ अशुभोपयोगरूप युक्तता नहीं है । शुद्धपरिणति न हो वहाँ शुभोपयोग हठ सहित होता है । वह शुभोपयोग तो व्यवहारगुप्ति भी नहीं कहलाता ।

कालुष्य, संज्ञा, मोह, राग, द्वेषके परिहारसे ।
होती मनोगुप्ति श्रमणको कथन नय व्यवहारसे ॥६६॥

चारित्रमेदाद् द्विधा । संज्ञा आहारभयमैथुनपरिग्रहाणां भेदाच्चतुर्धा । रागः प्रशस्ताप्रशस्तभेदेन द्विविधः । असह्यजनेषु वापि चासह्यपदार्थसार्थेषु वा वैरस्य परिणामो द्वेषः । इत्याद्यशुभपरिणामप्रत्ययानां परिहार एव व्यवहारनयाभिप्रायेण मनोगुप्तिरिति ।

(वसन्ततिलका)

गुप्तिर्भविष्यति सदा परमागमार्थ-
चिंतासनाथमनसो विजितेन्द्रियस्य ।
बाह्यान्तरंगपरिषंगविवर्जितस्य
श्रीमज्जिनेन्द्रचरणस्मरणान्वितस्य ॥९१॥

थीराजचोरभत्तकहादिवयणस्स पावहेउस्स ।
परिहारो वयगुत्ती अलियादिणियत्तिवयणं वा ॥६७॥

कलुषता है। दर्शनमोह और चारित्रमोह ऐसे (दो) भेदोंके कारण मोह दो प्रकारका है। आहारसंज्ञा, भयसंज्ञा, मैथुनसंज्ञा और परिग्रहसंज्ञा ऐसे (चार) भेदोंके कारण संज्ञा चार प्रकारकी है। प्रशस्त राग और अप्रशस्त राग ऐसे (दो) भेदोंके कारण राग दो प्रकारका है। असह्य जनोंके प्रति अथवा असह्य पदार्थसमूहोंके प्रति वैरका परिणाम वह द्वेष है।—इत्यादि *अशुभपरिणामप्रत्ययोंका परिहार ही (अर्थात् अशुभपरिणाम-रूप भावपापास्रवोंका त्याग ही) व्यवहारनयके अभिप्रायसे मनोगुप्ति है।

[अब ६६ वीं गाथाकी टीका पूर्ण करते हुए टीकाकार मुनिराज श्लोक कहते हैं :]

[श्लोकार्थः—] जिसका मन परमागमके अर्थोंके चिन्तनयुक्त है, जो विजितेन्द्रिय है (अर्थात् जिसने इन्द्रियोंको विशेषरूपसे जीता है), जो बाह्य तथा अभ्यन्तर संग रहित है और जो श्री जिनेन्द्रचरणके स्मरणसे संयुक्त है, उसे सदा गुप्ति होती है।९१।

---

* प्रत्यय=आस्रव; कारण। (संसारके कारणोंसे आत्माका गोपन—रक्षण करना सो गुप्ति है। भावपापास्रव तथा भावपुण्यास्रव संसारके कारण हैं।)

जो पापकारण चोर, भोजन, राज दाराकी कथा।
एवं मृषा-परिहार यह लक्षण वचनकी गुप्तिका ॥६७॥

स्त्रीराजचौरभक्तकथादिवचनस्य पापहेतोः ।
परिहारो वाग्गुप्तिरलीकादिनिवृत्तिवचनं वा ॥६७॥

इह वाग्गुप्तिस्वरूपमुक्तम् ।

अतिप्रवृद्धकामैः कामुकजनैः स्त्रीणां संयोगविप्रलंभजनितविविधवचनरचना कर्तव्या श्रोतव्या च सैव स्त्रीकथा । राज्ञां युद्धहेतूपन्यासो राजकथाप्रपंचः । चौराणां चौरप्रयोगकथनं चौरकथाविधानम् । अतिप्रवृद्धभोजनप्रीत्या विचित्रमंडकावलीखण्डदधि खंडसिताशनपानप्रशंसा भक्तकथा । आसामपि कथानां परिहारो वाग्गुप्तिः । अलीकनिवृत्तिश्च वाग्गुप्तिः । अन्येषां अप्रशस्तवचसां निवृत्तिरेव वा वाग्गुप्तिः इति ।

तथा चोक्तं श्रीपूज्यपादस्वामिभिः—

गाथा ६७

अन्वयार्थः—[पापहेतोः] पापके हेतुभूत ऐसे [स्त्रीराजचौरभक्तकथादिवचनस्य] स्त्रीकथा, राजकथा, चोरकथा, भक्तकथा इत्यादिरूप वचनोंका [परिहारः] परिहार [वा] अथवा [अलीकादिनिवृत्तिवचनं] असत्यादिककी निवृत्तिवाले वचन [वाग्गुप्तिः] वह वचनगुप्ति है ।

टीकाः—यहाँ वचनगुप्तिका स्वरूप कहा है ।

जिन्हें काम अति वृद्धिको प्राप्त हुआ हो ऐसे कामी जनों द्वारा की जानेवाली और सुनी जानेवाली ऐसी जो स्त्रियोंकी संयोगवियोगजनित विविध वचनरचना (–स्त्रियोंसम्बन्धी बात) वही स्त्रीकथा है; राजाओंका युद्धहेतुक कथन (अर्थात् राजाओं द्वारा किये जानेवाले युद्धादिकका कथन) वह राजकथाप्रपंच है; चोरोंका चोरप्रयोग-कथन वह चोरकथाविधान है (अर्थात् चोरों द्वारा किये जानेवाले चोरीके प्रयोगोंकी बात वह चोर कथा है); अति वृद्धिको प्राप्त भोजनकी प्रीति द्वारा मैदाकी पूरी और शक्कर, दही–शक्कर, मिसरी इत्यादि अनेक प्रकारके अशन–पानकी प्रशंसा वह भक्तकथा (भोजनकथा) है ।—इन समस्त कथाओंका परिहार सो वचनगुप्ति है । असत्यकी निवृत्ति भी वचनगुप्ति है । अथवा (असत्य उपरान्त) अन्य अप्रशस्त वचनोंकी निवृत्ति वही वचनगुप्ति है ।

इसप्रकार (आचार्यवर) श्री पूज्यपादस्वामीने (समाधितंत्रमें १७ वें श्लोक द्वारा) कहा है कि :—

(अनुष्टुभ्)

"एवं त्यक्त्वा बहिर्वाचं त्यजेदन्तरशेषतः ।
एष योगः समासेन प्रदीपः परमात्मनः ॥"

तथा हि—

(मंदाक्रांता)

त्यक्त्वा वाचं भवभयकरीं भव्यजीवः समस्तां
ध्यात्वा शुद्धं सहजविलसच्चिच्चमत्कारमेकम् ।
पश्चान्मुक्तिं सहजमहिमानंदसौख्याकरीं तां
प्राप्नोत्युच्चैः प्रहतदुरितध्वांतसंघातरूपः ॥९२॥

बंधणछेदणमारणआकुंचण तह पसारणादीया ।
कायकिरियाणियत्ती णिद्दिट्ठा कायगुत्ति त्ति ॥६८॥

बंधनछेदनमारणाकुञ्चनानि तथा प्रसारणादीनि ।
कायक्रियानिवृत्तिः निर्दिष्टा कायगुप्तिरिति ॥६८॥

"[श्लोकार्थः—] इसप्रकार बहिर्वचनोंको त्यागकर अन्तर्वचनोंको अशेषतः (सम्पूर्णरूपसे) त्यागना ।—यह, संक्षेपसे योग (अर्थात् समाधि) है–कि जो योग परमात्माका प्रदीप है (अर्थात् परमात्माको प्रकाशित करनेवाला दीपक है) ।"

और (इस ६७ वीं गाथाकी टीका पूर्ण करते हुए टीकाकार मुनिराज श्लोक कहते हैं :) :—

[श्लोकार्थः—] भव्यजीव भवभयकी करनेवाली समस्त वाणीको छोड़कर शुद्ध सहज–विलसते चैतन्यचमत्कारका एकका ध्यान करके, फिर, पापरूपी तिमिरसमूहको नष्ट करके सहजमहिमावंत आनन्दसौख्यकी खानरूप ऐसी उस मुक्तिको अतिशयरूपसे प्राप्त करता है ।९२।

गाथा ६८

अन्वयार्थः—[बन्धनछेदनमारणाकुञ्चनानि] बन्धन, छेदन, मारन (–मार

मारन, प्रतारण, बन्ध छेदन और आकुञ्चन सभी ।
करते सदा परिहार मुनिजन, गुप्ति पालें कायकी ॥६८॥

अत्र कायगुप्तिस्वरूपमुक्तम् ।

कस्यापि नरस्य तस्यान्तरंगनिमित्तं कर्म, बंधनस्य बहिरंगहेतुः कस्यापि कायव्यापारः । छेदनस्याप्यन्तरंगकारणं कर्मोदयः, बहिरंगकारणं प्रमत्तस्य कायक्रिया । मारणस्याप्यन्तरंगहेतुरांतर्यक्षयः, बहिरंगकारणं कस्यापि कायविकृतिः । आकुंचनप्रसारणादिहेतुः संहरणविसर्पणादिहेतुसमुद्घातः । एतासां कायक्रियाणां निवृत्तिः कायगुप्तिरिति ।

(अनुष्टुभ्)

मुक्त्वा कायविकारं यः शुद्धात्मानं मुहुर्मुहुः ।
संभावयति तस्यैव सफलं जन्म संसृतौ ॥९३॥

जा रायादिणियत्ती मणस्स जाणीहि तं मणोगुत्ती ।
अलियादिणियत्तिं वा मोणं वा होइ वइगुत्ती ॥६९॥

डालना), आकुंचन (–संकोचना) [तथा] तथा [प्रसारणादीनि] प्रसारण (–विस्तारना) इत्यादि [**कायक्रियानिवृत्तिः**] कायक्रियाओंकी निवृत्तिको [**कायगुप्तिः इति निर्दिष्टा**] कायगुप्ति कहा है ।

टीकाः—यहाँ कायगुप्तिका स्वरूप कहा है ।

किसी पुरुषको बन्धनका अन्तरंग निमित्त कर्म है, बन्धनका बहिरंग हेतु किसीका कायव्यापार है; छेदनका भी अन्तरंग कारण कर्मोदय है, बहिरंग कारण प्रमत्त जीवकी कायक्रिया है; मारनका भी अन्तरंग हेतु आंतरिक (निकट) सम्बन्धका (आयुका) क्षय है, बहिरंग कारण किसीकी कायविकृति है; आकुंचन, प्रसारण आदिका हेतु संकोचविस्तारादिकके हेतुभूत समुद्घात है ।—इन कायक्रियाओंकी निवृत्ति वह कायगुप्ति है ।

[अब ६८ वीं गाथाकी टीका पूर्ण करते हुए टीकाकार मुनिराज श्लोक कहते हैं :]

[श्लोकार्थः—] कायविकारको छोड़कर जो पुनः पुनः शुद्धात्माकी संभावना (सम्यक् भावना) करता है, उसीका जन्म संसारमें सफल है ।९३।

हो रागकी निवृत्ति मनसे नियत मनगुप्ति वही ।
होवे असत्य–निवृत्ति अथवा मौन वच गुप्ति कही ॥६९॥

या रागादिनिवृत्तिर्मनसो जानीहि तां मनोगुप्तिम् ।
अलीकादिनिवृत्तिर्वा मौनं वा भवति वाग्गुप्तिः ॥६९॥

निश्चयनयेन मनोवाग्गुप्तिसूचनेयम् ।

सकलमोहरागद्वेषाभावादखंडाद्वैतपरमचिद्रूपे सम्यगवस्थितिरेव निश्चयमनोगुप्तिः । हे शिष्य त्वं तावदचलितां मनोगुप्तिमिति जानीहि । निखिलानृतभाषापरिहृतिर्वा मौनव्रतं च । मूर्तद्रव्यस्य चेतनाभावाद् अमूर्तद्रव्यस्येंद्रियज्ञानागोचरत्वादुभयत्र वाक्प्रवृत्तिर्न भवति । इति निश्चयवाग्गुप्तिस्वरूपमुक्तम् ।

(शार्दूलविक्रीडित)

शस्ताशस्तमनोवचस्समुदयं त्यक्त्वात्मनिष्ठापरः
शुद्धाशुद्धनयातिरिक्तमनघं चिन्मात्रचिन्तामणिम् ।
प्राप्यानंतचतुष्टयात्मकतया सार्धं स्थितां सर्वदा
जीवन्मुक्तिमुपैति योगितिलकः पापाटवीपावकः ॥९४॥

गाथा ६९

अन्वयार्थः—[मनसः] मनमेंसे [या] जो [रागादिनिवृत्तिः] रागादिकी निवृत्ति [ताम्] उसे [मनोगुप्तिम्] मनोगुप्ति [जानीहि] जान । [अलीकादिनिवृत्तिः] असत्यादिकी निवृत्ति [वा] अथवा [मौनं वा] मौन [वाग्गुप्तिः भवति] वह वचनगुप्ति है ।

टीकाः—यह, निश्चयनयसे मनोगुप्ति और वचनगुप्तिकी सूचना है ।

सकल मोहरागद्वेषके अभावके कारण अखण्ड अद्वैत परमचिद्रूपमें सम्यक्‌रूपसे अवस्थित रहना ही निश्चयमनोगुप्ति है । हे शिष्य ! तू उसे वास्तवमें अचलित मनोगुप्ति जान ।

समस्त असत्य भाषाका परिहार अथवा मौनव्रत सो वचनगुप्ति है । मूर्तद्रव्यको चेतनाका अभाव होनेके कारण और अमूर्तद्रव्य इन्द्रियज्ञानसे अगोचर होनेके कारण दोनोंके प्रति वचनप्रवृत्ति नहीं होती । इसप्रकार निश्चयवचनगुप्तिका स्वरूप कहा गया ।

[अब ६९ वीं गाथाकी टीका पूर्ण करते हुए टीकाकार मुनिराज श्लोक कहते हैं :]

[श्लोकार्थः—] पापरूपी अटवीको जलानेमें अग्नि समान ऐसा योगितिलक

कायकिरियाणियत्ती काउस्सग्गो सरीरगे गुत्ती ।
हिंसाइणियत्ती वा सरीरगुत्ति त्ति णिद्दिट्ठा ॥७०॥

कायक्रियानिवृत्तिः कायोत्सर्गः शरीरके गुप्तिः ।
हिंसादिनिवृत्तिर्वा शरीरगुप्तिरिति निर्दिष्टा ॥७०॥

निश्चयशरीरगुप्तिस्वरूपाख्यानमेतत् ।

सर्वेषां जनानां कायेषु वह्व्यः क्रिया विद्यन्ते, तासां निवृत्तिः कायोत्सर्गः, स एव गुप्तिर्भवति । पंचस्थावराणां त्रसानां च हिंसानिवृत्तिः कायगुप्तिर्वा । परमसंयमधरः परमजिनयोगीश्वरः यः स्वकीयं वपुः स्वस्य वपुषा विवेश तस्यापरिस्पंदमूर्तिरेव निश्चयकायगुप्तिरिति ।

तथा चोक्तं तत्त्वानुशासने—

(मुनिशिरोमणि) प्रशस्त–अप्रशस्त मन–वाणीके समुदायको छोड़कर आत्मनिष्ठामें परायण रहता हुआ, शुद्धनय और अशुद्धनयसे रहित ऐसे अनघ (–निर्दोष) चैतन्यमात्र चिन्तामणिको प्राप्त करके, अनन्तचतुष्टयात्मकपनेके साथ सर्वदा स्थित ऐसी जीवन-मुक्तिको प्राप्त करता है ।९४।

गाथा ७०

अन्वयार्थः—[कायक्रियानिवृत्तिः] कायक्रियाओंकी निवृत्तिरूप [कायोत्सर्गः] कायोत्सर्ग [शरीरके गुप्तिः] शरीरसम्बन्धी गुप्ति है; [वा] अथवा [हिंसादिनिवृत्तिः] हिंसादिकी निवृत्तिको [शरीरगुप्तिः इति] शरीरगुप्ति [निर्दिष्टा] कहा है ।

टीकाः—यह निश्चयशरीरगुप्तिके स्वरूपका कथन है ।

सर्वजनोंको कायासम्बन्धी बहु क्रियाएँ होती हैं; उनकी निवृत्ति सो कायोत्सर्ग है; वही गुप्ति (अर्थात् कायगुप्ति) है । अथवा पाँच स्थावरोंकी और त्रसोंकी हिंसा-निवृत्ति सो कायगुप्ति है । जो परमसंयमधर परमजिनयोगीश्वर अपने (चैतन्यरूप) शरीरमें अपने (चैतन्यरूप) शरीरसे प्रविष्ट होगये, उनकी अपरिस्पंदमूर्ति ही (–अकंप दशा ही) निश्चयकायगुप्ति है ।

इसीप्रकार श्री तत्त्वानुशासनमें (श्लोक द्वारा) कहा है कि:—

कायिक क्रिया निवृत्ति कायोत्सर्ग तनकी गुप्ति है ।
हिंसादिसे निवृत्ति भी होती नियत तनगुप्ति है ॥७०॥

(अनुष्टुभ्)

"उत्सृज्य कायकर्माणि भावं च भवकारणम् ।
स्वात्मावस्थानमव्यग्रं कायोत्सर्गः स उच्यते ।।"

तथा हि—

(अनुष्टुभ्)

अपरिस्पन्दरूपस्य परिस्पन्दात्मिका तनुः ।
व्यवहाराद्भवेन्मेऽतस्त्यजामि विकृतिं तनोः ।।९५।।

घणघाइकम्मरहिया केवलणाणाइपरमगुणसहिया ।
चोत्तिसअदिसयजुत्ता अरिहंता एरिसा होंति ।।७१।।

घनघातिकर्मरहिताः केवलज्ञानादिपरमगुणसहिताः ।
चतुस्त्रिंशदतिशययुक्ता अर्हन्त ईदृशा भवन्ति ।।७१।।

भगवतोऽर्हत्परमेश्वरस्य स्वरूपाख्यानमेतत् ।

"[श्लोकार्थः—] कायक्रियाओंको तथा भवके कारणभूत (विकारी) भावको छोड़कर अव्यग्ररूपसे निज आत्मामें स्थित रहना, वह कायोत्सर्ग कहलाता है ।"

और (इस ७० वीं गाथाकी टीका पूर्ण करते हुए टीकाकार मुनिराज श्लोक कहते हैं) :—

[श्लोकार्थः—] अपरिस्पन्दात्मक ऐसे मुझे परिस्पंदात्मक शरीर व्यवहारसे है; इसलिये मैं शरीरकी विकृतिको छोड़ता हूं ।९५।

गाथा ७१

अन्वयार्थः—[घनघातिकर्मरहिताः] घनघातिकर्म रहित, [केवलज्ञानादिपरमगुणसहिताः] केवलज्ञानादि परम गुणों सहित और [चतुस्त्रिंशदतिशययुक्ताः] चौंतीस अतिशय संयुक्त;—[ईदृशाः] ऐसे, [अर्हन्तः] अर्हन्त [भवन्ति] होते हैं ।

टीकाः—यह, भगवान अर्हंत् परमेश्वरके स्वरूपका कथन है ।

चौंतीस अतिशययुक्त, अरु घनघाति कर्म विमुक्त है ।
अर्हंत श्री कैवल्यज्ञानादिक परमगुण युक्त हैं ।।७१।।

आत्मगुणघातकानि घातिकर्माणि घनरूपाणि सान्द्रीभूतात्मकानि ज्ञानदर्शनावरणान्तरायमोहनीयानि तैर्विरहितास्तथोक्ताः । प्रागुप्तघातिचतुष्कप्रध्वंसनासादितत्रैलोक्यप्रक्षोभहेतुभूतसकलविमलकेवलज्ञानकेवलदर्शनकेवलशक्तिकेवलसुखसहिताश्च । निःस्वेदनिर्मलादिचतुर्स्त्रिंशदतिशयगुणनिलयाः । ईदृशा भवन्ति भगवन्तोऽर्हन्त इति ।

(मालिनी)

जयति विदितगात्रः स्मेरनीरेजनेत्रः
सुकृतनिलयगोत्रः पण्डिताम्भोजमित्रः ।
मुनिजनवनचैत्रः कर्मवाहिन्यमित्रः
सकलहितचरित्रः श्रीसुसीमासुपुत्रः ॥९६॥

(मालिनी)

स्मरकरिमृगराजः पुण्यकंजाह्निराजः
सकलगुणसमाजः सर्वकल्पावनीजः ।
स जयति जिनराजः प्रास्तदुःकर्मबीजः
पदनुतसुरराजस्त्यक्तसंसारभूजः ॥९७॥

[भगवन्त अर्हन्त कैसे होते हैं ?] (१) जो आत्मगुणोंके घातक घातिकर्म हैं और जो घन अर्थात् गाढ़ हैं—ऐसे जो ज्ञानावरण, दर्शनावरण, अन्तराय और मोहनीय कर्म उनसे रहित वर्णन किये गये; (२) जो पूर्वमें बोये गये चार घातिकर्मोंके नाशसे प्राप्त होते हैं ऐसे, तीन लोकको *प्रक्षोभके हेतुभूत सकलविमल (सर्वथा निर्मल) केवलज्ञान, केवलदर्शन, केवलशक्ति (–वीर्य, बल) और केवलसुख सहित; तथा (३) स्वेदरहित, मलरहित इत्यादि चौंतीस अतिशय गुणोंके निवासस्थानरूप;—ऐसे, भगवंत अर्हन्त होते हैं ।

[अब ७१ वीं गाथाकी टीका पूर्ण करते हुए टीकाकार मुनिराज पाँच श्लोक कहते हैं :]

[श्लोकार्थः—] प्रख्यात (अर्थात् परमौदारिक) जिनका शरीर है, प्रफुल्लित कमल जैसे जिनके नेत्र हैं, पुण्यका निवासस्थान (अर्थात् तीर्थंकरपद) जिनका गोत्र है, पण्डितरूपी कमलोंको (विकसित करनेके लिये) जो सूर्य हैं, मुनिजनरूपी वनको जो

---

* प्रक्षोभका अर्थ ८५ वें पृष्ठकी टिप्पणीमें देखें ।

(मालिनी)

जितरतिपतिचापः सर्वविद्याप्रदीपः
परिणतसुखरूपः पापकीनाशरूपः ।
हतभवपरितापः श्रीपदानम्रभूपः
स जयति जितकोपः प्रह्वविद्वत्कलापः ॥९८॥

(मालिनी)

जयति विदितमोक्षः पद्मपत्रायताक्षः
प्रजितदुरितकक्षः प्रास्तकंदर्पपक्षः
पदयुगनतयक्षः तत्त्वविज्ञानदक्षः
कृतबुधजनशिक्षः प्रोक्तनिर्व्वाणदीक्षः ॥९९॥

चैत्र हैं (अर्थात् मुनिजनरूपी वनको खिलानेमें जो वसन्तऋतु समान हैं), कर्मकी सेनाके जो शत्रु हैं और सर्वको हितरूप जिनका चरित्र है, वे श्री सुसीमा माताके सुपुत्र (श्री पद्मप्रभ तीर्थंकर) जयवन्त हैं ।९६।

[श्लोकार्थः—] जो कामदेवरूपी हाथीको (मारनेके लिये) सिंह हैं, जो पुण्यरूपी कमलको (विकसित करनेके लिये) भानु हैं, जो सर्व गुणोंके समाज (–समुदाय) हैं, जो सर्व कल्पित (–चिंतित) देनेवाले कल्पवृक्ष हैं, जिन्होंने दुष्ट कर्मके बीजको नष्ट किया है, जिनके चरणमें सुरेन्द्र नमते हैं और जिन्होंने संसाररूपी वृक्षका त्याग किया है, वे जिनराज (श्री पद्मप्रभ भगवान) जयवन्त हैं ।९७।

[श्लोकार्थः—] कामदेवके बाणको जिन्होंने जीत लिया है, सर्व विद्याओंके जो प्रदीप (–प्रकाशक) हैं, जिनका स्वरूप सुखरूपसे परिणमित हुआ है, पापको (मार–डालनेके लिये) जो यमरूप हैं, भवके परितापका जिन्होंने नाश किया है, भूपति जिनके श्रीपदमें (–महिमायुक्त पुनीत चरणोंमें) नमते हैं, क्रोधको जिन्होंने जीता है और विद्वानोंका समुदाय जिनके आगे नत हो जाता—झुक जाता है, वे (श्री पद्मप्रभनाथ) जयवन्त हैं ।९८।

[श्लोकार्थः—] प्रसिद्ध जिनका मोक्ष है, पद्मपत्र (–कमलके पत्ते) जैसे दीर्घ जिनके नेत्र हैं, *पापकक्षाको जिन्होंने जीत लिया है, कामदेवके पक्षका जिन्होंने नाश किया है, यक्ष जिनके चरणयुगलमें नमते हैं, तत्त्वविज्ञानमें जो दक्ष (चतुर) हैं,

---

* कक्षा=भूमिका; श्रेणी; स्थिति ।

(मालिनी)

मदननगसुरेशः कान्तकायप्रदेशः
पदविनतयमीशः प्रास्तकीनाशपाशः
दुरघवनहुताशः कीर्तिसंपूरिताशः
जयति जगदधीशः चारुपद्मप्रभेशः ॥१००॥

णट्ठट्ठकम्मबंधा अट्ठमहागुणसमण्णिया परमा ।
लोयग्गठिदा णिच्चा सिद्धा ते एरिसा होंति ॥७२॥

नष्टाष्टकर्मबन्धा अष्टमहागुणसमन्विताः परमाः ।
लोकाग्रस्थिता नित्याः सिद्धास्ते ईदृशा भवन्ति ॥७२॥

भगवतां सिद्धिपरंपराहेतुभूतानां सिद्धपरमेष्ठीनां स्वरूपमत्रोक्तम् ।

बुधजनोंको जिन्होंने शिक्षा (सीख) दी है और निर्वाणदीक्षाका जिन्होंने उच्चारण किया है, वे (श्री पद्मप्रभ जिनेन्द्र) जयवन्त हैं ।९९।

[श्लोकार्थः—] कामदेवरूपी पर्वतके लिये (अर्थात् उसे तोड़ देनेमें) जो (वज्रधर) इन्द्र समान हैं, कान्त (मनोहर) जिनका कायप्रदेश है, मुनिवर जिनके चरणमें नमते हैं, यमके पाशका जिन्होंने नाश किया है, दुष्ट पापरूपी वनको (जलानेके लिये) जो अग्नि हैं, सर्व दिशाओंमें जिनकी कीर्ति व्याप्त हो गई है और जगतके जो अधीश (नाथ) हैं, वे सुन्दर पद्मप्रभेश जयवन्त हैं ।१००।

गाथा ७२

अन्वयार्थः—[नष्टाष्टकर्मबन्धाः] आठ कर्मोंके बन्धको जिन्होंने नष्ट किया है ऐसे, [अष्टमहागुणसमन्विताः] आठ महागुणों सहित, [परमाः] परम, [लोकाग्रस्थिताः] लोकके अग्रमें स्थित और [नित्याः] नित्य;—[ईदृशाः] ऐसे, [ते सिद्धाः] वे सिद्ध [भवन्ति] होते हैं ।

टीकाः—सिद्धिके परम्पराहेतुभूत ऐसे भगवन्त सिद्धपरमेष्ठियोंका स्वरूप यहाँ कहा है ।

हैं अष्ट गुण संयुक्त, आठों कर्म-बन्ध विनष्ट हैं ।
लोकाग्रमें जो हैं प्रतिष्ठित परम शाश्वत सिद्ध हैं ॥७२॥

निरवशेषेणान्तर्मुखाकारध्यानध्येयविकल्पविरहितनिश्चयपरमशुक्लध्यानबलेन नष्टाष्टकर्मबंधाः । क्षायिकसम्यक्त्वाद्यष्टगुणपुष्टितुष्टाश्च । त्रितत्त्वस्वरूपेषु विशिष्टगुणाधारत्वात् परमाः । त्रिभुवनशिखरात्परतो गतिहेतोरभावात् लोकाग्रस्थिताः । व्यवहारतोऽभूतपूर्वपर्यायप्रच्यवनाभावान्नित्याः । ईदृशास्ते भगवन्तः सिद्धपरमेष्ठिन इति ।

(मालिनी)

व्यवहरणनयेन ज्ञानपुंजः स सिद्धः
त्रिभुवनशिखराग्रग्रावचूडामणिः स्यात् ।
सहजपरमचिच्चिन्तामणौ नित्यशुद्धे
निवसति निजरूपे निश्चयेनैव देवः ॥१०१॥

[भगवन्त सिद्ध कैसे होते हैं] (१) [1]निरवशेषरूपसे अन्तर्मुखाकार, ध्यान-ध्येयके विकल्प रहित निश्चय-परमशुक्लध्यानके बलसे जिन्होंने आठ कर्मके बन्धको नष्ट किया है ऐसे; (२) [2]क्षायिक सम्यक्त्वादि अष्ट गुणोंकी पुष्टिसे तुष्ट; (३) विशिष्ट गुणोंके आधार होनेसे [3]तत्त्वके तीन स्वरूपोंमें परम; (४) तीन लोकके शिखरसे आगे गतिहेतुका अभाव होनेसे लोकके अग्रमें स्थित; (५) व्यवहारसे अभूतपूर्व पर्यायमेंसे (–पहले कभी नहीं हुई ऐसी सिद्धपर्यायमेंसे) च्युत होनेका अभाव होनेके कारण नित्य;—ऐसे, वे भगवन्त सिद्धपरमेष्ठी होते हैं ।

[अब ७२ वीं गाथाकी टीका पूर्ण करते हुए टीकाकार मुनिराज तीन श्लोक कहते हैं :]

[श्लोकार्थः—] व्यवहारनयसे ज्ञानपुंज ऐसे वे सिद्धभगवान त्रिभुवनशिखरकी शिखाके (चैतन्यघनरूप) ठोस [4]चूड़ामणि हैं; निश्चयसे वे देव सहजपरमचैतन्यचिन्तामणिस्वरूप नित्यशुद्ध निज रूपमें ही वास करते हैं ।१०१।

१–निरवशेषरूपसे=अशेषतः; कुछ शेष रखे बिना; सम्पूर्णरूपसे; सर्वथा । [परमशुक्लध्यानका आकार अर्थात् स्वरूप सम्पूर्णतया अन्तर्मुख होता है ।]

२–सिद्धभगवन्त क्षायिक सम्यक्त्व, अनन्त ज्ञान, अनन्त दर्शन, अनन्त वीर्य सूक्ष्मत्व, अवगाहन, अगुरुलघु और अव्याबाध इन आठ गुणोंकी पुष्टिसे सन्तुष्ट—आनन्दमय होते हैं ।

३–सिद्धभगवन्त विशिष्ट गुणोंके आधार होनेसे बहिःतत्त्व और परमतत्त्व ऐसे तीन तत्त्वस्वरूपोंमेंसे परमतत्त्वस्वरूप हैं ।

४–चूड़ामणि=शिखामणि; कलगीका रत्न; शिखरका रत्न ।

(स्रग्धरा)

नीत्वास्तान् सर्वदोषान् त्रिभुवनशिखरे ये स्थिता देहमुक्ताः
तान् सर्वान् सिद्धिसिद्ध्यै निरुपमविशदज्ञानदृक्शक्तियुक्तान् ।
सिद्धान् नष्टाष्टकर्मप्रकृतिसमुदयान् नित्यशुद्धाननन्तान्
अव्याबाधान्नमामि त्रिभुवनतिलकान् सिद्धिसीमन्तिनीशान् ॥१०२॥

(अनुष्टुभ्)

स्वस्वरूपस्थितान् शुद्धान् प्राप्ताष्टगुणसंपदः ।
नष्टाष्टकर्मसंदोहान् सिद्धान् वंदे पुनः पुनः ॥१०३॥

पंचाचारसमग्गा पंचिंदियदंतिदप्पणिद्दलणा ।
धीरा गुणगंभीरा आयरिया एरिसा होंति ॥७३॥

पंचाचारसमग्राः पंचेन्द्रियदंतिदर्प्पनिर्दलनाः ।
धीरा गुणगंभीरा आचार्य्या ईदृशा भवन्ति ॥७३॥

[श्लोकार्थः—] जो सर्व दोषोंको नष्ट करके देवमुक्त होकर त्रिभुवनशिखर पर स्थित हैं, जो निरुपम विशद (–निर्मल) ज्ञानदर्शनशक्तिसे युक्त हैं, जिन्होंने आठ कर्मोंकी प्रकृतिके समुदायको नष्ट किया है, जो नित्यशुद्ध हैं, जो अनन्त हैं, अव्याबाध हैं, तीन लोकमें प्रधान हैं और मुक्तिसुन्दरीके स्वामी हैं, उन सर्व सिद्धोंको सिद्धिकी प्राप्तिके हेतु मैं नमन करता हूँ ।१०२।

[श्लोकार्थः—] जो निज स्वरूपमें स्थित हैं, जो शुद्ध हैं; जिन्होंने आठ गुणरूपी सम्पदा प्राप्तकी है और जिन्होंने आठ कर्मोंका समूह नष्ट किया है, उन सिद्धोंको मैं पुनः पुनः वन्दन करता हूँ ।१०३।

गाथा ७३

अन्वयार्थः—[पञ्चाचारसमग्राः] पंचाचारोंसे परिपूर्ण, [पंचेन्द्रियदंतिदर्प्प-निर्दलनाः] पंचेन्द्रियरूपी हाथीके मदका दलन करनेवाले, [धीराः] धीर और [गुण-गंभीराः] गुणगंभीर;—[ईदृशाः] ऐसे, [आचार्य्याः] आचार्य [भवन्ति] होते हैं ।

हैं धीर गुण गंभीर अरु परिपूर्ण पंचाचार हैं ।
पंचेन्द्रि–गजके दर्प–उन्मूलक निपुण आचार्य हैं ॥७३॥

अत्राचार्यस्वरूपमुक्तम् ।

ज्ञानदर्शनचारित्रतपोवीर्याभिधानैः पंचभिः आचारैः समग्राः । स्पर्शनरसनघ्राणचक्षुः-श्रोत्राभिधानपंचेन्द्रियमदान्धसिंधुरदर्पनिर्दलनदक्षाः । निखिलघोरोपसर्गविजयोपार्जितधीरगुण-गंभीराः । एवंलक्षणलक्षितास्ते भगवन्तो ह्याचार्या इति ।

तथा चोक्तं श्रीवादिराजदेवैः—

(शार्दूलविक्रीडित)

"पंचाचारपरान्नकिंचनपतीन्नष्टकषायाश्रमान्
चंचज्ज्ञानबलप्रपंचितमहापंचास्तिकायस्थितीन्
स्फाराचंचलयोगचंचुरधियः सूरीनुदंचद्गुणान्
अंचामो भवदुःखसंचयभिदे भक्तिक्रियाचंचवः ॥"

तथा हि—

टीकाः—यहाँ आचार्यका स्वरूप कहा है ।

[भगवन्त आचार्य कैसे होते हैं ?] (१) ज्ञान, दर्शन, चारित्र, तप और वीर्य नामक पाँच आचारोंसे परिपूर्ण; (२) स्पर्शन, रसन, घ्राण, चक्षु और श्रोत्र नामकी पाँच इन्द्रियोंरूपी मदांध हाथीके दर्पका दलन करनेमें दक्ष (—पंचेन्द्रियरूपी मदमत्त हाथीके मदको चूरचूर करनेमें निपुण); (३–४) समस्त घोर उपसर्गों पर विजय प्राप्त करते हैं इसलिये धीर और गुणगम्भीर;—ऐसे लक्षणोंसे लक्षित, वे भगवंत आचार्य होते हैं ।

इसीप्रकार (आचार्यवर) श्री वादिराजदेवने कहा है किः—

[श्लोकार्थः—] जो पंचाचारपरायण हैं, जो अकिंचनताके स्वामी हैं, जिन्होंने कषायस्थानोंको नष्ट किया है, परिणमित ज्ञानके बल द्वारा जो महा पंचास्तिकायकी स्थितिको समझाते हैं, विपुल अचंचल योगमें (—विकसित स्थिर समाधिमें) जिनकी बुद्धि निपुण है और जिनको गुण उछलते हैं, उन आचार्योंको भक्तिक्रियामें कुशल ऐसे हम भवदुःखराशिको भेदनेके लिये पूजते हैं ।"

और (इस ७३ वीं गाथाकी टीका पूर्ण करते हुए टीकाकार मुनिराज श्लोक कहते हैं) :—

(हरिणी)

सकलकरणग्रामालंबाद्विमुक्तमनाकुलं
स्वहितनिरतं शुद्धं निर्वाणकारणकारणम् ।
शमदमयमावासं मैत्रीदयादममंदिरं
निरुपममिदं वंद्यं श्रीचन्द्रकीर्तिमुनेर्मनः ॥१०४॥

रयणत्तयसंजुत्ता जिणकहियपयत्थदेसया सूरा ।
णिक्कंखभावसहिया उवज्झाया एरिसा होंति ॥७४॥

रत्नत्रयसंयुक्ताः जिनकथितपदार्थदेशकाः शूराः ।
निःकांक्षभावसहिताः उपाध्याया ईदृशा भवन्ति ॥७४॥

अध्यापकाभिधानपरमगुरुस्वरूपाख्यानमेतद् ।

अविचलिताखंडाद्वैतपरमचिद्रूपश्रद्धानपरिज्ञानानुष्ठानशुद्धनिश्चयस्वभावरत्नत्रयसंयुक्ताः। जिनेंद्रवदनारविंदविनिर्गतजीवादिसमस्तपदार्थसार्थोपदेशशूराः । निखिलपरिग्रहपरित्यागलक्षण-

---

[श्लोकार्थः—] सकल इन्द्रियसमूहके आलम्बन रहित, अनाकुल, स्वहितमें लीन, शुद्ध, निर्वाणके कारणका कारण (–मुक्तिके कारणभूत शुक्लध्यानका कारण), *शम–दम–यमका निवासस्थान, मैत्री–दया–दमका मन्दिर (घर)—ऐसा यह श्रीचन्द्रकीर्तिमुनिका निरुपम मन (चैतन्यपरिणमन) वंद्य है ।१०४।

गाथा ७४

अन्वयार्थः—[रत्नत्रयसंयुक्ताः] रत्नत्रयसे संयुक्त, [शूराः जिनकथितपदार्थदेशकाः] जिनकथित पदार्थोंके शूरवीर उपदेशक और [निःकांक्षभावसहिताः] निःकांक्षभाव सहित;—[ईदृशाः] ऐसे, [उपाध्यायाः] उपाध्याय [भवन्ति] होते हैं ।

टीकाः—यह, अध्यापक (अर्थात् उपाध्याय) नामके परमगुरुके स्वरूपका कथन है ।

[उपाध्याय कैसे होते हैं ?] (१) अविचलित अखण्ड अद्वैत परम चिद्रूपके

---

* शम=शांति; उपशम । दम=इन्द्रियादिका दमन; जितेन्द्रियता । यम=संयम ।

जो रत्नत्रयसे युक्त निकांक्षित्वसे भरपूर हैं ।
उवझाय वे जिनवर–कथित तत्वोपदेष्टा शूर हैं ॥७४॥

निरंजननिजपरमात्मतत्त्वभावनोत्पन्नपरमवीतरागसुखामृतपानोन्मुखास्तत एव निष्कांक्षाभावनासनाथाः। एवंभूतलक्षणलक्षितास्ते जैनानामुपाध्याया इति।

(अनुष्टुभ्)

रत्नत्रयमयान् शुद्धान् भव्यांभोजदिवाकरान्।
उपदेष्टॄनुपाध्यायान् नित्यं वंदे पुनः पुनः ॥१०५॥

वावारविप्पमुक्का चउव्विहाराहणासयारत्ता।
णिग्गंथा णिम्मोहा साहू दे एरिसा होंति ॥७५॥

व्यापारविप्रमुक्ताः चतुर्विधाराधनासदारक्ताः।
निर्ग्रन्था निर्मोहाः साधवः एतादृशा भवन्ति ॥७५॥

श्रद्धान, ज्ञान और *अनुष्ठानरूप शुद्ध निश्चय-स्वभावरत्नत्रयवाले; (२) जिनेन्द्रके मुखारविंदसे निकले हुए जीवादि समस्त पदार्थसमूहका उपदेश देनेमें शूरवीर; (३) समस्त परिग्रहके परित्यागस्वरूप जो निरंजन निज परमात्मतत्त्व उसकी भावनासे उत्पन्न होनेवाले परम वीतराग सुखामृतके पानमें सन्मुख होनेसे ही निष्कांक्षभावना सहित;—ऐसे लक्षणोंसे लक्षित, वे जैनोंके उपाध्याय होते हैं।

[अब ७४ वीं गाथाकी टीका पूर्ण करते हुए टीकाकार मुनिराज श्लोक कहते हैं :]

[श्लोकार्थः—] रत्नत्रयमय, शुद्ध, भव्यकमलके सूर्य और (जिनकथित पदार्थोंके) उपदेशक—ऐसे उपाध्यायोंको मैं नित्य पुनः पुनः वन्दन करता हूँ।१०५।

गाथा ७५

अन्वयार्थः—[व्यापारविप्रमुक्ताः] व्यापारसे विमुक्त (-समस्त व्यापार रहित), [चतुर्विधाराधनासदारक्ताः] चतुर्विध आराधनामें सदा रक्त, [निर्ग्रन्थाः] निर्ग्रंन्थ और [निर्मोहाः] निर्मोह;—[एतादृशाः] ऐसे, [साधवः] साधु [भवन्ति] होते हैं।

---

* अनुष्ठान=आचरण; चारित्र; विधान; कार्यरूपमें परिणत करना।

निर्ग्रन्थ हैं निर्मोह हैं व्यापारसे प्रविमुक्त हैं।
हैं साधु, चउआराधनामें जो सदा अनुरक्त हैं ॥७५॥

निरन्तराखंडितपरमतपश्चरणनिरतसर्वसाधुस्वरूपाख्यानमेतत् ।

ये महान्तः परमसंयमिनः त्रिकालनिरावरणनिरंजनपरमपंचमभावभावनापरिणताः अत एव समस्तबाह्यव्यापारविप्रमुक्ताः । ज्ञानदर्शनचारित्रपरमतपश्चरणाभिधानचतुर्विधाराधनासदानुरक्ताः । बाह्याभ्यन्तरसमस्तपरिग्रहाग्रहविनिर्मुक्तत्वान्निर्ग्रन्थाः । सदा निरंजननिजकारणसमयसारस्वरूपसम्यक्श्रद्धानपरिज्ञानाचरणप्रतिपक्षमिथ्यादर्शनज्ञानचारित्राभावान्निर्मोहाः च । इत्थंभूतपरमनिर्वाणसीमंतिनीचारुसीमंतसीमाशोभामसृणघुसृणरजःपुंजपिंजरितवर्णालंकारावलोकनकौतूहलबुद्धयोऽपि ते सर्वेपि साधवः इतिः ।

(आर्या)

भविनां भवसुखविमुखं त्यक्तं सर्वाभिषंगसंबंधात् ।
मंक्षु विमंक्ष्व निजात्मनि वंद्यं नस्तन्मनः साधोः ॥१०६॥

टीकाः—यह, निरन्तर अखण्डित परम तपश्चरणमें निरत (–लीन) ऐसे सर्व साधुओंके स्वरूपका कथन है ।

[साधु कैसे होते हैं ?] (१) परमसंयमी महापुरुष होनेसे त्रिकाल–निरावरण निरंजन परम पंचमभावकी भावनामें परिणमित होनेके कारण ही समस्त बाह्यव्यापारसे विमुक्त; (२) ज्ञान, दर्शन, चारित्र और परम तप नामकी चतुर्विध आराधनामें सदा अनुरक्त; (३) बाह्य–अभ्यंतर समस्त परिग्रहके ग्रहण रहित होनेके कारण निर्ग्रंथ; तथा (४) सदा निरंजन निज कारणसमयसारके स्वरूपके सम्यक्, श्रद्धान, सम्यक् परिज्ञान और सम्यक् आचरणसे प्रतिपक्ष ऐसे मिथ्या दर्शन, मिथ्या ज्ञान और मिथ्या चारित्रका अभाव होनेके कारण निर्मोह;—ऐसे, परमनिर्वाणसुन्दरीकी सुन्दर माँगकी शोभारूप कोमल केशरके रज–पुंजके सुवर्णरंगी अलङ्कारको (-केशर–रजकी कनकरंगी शोभाको) देखनेमें कौतूहलबुद्धिवाले वे समस्त साधु होते हैं (अर्थात् पूर्वोक्त लक्षणवाले, मुक्तिसुन्दरीकी अनुपमताका अवलोकन करनेमें आतुर बुद्धिवाले समस्त साधु होते हैं) ।

[अब ७५ वीं गाथाकी टीका पूर्ण करते हुए टीकाकार मुनिराज श्लोक कहते हैं :]

[श्लोकार्थः—] भववाले जीवोंके भवसुखसे जो विमुख है और सर्व संगके सम्बन्धसे जो मुक्त है, ऐसा वह साधुका मन हमें वंद्य है । हे साधु ! उस मनको शीघ्र निजात्मामें मग्न करो ।१०६।

एरिसयभावणाए ववहारणयस्स होदि चारित्तं ।
णिच्छयणयस्स चरणं एत्तो उड्ढं पवक्खामि ॥७६॥

ईदृग्भावनायां व्यवहारनयस्य भवति चारित्रम् ।
निश्चयनयस्य चरणं एतदूर्ध्वं प्रवक्ष्यामि ॥७६॥

व्यवहारचारित्राधिकारव्याख्यानोपसंहारनिश्चयचारित्रसूचनोपन्यासोऽयम् ।

इत्थंभूतायां प्रागुक्तपंचमहाव्रतपंचसमितिनिश्चयव्यवहारत्रिगुप्तिपंचपरमेष्ठिध्यानसंयुक्तायाम् अतिप्रशस्तशुभभावनायां व्यवहारनयाभिप्रायेण परमचारित्रं भवति, वक्ष्यमाणपंचमाधिकारे परमपंचमभावनिरतपंचमगतिहेतुभूतशुद्धनिश्चयनयात्मपरमचारित्रं द्रष्टव्यं भवतीति ।

तथा चोक्तं मार्गप्रकाशे—

गाथा ७६

अन्वयार्थः—[ईदृग्भावनायाम्] ऐसी (पूर्वोक्त) भावनामें [व्यवहारनयस्य] व्यवहारनयके अभिप्रायसे [चारित्रम्] चारित्र [भवति] है; [निश्चयनयस्य] निश्चयनयके अभिप्रायसे [चरणम्] चारित्र [एतदूर्ध्वम्] इसके पश्चात् [प्रवक्ष्यामि] कहूँगा ।

टीकाः—यह, व्यवहारचारित्र-अधिकारका जो व्याख्यान उसके उपसंहारका और निश्चयचारित्रकी सूचनाका कथन है ।

ऐसी जो पूर्वोक्त पंचमहाव्रत, पंचसमिति, निश्चय-व्यवहार त्रिगुप्ति तथा पंचपरमेष्ठीके ध्यानसे संयुक्त, अतिप्रशस्त शुभ भावना उसमें व्यवहारनयके अभिप्रायसे परम चारित्र है; अब कहे जानेवाले पाँचवें अधिकारमें, परम पंचमभावमें लीन, पंचमगतिके हेतुभूत, शुद्धनिश्चयनयात्मक परम चारित्र द्रष्टव्य (-देखनेयोग्य) है ।

इसीप्रकार मार्गप्रकाशमें (श्लोक द्वारा) कहा है किः—

इस भावनामें जानिये चारित्र नय व्यवहारसे ।
निश्चय-चरण अब मैं कहूँ निश्चयनयात्मक द्वारसे ॥७६॥

(वंशस्थ)

"कुसूलगर्भस्थितबीजसोदरं
भवेद्विना येन सुदृष्टिबोधनम् ।
तदेव देवासुरमानवस्तुतं
नमामि जैनं चरणं पुनः पुनः ॥"

तथा हि—

(आर्या)

शीलमपवर्गयोषिदनंगसुखस्यापि मूलमाचार्याः ।
प्राहुर्व्यवहारात्मकवृत्तमपि तस्य परंपरा हेतुः ॥१०७॥

इति सुकविजनपयोजमित्रपंचेन्द्रियप्रसरवर्जितगात्रमात्रपरिग्रहश्रीपद्मप्रभमलधारिदेव-विरचितायां नियमसारव्याख्यायां तात्पर्यवृत्तौ व्यवहारचारित्राधिकारः चतुर्थः श्रुतस्कन्धः ॥

"[श्लोकार्थः—] जिसके बिना (–जिस चारित्रके बिना) सम्यग्दर्शन और सम्यग्ज्ञान कोठारके भीतर पड़े हुए बीज (–अनाज) समान हैं, उसी देव–असुर–मानवसे स्तवन किये गये जैन चरणको (–ऐसा जो सुर–असुर मनुष्योंसे स्तवन किया गया जिनोक्त चारित्र उसे) मैं पुनः पुनः नमन करता हूँ।"

और (इस व्यवहारचारित्र अधिकारकी अन्तिम गाथाकी टीका पूर्ण करते हुए टीकाकार मुनिराज श्री पद्मप्रभमलधारिदेव श्लोक कहते हैं) :—

[श्लोकार्थः—] आचार्योंने शीलको (–निश्चयचारित्रको) मुक्तिसुंदरीके अनंग (–अशरीरी) सुखका मूल कहा है; व्यवहारात्मक चारित्र भी उसका परम्परा कारण है।१०७।

इसप्रकार, सुकविजनरूपी कमलोंके लिये जो सूर्य समान हैं और पाँच इन्द्रियोंके विस्तार रहित देहमात्र जिन्हें परिग्रह था ऐसे श्री पद्मप्रभमलधारिदेव द्वारा रचित नियमसारकी तात्पर्यवृत्ति नामक टीकामें (अर्थात् श्रीमद्भगवत्कुन्दकुन्दाचार्यदेवप्रणीत श्री नियमसार परमागमकी निर्ग्रंथ मुनिराज श्री पद्मप्रभमलधारिदेव विरचित तात्पर्यवृत्ति नामक टीकामें) व्यवहारचारित्र अधिकार नामका चौथा श्रुतस्कन्ध समाप्त हुआ।



— ५ —

परमार्थप्रतिक्रमणाधिकारः

(वंशस्थ)

नमोऽस्तु ते संयमबोधमूर्तये
स्मरेभकुम्भस्थलभेदनाय वै ।
विनेयपंकेजविकाशभानवे
विराजते माधवसेनसूरये ॥१०८॥

अथ सकलव्यावहारिकचारित्रतत्फलप्राप्तिप्रतिपक्षशुद्धनिश्चयनयात्मकपरमचारित्रप्रतिपादनपरायणपरमार्थप्रतिक्रमणाधिकारः कथ्यते । तत्रादौ तावत् पंचरत्नस्वरूपमुच्यते । तद्यथा—

अथ पंचरत्नावतारः ।

[अधिकारके प्रारम्भमें टीकाकार मुनिराज श्री पद्मप्रभमलधारिदेव श्री माधवसेन आचार्यदेवको श्लोक द्वारा नमस्कार करते हैं :]

[श्लोकार्थः—] संयम और ज्ञानकी मूर्ति, कामरूपी हाथीके कुम्भस्थलको भेदनेवाले तथा शिष्यरूपी कमलको विकसित करनेमें सूर्य समान—ऐसे हे विराजमान (शोभायमान) माधवसेनसूरि ! आपको नमस्कार हो ।१०८।

अब, सकल व्यावहारिक चारित्रसे और उसके फलकी प्राप्तिसे प्रतिपक्ष ऐसा जो शुद्धनिश्चयनयात्मक परम चारित्र उसका प्रतिपादन करनेवाला परमार्थ-प्रतिक्रमण अधिकार कहा जाता है । वहाँ प्रारम्भमें पंचरत्नका स्वरूप कहते हैं । वह इसप्रकार :

अब पाँच रत्नोंका अवतरण किया जाता है:—

णाहं णारयभावो तिरियत्थो मणुवदेवपज्जाओ ।
कत्ता ण हि कारइदा अणुमंता णेव कत्तीणं ॥७७॥
णाहं मग्गणठाणो णाहं गुणठाण जीवठाणो ण ।
कत्ता ण हि कारइदा अणुमंता णेव कत्तीणं ॥७८॥
णाहं बालो वुड्ढो ण चेव तरुणो ण कारणं तेसिं ।
कत्ता ण हि कारइदा अणुमंता णेव कत्तीणं ॥७९॥
णाहं रागो दोसो ण चेव मोहो ण कारणं तेसिं ।
कत्ता ण हि कारइदा अणुमंता णेव कत्तीणं ॥८०॥
णाहं कोहो माणो ण चेव माया ण होमि लोहो हं ।
कत्ता ण हि कारइदा अणुमंता णेव कत्तीणं ॥८१॥

नाहं नारकभावस्तिर्यङ्मानुषदेवपर्यायः ।
कर्ता न हि कारयिता अनुमंता नैव कर्तॄणाम् ॥७७॥
नाहं मार्गणास्थानानि नाहं गुणस्थानानि जीवस्थानानि वा ।
कर्ता न हि कारयिता अनुमंता नैव कर्तॄणाम् ॥७८॥

नारक नहीं, तिर्यंच–मानव–देव पर्यय मैं नहीं ।
कर्ता न, कारयिता नहीं, कर्तानुमंता मैं नहीं ॥७७॥
मैं मार्गणाके स्थान नहिं, गुणस्थान–जीवस्थान नहिं ।
कर्ता न, कारयिता नहीं, कर्तानुमंता भी नहीं ॥७८॥
बालक नहीं मैं, वृद्ध नहिं, नहिं युवक तिन कारण नहीं ।
कर्ता न कारयिता नहीं, कर्तानुमंता भी नहीं ॥७९॥
मैं राग नहिं, मैं द्वेष नहिं नहिं मोह तिन कारण नहीं ।
कर्ता न कारयिता नहीं, कर्तानुमंता मैं नहीं ॥८०॥
मैं क्रोध नहिं, मैं मान नहिं, माया नहीं, मैं लोभ नहिं ।
कर्ता न कारयिता नहीं, कर्तानुमोदक मैं नहीं ॥८१॥

नाहं बालो वृद्धो न चैव तरुणो न कारणं तेषाम् ।
कर्ता न हि कारयिता अनुमंता नैव कर्तृणाम् ॥७९॥
नाहं रागो द्वेषो न चैव मोहो न कारणं तेषाम् ।
कर्ता न हि कारयिता अनुमंता नैव कर्तृणाम् ॥८०॥
नाहं क्रोधो मानो न चैव माया न भवामि लोभोऽहम् ।
कर्ता न हि कारयिता अनुमंता नैव कर्तृणाम् ॥८१॥

गाथा ७७-८१

अन्वयार्थः—[अहं] मैं [नारकभावः] नारकपर्याय, [तिर्यङ्मानुषदेवपर्यायः] तिर्यंचपर्याय, मनुष्यपर्याय अथवा देवपर्याय, [न] नहीं हूँ; [कर्ता न हि कारयिता] उनका (मैं) कर्ता नहीं हूँ, कारयिता (–करानेवाला) नहीं हूँ, [कर्तृणाम् अनुमंता न एव] कर्ताका अनुमोदक नहीं हूँ ।

[अहं मार्गणास्थानानि न] मैं मार्गणास्थान नहीं हूँ, [अहं] मैं [गुणस्थानानि] गुणस्थान [वा] अथवा [जीवस्थानानि] जीवस्थान [न] नहीं हूँ; [कर्ता न हि कारयिता] उनका मैं कर्ता नहीं हूँ, कारयिता नहीं हूँ, [कर्तृणाम् अनुमंता न एव] कर्ताका अनुमोदक नहीं हूँ ।

[न अहं बालः वृद्धः] मैं बाल नहीं हूँ, वृद्ध नहीं हूँ, [न च एव तरुणः] तथा तरुण नहीं हूँ; [तेषां कारणं न] उनका (मैं) कारण नहीं हूँ; [कर्ता न हि कारयिता] उनका (मैं) कर्ता नहीं हूँ, कारयिता नहीं हूँ, [कर्तृणाम् अनुमंता न एव] कर्ताका अनुमोदक नहीं हूँ ।

[न अहं रागः द्वेषः] मैं राग नहीं हूँ, द्वेष नहीं हूँ, [न च एव मोहः] तथा मोह नहीं हूँ; [तेषां कारणं न] उनका (मैं) कारण नहीं हूँ, [कर्ता न हि कारयिता] उनका (मैं) कर्ता नहीं हूँ, कारयिता नहीं हूँ; [कर्तृणाम् अनुमंता न एव] कर्ताका अनुमोदक नहीं हूं ।

[न अहं क्रोधः मानः] मैं क्रोध नहीं हूँ, मान नहीं हूँ, [न च एव अहं माया] तथा मैं माया नहीं हूँ, [लोभः न भवामि] लोभ नहीं हूँ; [कर्ता न हि कारयिता] उनका (मैं) कर्ता नहीं हूँ, कारयिता नहीं हूँ, [कर्तृणाम् अनुमंता न एव] कर्ताका अनुमोदक नहीं हूँ ।

अत्र शुद्धात्मनःसकलकर्तृत्वाभावं दर्शयति।

बह्वारंभपरिग्रहाभावादहं तावन्नारकपर्यायो न भवामि। संसारिणो जीवस्य बह्वारंभ-परिग्रहत्वं व्यवहारतो भवति अत एव तस्य नारकायुष्कहेतुभूतनिखिलमोहरागद्वेषा विद्यन्ते, न च मम शुद्धनिश्चयबलेन शुद्धजीवास्तिकायस्य। तिर्यक्पर्यायप्रायोग्यमायामिश्राशुभकर्माभावात्सदा तिर्यक्पर्यायकर्तृत्वविहीनोऽहम्। मनुष्यनामकर्मप्रायोग्यद्रव्यभावकर्माभावान्न मे मनुष्यपर्यायः शुद्धनिश्चयतो समस्तीति। निश्चयेन देवनामधेयाधारदेवपर्याययोग्यसुरससुगंधस्वभावात्मकपुद्गल-द्रव्यसम्बन्धाभावान्न मे देवपर्यायः इति।

चतुर्दशभेदभिन्नानि मार्गणास्थानानि तथाविधभेदविभिन्नानि जीवस्थानानि गुण-स्थानानि वा शुद्धनिश्चयनयतः परमभावस्वभावस्य न विद्यन्ते।

मनुष्यतिर्यक्पर्यायकायवयःकृतविकारसमुपजनितबालयौवनस्थविरवृद्धावस्थाद्यनेकस्थू-लकृशविविधभेदाः शुद्धनिश्चयनयाभिप्रायेण न मे सन्ति।

टीकाः—यहाँ शुद्ध आत्माको सकल कर्तृत्वका अभाव दर्शाते हैं।

बहु आरम्भ तथा परिग्रहका अभाव होनेके कारण मैं नारकपर्याय नहीं हूँ। संसारी जीवको बहु आरम्भ–परिग्रह व्यवहारसे होता है और इसीलिये उसे नारक–आयुके हेतुभूत समस्त मोहरागद्वेष होते हैं, परन्तु मुझे—शुद्धनिश्चयके बलसे शुद्ध-जीवास्तिकायको—वे नहीं हैं। तिर्यंचपर्यायके योग्य मायामिश्रित अशुभ कर्मका अभाव होनेके कारण मैं सदा तिर्यंचपर्यायके कर्तृत्वविहीन हूँ। मनुष्यनामकर्मके योग्य द्रव्यकर्म तथा भावकर्मका अभाव होनेके कारण मुझे मनुष्यपर्याय शुद्धनिश्चयसे नहीं है। 'देव' ऐसे नामका आधार जो देवपर्याय उसके योग्य सुरस–सुगन्धस्वभाववाले पुद्गलद्रव्यके सम्बन्धका अभाव होनेके कारण निश्चयसे मुझे देवपर्याय नहीं है।

चौदह भेदवाले मार्गणास्थान तथा उतने (चौदह) भेदवाले जीवस्थान या गुणस्थान शुद्धनिश्चयनयसे परमभावस्वभाववालेको (–परमभाव जिसका स्वभाव है ऐसे मुझे) नहीं हैं।

मनुष्य और तिर्यंचपर्यायकी कायाके, वयकृत विकारसे (–परिवर्तनसे) उत्पन्न होनेवाले बाल–युवा–स्थविर–वृद्धावस्थादिरूप अनेक स्थूल–कृश विविध भेद शुद्ध-निश्चयनयके अभिप्रायसे मेरे नहीं हैं।

सत्तावबोधपरमचैतन्यसुखानुभूतिनिरतविशिष्टात्मतत्त्वग्राहकशुद्धद्रव्यार्थिकनयबलेन मे सकलमोहरागद्वेषा न विद्यन्ते।

सहजनिश्चयनयतः सदा निरावरणात्मकस्य शुद्धावबोधरूपस्य सहजचिच्छक्तिमयस्य सहजदृक्स्फूर्तिपरिपूर्णमूर्तेः स्वरूपाविचलस्थितिरूपसहजयथाख्यातचारित्रस्य न मे निखिल-संसृतिक्लेशहेतवः क्रोधमानमायालोभाः स्युः।

अथामीषां विविधविकल्पाकुलानां विभावपर्यायाणां निश्चयतो नाहं कर्ता, न कारयिता वा भवामि, न चानुमंता वा कर्तॄणां पुद्गलकर्मणामिति।

नाहं नारकपर्यायं कुर्वे, सहजचिद्विलासात्मकमात्मानमेव संचिंतये। नाहं तिर्यक्पर्यायं कुर्वे, सहजचिद्विलासात्मकमात्मानमेव संचिंतये। नाहं मनुष्यपर्यायं कुर्वे, सहजचिद्विलासात्मक-मात्मानमेव संचिंतये। नाहं देवपर्यायं कुर्वे, सहजचिद्विलासात्मकमात्मानमेव संचिंतये।

नाहं चतुर्दशमार्गणास्थानभेदं कुर्वे, सहजचिद्विलासात्मकमात्मानमेव संचिंतये। नाहं मिथ्यादृष्टयादिगुणस्थानभेदं कुर्वे, सहजचिद्विलासात्मकमात्मानमेव संचिंतये। नाहमेके-न्द्रियादिजीवस्थानभेदं कुर्वे, सहजचिद्विलासात्मकमात्मानमेव संचिंतये।

सत्ता, अवबोध, परमचैतन्य और सुखकी अनुभूतिमें लीन ऐसे विशिष्ट आत्म-तत्त्वको ग्रहण करनेवाले शुद्धद्रव्यार्थिकनयके बलसे मेरे सकल मोहरागद्वेष नहीं हैं।

सहज निश्चयनयसे (१) सदा निरावरणस्वरूप, (२) शुद्धज्ञानरूप, (३) सहज चित्शक्तिमय, (४) सहज दर्शनके स्फुरणसे परिपूर्ण मूर्ति (–जिसकी मूर्ति अर्थात् स्वरूप सहज दर्शनके स्फुरणसे परिपूर्ण है ऐसे) और (५) स्वरूपमें अविचल स्थितिरूप सहज यथाख्यात चारित्रवाले ऐसे मुझे समस्त संसारक्लेशके हेतु क्रोध–मान–माया–लोभ नहीं हैं।

अब, इन (उपरोक्त) विविध विकल्पोंसे (भेदोंसे) भरी हुई विभावपर्यायोंका निश्चयसे मैं कर्ता नहीं हूँ, कारयिता नहीं हूँ और पुद्गलकर्मरूप कर्ताका (–विभाव-पर्यायोंके कर्ता जो पुद्गलकर्म उनका–) अनुमोदक नहीं हूँ (ऐसा वर्णन किया जाता है)।

मैं नारकपर्यायको नहीं करता, सहज चैतन्यके विलासस्वरूप आत्माको ही भाता हूँ। मैं तिर्यंचपर्यायको नहीं करता, सहज चैतन्यके विलासस्वरूप आत्माको ही भाता हूँ। मैं मनुष्यपर्यायको नहीं करता, सहज चैतन्यके विलासस्वरूप आत्माको ही भाता हूँ। मैं देवपर्यायको नहीं करता, सहज चैतन्यके विलासस्वरूप आत्माको ही भाता हूँ।

मैं चौदह मार्गणास्थानके भेदोंको नहीं करता, सहज चैतन्यके विलासस्वरूप आत्माको ही भाता हूँ। मैं मिथ्यादृष्टि आदि गुणस्थानभेदोंको नहीं करता, सहज

नाहं शरीरगतबालाद्यवस्थानभेदं कुर्वे, सहजचिद्विलासात्मकमात्मानमेव संचिंतये ।

नाहं रागादिभेदभावकर्मभेदं कुर्वे, सहजचिद्विलासात्मकमात्मानमेव संचिंतये ।

नाहं भावकर्मात्मककषायचतुष्कं कुर्वे, सहजचिद्विलासात्मकमात्मानमेव संचिंतये ।

इति पंचरत्नांचितोपन्यासप्रपंचनसकलविभावपर्यायसंन्यासविधानमुक्तं भवतीति ।

(वसंततिलका)

भव्यः समस्तविषयाग्रहमुक्तचिन्तः
स्वद्रव्यपर्ययगुणात्मनि दत्तचित्तः ।
मुक्त्वा विभावमखिलं निजभावभिन्नं
प्राप्नोति मुक्तिमचिरादिति पंचरत्नात् ॥१०९॥

चैतन्यके विलासस्वरूप आत्माको ही भाता हूँ । मैं एकेन्द्रियादि जीवस्थानभेदोंको नहीं करता, सहज चैतन्यके विलासस्वरूप आत्माको ही भाता हूँ ।

मैं शरीरसम्बन्धी बालादि अवस्थाभेदोंको नहीं करता, सहज चैतन्यके विलासस्वरूप आत्माको ही भाता हूँ ।

मैं रागादिभेदरूप भावकर्मके भेदोंको नहीं करता, सहज चैतन्यके विलासस्वरूप आत्माको ही भाता हूँ ।

मैं भावकर्मात्मक चार कषायोंको नहीं करता, सहज चैतन्यके विलासस्वरूप आत्माको ही भाता हूँ ।

(यहाँ टीकामें जिसप्रकार कर्ताके सम्बन्धमें वर्णन किया, उसीप्रकार कारयिता और अनुमंता—अनुमोदकके—सम्बन्धमें भी समझ लेना ।)

इसप्रकार पाँच रत्नोंके शोभित कथनविस्तार द्वारा सकल विभावपर्यायोंके संन्यासका (–त्यागका) विधान कहा है ।

[अब इन पाँच गाथाओंकी टीका पूर्ण करते हुए टीकाकार मुनिराज श्री पद्मप्रभमलधारिदेव श्लोक कहते हैं :]

[श्लोकार्थः—] इसप्रकार पंचरत्नों द्वारा जिसने समस्त विषयोंके ग्रहणकी चिन्ताको छोड़ा है और निज द्रव्यगुणपर्यायके स्वरूपमें चित्त एकाग्र किया है, वह भव्य जीव निज भावसे भिन्न ऐसे सकल विभावको छोड़कर अल्प कालमें मुक्तिको प्राप्त करता है ।१०९।

एरिसभेदब्भासे मज्झत्थो होदि तेण चारित्तं ।
तं दिढकरणणिमित्तं पडिक्कमणादी पवक्खामि ८२॥

ईदृग्भेदाभ्यासे मध्यस्थो भवति तेन चारित्रम् ।
तद्दृढीकरणनिमित्तं प्रतिक्रमणादिं प्रवक्ष्यामि ॥८२॥

अत्र भेदविज्ञानात् क्रमेण निश्चयचारित्रं भवतीत्युक्तम् ।

पूर्वोक्तपंचरत्नांचितार्थपरिज्ञानेन पंचमगतिप्राप्तिहेतुभूते जीवकर्मपुद्गलयोर्भेदाभ्यासे सति, तस्मिन्नेव च ये मुमुक्षवः सर्वदा संस्थितास्ते ह्यत एव मध्यस्थाः तेन कारणेन तेषां परमसंयमिनां वास्तवं चारित्रं भवति । तस्य चारित्राविचलस्थितिहेतोः प्रतिक्रमणादिनिश्चय-क्रिया निगद्यते । अतीतदोषपरिहारार्थं यत्प्रायश्चित्तं क्रियते तत्प्रतिक्रमणम् । आदिशब्देन प्रत्याख्यानादीनां संभवश्चोच्यत इति ।

गाथा ८२

अन्वयार्थः—[ईदृग्भेदाभ्यासे] ऐसा भेद–अभ्यास होने पर [मध्यस्थः] जीव मध्यस्थ होता है, [तेन चारित्रम् भवति] इसलिये चारित्र होता है । [तद्दृढीकरण-निमित्तं] उसे (चारित्रको) दृढ़ करनेके निमित्तसे [प्रतिक्रमणादिं प्रवक्ष्यामि] मैं प्रति-क्रमणादि कहूंगा ।

टीकाः—यहाँ, भेदविज्ञान द्वारा क्रमसे निश्चय–चारित्र होता है ऐसा कहा है ।

पूर्वोक्त पंचरत्नोंसे शोभित अर्थपरिज्ञान (–पदार्थोंके ज्ञान) द्वारा पंचमगतिकी प्राप्तिके हेतुभूत ऐसा जीवका और कर्मपुद्गलका भेद–अभ्यास होने पर, उसीमें जो मुमुक्षु सर्वदा संस्थित रहते हैं, वे उस (सतत भेदाभ्यास) द्वारा मध्यस्थ होते हैं और उस कारणसे उन परम संयमियोंको वास्तविक चारित्र होता है। उस चारित्रकी अविचल स्थितिके हेतुसे प्रतिक्रमणादि निश्चयक्रिया कही जाती है। अतीत (–भूत कालके) दोषोंके परिहार हेतु जो प्रायश्चित किया जाता है वह प्रतिक्रमण है । 'आदि' शब्दसे प्रत्याख्यानादिका संभव कहा जाता है (अर्थात् प्रतिक्रमणादिमें जो 'आदि' शब्द है वह प्रत्याख्यान आदिका भी समावेश करनेके लिये है) ।

इस भेदके अभ्याससे माध्यस्थ हो चारित लहे ।
चारित्र दृढ़ता हेतु हम प्रतिक्रमण आदिक अब कहें ॥८२॥

तथा चोक्तं श्रीमदमृतचन्द्रसूरिभिः—

(अनुष्टुभ्)

"भेदविज्ञानतः सिद्धाः सिद्धा ये किल केचन ।
अस्यैवाभावतो बद्धा बद्धा ये किल केचन ॥"

तथा हि—

(मालिनी)

इति सति मुनिनाथस्योच्चकैर्भेदभावे
स्वयमयमुपयोगाद्राजते मुक्तमोहः ।
शमजलनिधिपूरक्षालितांहःकलंकः
स खलु समयसारस्यास्य भेदः क एषः ॥११०॥

मोत्तूण वयणरयणं रागादीभाववारणं किच्चा ।
अप्पाणं जो झायदि तस्स दु होदि त्ति पडिकमणं ॥८३॥

इसीप्रकार (आचार्यदेव) श्रीमद् अमृतचन्द्रसूरिने (श्री समयसारकी आत्मख्याति नामक टीकामें १३१ वें श्लोक द्वारा) कहा है कि:—

"[श्लोकार्थ:—] जो कोई सिद्ध हुए हैं वे भेदविज्ञानसे सिद्ध हुए हैं; जो कोई बँधे हैं वे उसीके (भेदविज्ञानके ही) अभावसे बँधे हैं ।"

और (इस ८२ वीं गाथाकी टीका पूर्ण करते हुए टीकाकार मुनिराज श्री पद्मप्रभमलधारिदेव श्लोक कहते हैं) :—

[श्लोकार्थ:—] इसप्रकार जब मुनिनाथको अत्यन्त भेदभाव (—भेदविज्ञानपरिणाम) होता है, तब यह (समयसार) स्वयं उपयोग होनेसे, मुक्त मोह (मोह रहित) होता हुआ, शमजलनिधिके पूरसे (उपशमसमुद्रके ज्वारसे) पापकलङ्कको धोकर, विराजता (—शोभता) है;—वह सचमुच, इस समयसारका कैसा भेद है ! ।११०।

रे वचन रचना छोड़ रागद्वेषका परित्याग कर ।
ध्याता निजात्मा जीव जो होता उसीको प्रतिक्रमण ॥८३॥

मुक्त्वा वचनरचनां रागादिभाववारणं कृत्वा ।
आत्मानं यो ध्यायति तस्य तु भवतीति प्रतिक्रमणम् ॥८३॥

दैनं दैनं मुमुक्षुजनसंस्तूयमानवाङ्मयप्रतिक्रमणनामधेयसमस्तपापक्षयहेतुभूतसूत्रसमुदयनिरासोयम् ।

यो हि परमतपश्चरणकारणसहजवैराग्यसुधासिन्धुनाथस्य राकानिशीथिनीनाथः अप्रशस्तवचनरचनापरिमुक्तोऽपि प्रतिक्रमणसूत्रविषमवचनरचनां मुक्त्वा संसारलतामूलकंदानां निखिलमोहरागद्वेषभावानां निवारणं कृत्वाऽखण्डानंदमयं निजकारणपरमात्मानं ध्यायति, तस्य खलु परमतत्त्वश्रद्धानावबोधानुष्ठानाभिमुखस्य सकलवाग्विषयव्यापारविरहितनिश्चयप्रतिक्रमणं भवतीति ।

तथा चोक्तं श्रीमदमृतचन्द्रसूरिभिः—

गाथा ८३

अन्वयार्थः—[वचनरचनां] वचनरचनाको [मुक्त्वा] छोड़कर, [रागादिभाववारणं] रागादिभावोंका निवारण [कृत्वा] करके, [यः] जो [आत्मानं] आत्माको [ध्यायति] ध्याता है, [तस्य तु] उसे [प्रतिक्रमणं] प्रतिक्रमण [भवति इति] होता है ।

टीकाः—प्रतिदिन मुमुक्षु जनों द्वारा उच्चारण किया जानेवाला जो वचनमय प्रतिक्रमण नामक समस्त पापक्षयके हेतुभूत सूत्रसमुदाय उसका यह निरास है (अर्थात् उसका इसमें निराकरण–खण्डन किया है) ।

परम तपश्चरणके कारणभूत सहजवैराग्यसुधासागरके लिये पूर्णिमाका चन्द्र ऐसा जो जीव (–परम तपका कारण ऐसा जो सहज वैराग्यरूपी अमृतका सागर उसे उछालनेके लिये अर्थात् उसमें ज्वार लानेके लिये जो पूर्ण चन्द्र समान है ऐसा जो जीव) अप्रशस्त वचनरचनासे परिमुक्त (–सर्व ओरसे मुक्त) होने पर भी प्रतिक्रमणसूत्रकी विषम (विविध) वचनरचनाको (भी) छोड़कर संसारलताके मूल–कन्दभूत समस्त मोहरागद्वेषभावोंका निवारण करके अखण्ड–आनन्दमय निज कारणपरमात्माको ध्याता है, उस जीवको—कि जो वास्तवमें परमतत्त्वके श्रद्धान, ज्ञान और अनुष्ठानके सन्मुख है उसे—वचनसम्बन्धी सर्व व्यापार रहित निश्चयप्रतिक्रमण होता है ।

इसीप्रकार (आचार्यदेव) श्रीमद् अमृतचन्द्रसूरिने (श्री समयसारकी आत्मख्याति नामक टीकामें २४४ वें श्लोक द्वारा) कहा है कि :—

(मालिनी)

"अलमलमतिजल्पैर्दुर्विकल्पैरनल्पै-
रयमिह परमार्थश्चेत्यतां नित्यमेकः ।
स्वरसविसरपूर्णज्ञानविस्फूर्तिमात्रा-
न्न खलु समयसारादुत्तरं किंचिदस्ति ॥"

तथा हि—

(आर्या)

अतितीव्रमोहसंभवपूर्वार्जितं तत्प्रतिक्रम्य ।
आत्मनि सद्बोधात्मनि नित्यं वर्तेऽहमात्मना तस्मिन् ॥१११॥

आराहणाइ वट्टइ मोत्तूण विराहणं विसेसेण ।
सो पडिकमणं उच्चइ पडिकमणमओ हवे जम्हा ॥८४॥

आराधनायां वर्तते मुक्त्वा विराधनं विशेषेण ।
स प्रतिक्रमणमुच्यते प्रतिक्रमणमयो भवेद्यस्मात् ॥८४॥

"[श्लोकार्थः—] अधिक कहनेसे तथा अधिक दुर्विकल्पोंसे बस होओ, बस होओ; यहाँ इतना ही कहना है कि इस परम अर्थका एकका ही निरन्तर अनुभवन करो; क्योंकि निज रसके विस्तारसे पूर्ण जो ज्ञान उसके स्फुरायमान होनेमात्र जो समयसार (–परमात्मा) उससे ऊँचा वास्तवमें अन्य कुछ भी नहीं है (–समयसारके अतिरिक्त अन्य कुछ भी सारभूत नहीं है)।"

और (इस ८३ वीं गाथाकी टीका पूर्ण करते हुए टीकाकार मुनिराज श्लोक कहते हैं) :—

[श्लोकार्थः—] अति तीव्र मोहकी उत्पत्तिसे जो पूर्वमें उपार्जित (कर्म) उसका प्रतिक्रमण करके, मैं सद्बोधात्मक (सम्यग्ज्ञानस्वरूप) ऐसे उस आत्मामें आत्मासे नित्य वर्तता हूँ ।१११।

गाथा ८४

अन्वयार्थः—[विराधनं] जो (जीव) विराधनको [विशेषेण] विशेषतः

छोड़े समस्त विराधना आराधनारत जो रहे ।
प्रतिक्रमणमयता हेतुसे प्रतिक्रमण उसको ही कहें ॥८४॥

अत्रात्माराधनायां वर्तमानस्य जन्तोरेव प्रतिक्रमणस्वरूपमुक्तम् ।

यस्तु परमतत्त्वज्ञानी जीवः निरंतराभिमुखतया ह्यत्रुटयत्परिणामसंतत्या साक्षात् स्वभावस्थितावात्माराधनायां वर्तते अयं निरपराधः । विगतात्माराधनः सापराधः, अत एव निरवशेषेण विराधनं मुक्त्वा । विगतो राधो यस्य परिणामस्य स विराधनः । यस्मान्निश्चय-प्रतिक्रमणमयः स जीवस्तत एव प्रतिक्रमणस्वरूपइत्युच्यते ।

तथा चोक्तं समयसारे—

"संसिद्धिराधसिद्धं साधियमाराधियं च एयट्ठं ।
अवगयराधो जो खलु चेया सो होइ अवराधो ॥"

[मुक्त्वा] छोड़कर [आराधनायां] आराधनामें [वर्तते] वर्तता है, [सः] वह (जीव) [प्रतिक्रमणम्] प्रतिक्रमण [उच्यते] कहलाता है, [यस्मात्] कारण कि वह [प्रति-क्रमणमयः भवेत्] प्रतिक्रमणमय है ।

टीकाः—यहाँ आत्माकी आराधनामें वर्तते हुए जीवको ही प्रतिक्रमणस्वरूप कहा है ।

जो परमतत्त्वज्ञानी जीव निरन्तर अभिमुखरूपसे (–आत्मसंमुखरूपसे) अटूट (–धारावाही) परिणामसंतति द्वारा साक्षात् स्वभावस्थितिमें—आत्माकी आरा-धनामें—वर्तता है वह निरपराध है । जो आत्माके आराधन रहित है वह सापराध है; इसीलिये, निरवशेषरूपसे विराधन छोड़कर—ऐसा कहा है । जो परिणाम "विगतराध" अर्थात् *राध रहित है वह विराधन है । वह (विराधन रहित—निरपराध) जीव निश्चयप्रतिक्रमणमय है, इसीलिये उसे प्रतिक्रमणस्वरूप कहा जाता है ।

इसीप्रकार (श्रीमद्भगवत्कुन्दकुन्दाचार्यदेवप्रणीत) श्री समयसारमें (३०४ वीं गाथा द्वारा) कहा है कि:—

[गाथार्थ:—] संसिद्धि, राध, सिद्ध, साधित और आराधित—यह शब्द एकार्थ हैं; जो आत्मा "अपगतराध" अर्थात् राधसे रहित है वह आत्मा अपराध है ।"

---

* राध=आराधना; प्रसन्नता; कृपा; सिद्धि; पूर्णता; सिद्ध करना वह; पूर्ण करना वह ।

उक्तं हि समयसारव्याख्यायां च—

(मालिनी)

"अनवरतमनंतैर्बध्यते सापराधः
स्पृशति निरपराधो बंधनं नैव जातु ।
नियतमयमशुद्धं स्वं भजन्सापराधो
भवति निरपराधः साधु शुद्धात्मसेवी ॥"

तथा हि—

(मालिनी)

अपगतपरमात्मध्यानसंभावनात्मा
नियतमिह भवार्तः सापराधः स्मृतः सः ।
अनवरतमखंडाद्वैतचिद्भावयुक्तो
भवति निरपराधः कर्मसंन्यासदक्षः ॥११२॥

श्री समयसारकी (अमृतचन्द्राचार्यदेवकृत आत्मख्याति नामक) टीकामें भी (१८७ वें श्लोक द्वारा) कहा है कि:—

"[श्लोकार्थ:—] सापराध आत्मा निरन्तर अनन्त (पुद्गलपरमाणुरूप) कर्मोंसे बँधता है; निरपराध आत्मा बन्धनको कदापि स्पर्श ही नहीं करता। जो सापराध आत्मा है वह तो नियमसे अपनेको अशुद्ध सेवन करता हुआ सापराध है; निरपराध आत्मा तो भलीभाँति शुद्ध आत्माका सेवन करनेवाला होता है।"

और (इस ८४ वीं गाथाकी टीका पूर्ण करते हुए टीकाकार मुनिराज श्लोक कहते हैं) :—

[श्लोकार्थ:—] इस लोकमें जो जीव परमात्मध्यानकी सम्भावना रहित है (अर्थात् जो जीव परमात्माके ध्यानरूप परिणमनसे रहित है—परमात्मध्यानरूप परिणमित नहीं हुआ है) वह भवार्त जीव नियमसे सापराध माना गया है; जो जीव निरन्तर अखण्ड–अद्वैत–चैतन्यभावसे युक्त है वह कर्मसंन्यासदक्ष (–कर्मत्यागमें निपुण) जीव निरपराध है ।११२।

मोत्तूण अणायारं आयारे जो दु कुणदि थिरभावं ।
सो पडिकमणं उच्चइ पडिकमणमओ हवे जम्हा ॥८५॥

मुक्त्वानाचारमाचारे यस्तु करोति स्थिरभावम् ।
स प्रतिक्रमणमुच्यते प्रतिक्रमणमयो भवेद्यस्मात् ॥८५॥

अत्र निश्चयचरणात्मकस्य परमोपेक्षासंयमधरस्य निश्चयप्रतिक्रमणस्वरूपं च भवतीत्युक्तम् ।

नियतं परमोपेक्षासंयमिनः शुद्धात्माराधनाव्यतिरिक्तः सर्वोऽप्यनाचारः, अत एव सर्वमनाचारं मुक्त्वा ह्याचारे सहजचिद्विलासलक्षणनिरंजने निजपरमात्मतत्त्वभावनास्वरूपे यः सहजवैराग्यभावनापरिणतः स्थिरभावं करोति, स परमतपोधन एव प्रतिक्रमणस्वरूप इत्युच्यते, यस्मात् परमसमरसीभावनापरिणतः सहजनिश्चयप्रतिक्रमणमयो भवतीति ।

गाथा ८५

अन्वयार्थः—[यः तु] जो (जीव) [अनाचारं] अनाचार [मुक्त्वा] छोड़कर [आचारे] आचारमें [स्थिरभावम्] स्थिरभाव [करोति] करता है, [सः] वह (जीव) [प्रतिक्रमणम्] प्रतिक्रमण [उच्यते] कहलाता है, [यस्मात्] कारण कि वह [प्रतिक्रमणमयः भवेत्] प्रतिक्रमणमय है ।

टीकाः—यहाँ (इस गाथामें) निश्चयचरणात्मक परमोपेक्षासयमके धारण करनेवालेको निश्चयप्रतिक्रमणका स्वरूप होता है ऐसा कहा है ।

नियमसे परमोपेक्षासंयमवालेको शुद्ध आत्माकी आराधनाके अतिरिक्त सब अनाचार है; इसीलिये सर्व अनाचार छोड़कर सहजचिद्विलासलक्षण निरंजन निज परमात्मतत्त्वकी भावनास्वरूप *आचारमें जो (परम तपोधन) सहजवैराग्यभावनारूपसे परिणमित हुआ स्थिरभाव करता है, वह परम तपोधन ही प्रतिक्रमणस्वरूप कहलाता है, कारण कि वह परम समरसीभावनारूपसे परिणमित हुआ सहज निश्चयप्रतिक्रमणमय है ।

---

* सहजचैतन्यविलासात्मक निर्मल निज परमात्मतत्त्वको भाना—अनुभवन करना वही आचारका स्वरूप है; ऐसे आचारमें जो परम तपोधन स्थिरता करता है वह स्वयं ही प्रतिक्रमण है ।

जो जीव त्याग अनाचरण आचारमें स्थिरता करे ।
प्रतिक्रमणमयता हेतुसे प्रतिक्रमण कहते हैं उसे ॥८५॥

(मालिनी)

अथ निजपरमानन्दैकपीयूषसान्द्रं
स्फुरितसहजबोधात्मानमात्मानमात्मा ।
निजशममयवार्भिर्निर्भरानंदभक्त्या
स्नपयतु बहुभिः किं लौकिकालापजालैः ॥११३॥

(स्रग्धरा)

मुक्त्वानाचारमुच्चैर्जननमृतकरं सर्वदोषप्रसंगं
स्थित्वात्मन्यात्मनात्मा निरुपमसहजानंददृग्ज्ञप्तिशक्तौ ।
बाह्याचारप्रमुक्तः शमजलनिधिवार्बिन्दुसंदोहपूतः
सोऽयं पुण्यः पुराणः क्षपितमलकलिर्भाति लोकोद्घसाक्षी ॥११४॥

उम्मग्गं परिचत्ता जिणमग्गे जो दु कुणदि थिरभावं ।
सो पडिकमणं उच्चइ पडिकमणमओ हवे जम्हा ॥८६॥

[अब इस ८५ वीं गाथाकी टीका पूर्ण करते हुए टीकाकार मुनिराज दो श्लोक कहते हैं :]

[श्लोकार्थः—] आत्मा निज परमानन्दरूपी अद्वितीय अमृतसे गाढ़ भरे हुए, [1]स्फुरित–सहज–ज्ञानस्वरूप आत्माको निर्भर (–भरपूर) आनन्द–भक्तिपूर्वक निज शममय जल द्वारा स्नान कराओ; बहुत लौकिक आलापजालोंसे क्या प्रयोजन (अर्थात् अन्य अनेक लौकिक कथनसमूहोंसे क्या कार्य सिद्ध हो सकता है ? ।११३।

[श्लोकार्थः—] जो आत्मा जन्म–मरणके करनेवाले, सर्व दोषोंके [2]प्रसंग-वाले अनाचारको अत्यन्त छोड़कर, निरुपम सहज आनन्द–दर्शन–ज्ञान–वीर्यवाले आत्मामें आत्मासे स्थित होकर, बाह्य आचारसे मुक्त होता हुआ, शमरूपी समुद्रके जलबिन्दुओंके समूहसे पवित्र होता है, ऐसा वह पवित्र पुराण (–सनातन) आत्मा मलरूपी क्लेशका क्षय करके लोकका उत्कृष्ट साक्षी होता है ।११४।

१–स्फुरित=प्रगट ।
२–प्रसंग=संग; सहवास; सम्बन्ध; युक्तता ।

उन्मार्गका कर परित्यजन जिनमार्गमें स्थिरता करे ।
प्रतिक्रमणमयता हेतुसे प्रतिक्रमण कहते हैं उसे ॥८६॥

उन्मार्गं परित्यज्य जिनमार्गे यस्तु करोति स्थिरभावम् ।
स प्रतिक्रमणमुच्यते प्रतिक्रमणमयो भवेद्यस्मात् ॥८६॥

अत्र उन्मार्गपरित्यागः सर्वज्ञवीतरागमार्गस्वीकारश्चोक्तः ।

यस्तु शंकाकांक्षाविचिकित्साऽन्यदृष्टिप्रशंसासंस्तवमलकलंकपंकनिर्मुक्तः शुद्धनिश्चयसद्दृष्टिः बुद्धादिप्रणीतमिथ्यादर्शनज्ञानचारित्रात्मकं मार्गाभासमुन्मार्गं परित्यज्य व्यवहारेण महादेवाधिदेवपरमेश्वरसर्वज्ञवीतरागमार्गे पंचमहाव्रतपंचसमितित्रिगुप्तिपंचेन्द्रियनिरोधषडावश्यकाद्यष्टाविंशतिमूलगुणात्मके स्थिरपरिणामं करोति, शुद्धनिश्चयनयेन सहजबोधादिशुद्धगुणालंकृते सहजपरमचित्सामान्यविशेषभासिनि निजपरमात्मद्रव्ये स्थिरभावं शुद्धचारित्रमयं करोति, स

गाथा ८६

अन्वयार्थः—[यः तु] जो (जीव) [उन्मार्गं] उन्मार्गका [परित्यज्य] परित्याग करके [जिनमार्गे] जिनमार्गमें [स्थिरभावम्] स्थिरभाव [करोति] करता है, [सः] वह (जीव) [प्रतिक्रमणम्] प्रतिक्रमण [उच्यते] कहलाता है, [यस्मात्] कारण कि वह [प्रतिक्रमणमयः भवेत्] प्रतिक्रमणमय है ।

टीकाः—यहाँ उन्मार्गके परित्याग और सर्वज्ञवीतराग–मार्गके स्वीकारका वर्णन किया गया है ।

जो शंका, कांक्षा, विचिकित्सा, अन्यदृष्टिप्रशंसा और *अन्यदृष्टिसंस्तवरूप मलकलंकपंकसे विमुक्त (–मलकलंकरूपी कीचड़से रहित) शुद्धनिश्चयसम्यग्दृष्टि (जीव) बुद्धादिप्रणीत मिथ्यादर्शनज्ञानचारित्रात्मक मार्गाभासरूप उन्मार्गका परित्याग करके, व्यवहारसे पाँच महाव्रत, पाँच समिति, तीन गुप्ति, पाँच इन्द्रियोंका निरोध, छह आवश्यक इत्यादि अट्ठाईस मूलगुणस्वरूप महादेवाधिदेव–परमेश्वर–सर्वज्ञ–वीतरागके मार्गमें स्थिर परिणाम करता है, और शुद्धनिश्चयनयसे सहजज्ञानादि शुद्धगुणोंसे अलंकृत, सहज परम चैतन्यसामान्य तथा (सहज परम) चैतन्यविशेषरूप जिसका प्रकाश है ऐसे निज परमात्मद्रव्यमें शुद्धचारित्रमय स्थिरभाव करता है, (अर्थात्) जो शुद्धनिश्चय–सम्यग्दृष्टि जीव व्यवहारसे अट्ठाईस मूलगुणात्मक मार्गमें और निश्चयसे शुद्ध गुणोंसे शोभित

---

* अन्यदृष्टिसंस्तव=(१) मिथ्यादृष्टिका परिचय; (२) मिथ्यादृष्टिकी स्तुति । (मनसे मिथ्यादृष्टिकी महिमा करना वह अन्यदृष्टिप्रशंसा है और मिथ्यादृष्टिकी महिमाके वचन बोलना वह अन्यदृष्टिसंस्तव है ।)

मुनिर्निश्चयप्रतिक्रमणस्वरूप इत्युच्यते, यस्मान्निश्चयप्रतिक्रमणं परमतत्त्वगतं तत एव स तपोधनः सदा शुद्ध इति ।

तथा चोक्तं प्रवचनसारव्याख्यायाम्—

(शार्दूलविक्रीडित)

"इत्येवं चरणं पुराणपुरुषैर्जुष्टं विशिष्टादरै-
रुत्सर्गादपवादतश्च विचरद्बह्वीः पृथग्भूमिकाः ।
आक्रम्य क्रमतो निवृत्तिमतुलां कृत्वा यतिः सर्वत-
श्चित्सामान्यविशेषभासिनि निजद्रव्ये करोतु स्थितिम् ॥"

तथा हि—

(मालिनी)

विषयसुखविरक्ताः शुद्धतत्त्वानुरक्ताः
तपसि निरतचित्ताः शास्त्रसंघातमत्ताः ।
गुणमणिगणयुक्ताः सर्वसंकल्पमुक्ताः
कथममृतवधूटीवल्लभा न स्युरेते ॥११५॥

दर्शनज्ञानात्मक परमात्मद्रव्यमें स्थिरभाव करता है, वह मुनि निश्चय प्रतिक्रमणस्वरूप कहलाता है, कारण कि उसे परमतत्त्वगत (–परमात्मतत्त्वके साथ सम्बन्धवाला) निश्चयप्रतिक्रमण है इसीलिये वह तपोधन सदा शुद्ध है ।

इसीप्रकार श्री प्रवचनसारकी (अमृतचन्द्राचार्यदेवकृत तत्त्वदीपिका नामक) टीकामें (१५ वें श्लोक द्वारा) कहा है कि:—

"[श्लोकार्थः—] इसप्रकार विशिष्ट [1]आदरवाले पुराण पुरुषों द्वारा सेवन किया गया, उत्सर्ग और अपवाद द्वारा अनेक पृथक्–पृथक् भूमिकाओंमें व्याप्त जो चरण (–चारित्र) उसे यति प्राप्त करके, क्रमशः अतुल निवृत्ति करके, चैतन्यसामान्य और चैतन्यविशेषरूप जिसका प्रकाश है ऐसे निजद्रव्यमें सर्वतः स्थिति करो ।"

और (इस ८६ वीं गाथाकी टीका पूर्ण करते हुए टीकाकार मुनिराज श्लोक कहते हैं) :—

[श्लोकार्थः—] जो विषयसुखसे विरक्त हैं, शुद्ध तत्त्वमें अनुरक्त हैं, तपमें लीन जिनका चित्त है, शास्त्रसमूहमें जो [2]मत्त हैं, गुणरूपी मणियोंके समुदायसे युक्त हैं

१–आदर=सावधानी; प्रयत्न; बहुमान ।
२–मत्त=मस्त; पागल; अति प्रीतिवंत; अति आनन्दित ।

मोत्तूण सल्लभावं णिस्सल्ले जो दु साहु परिणमदि ।
सो पडिकमणं उच्चइ पडिकमणमओ हवे जम्हा ॥८७॥

मुक्त्वा शल्यभावं निःशल्ये यस्तु साधुः परिणमति ।
स प्रतिक्रमणमुच्यते प्रतिक्रमणमयो भवेद्यस्मात् ॥८७॥

इह हि निःशल्यभावपरिणतमहातपोधन एव निश्चयप्रतिक्रमणस्वरूप इत्युक्तः ।

निश्चयतो निःशल्यस्वरूपस्य परमात्मनस्तावद् व्यवहारनयबलेन कर्मपंकयुक्तत्वात् निदानमायामिथ्याशल्यत्रयं विद्यत इत्युपचारतः । अत एव शल्यत्रयं परित्यज्य परमनिःशल्यस्वरूपे तिष्ठति यो हि परमयोगी स निश्चयप्रतिक्रमणस्वरूप इत्युच्यते, यस्मात् स्वरूपगतवास्तवप्रतिक्रमणमस्त्येवेति ।

और सर्व संकल्पोंसे मुक्त हैं, वे मुक्तिसुन्दरीके वल्लभ क्यों न होंगे ? (अवश्य ही होंगे) ।११५।

गाथा ८७

अन्वयार्थः—[यः तु साधुः] जो साधु [शल्यभावं] शल्यभाव [मुक्त्वा] छोड़कर [निःशल्ये] निःशल्यभावसे [परिणमति] परिणमित होता है, [सः] वह (साधु) [प्रतिक्रमणम्] प्रतिक्रमण [उच्यते] कहलाता है, [यस्मात्] कारण कि वह [प्रतिक्रमणमयः भवेत्] प्रतिक्रमणमय है ।

टीकाः—यहाँ निःशल्यभावसे परिणत महातपोधनको ही निश्चयप्रतिक्रमणस्वरूप कहा है ।

प्रथम तो, निश्चयसे निःशल्यस्वरूप परमात्माको व्यवहारनयके बलसे कर्मपंकयुक्तपना होनेके कारण (–व्यवहारनयसे कर्मरूपी कीचड़के साथ सम्बन्ध होनेके कारण) "उसे निदान, माया और मिथ्यात्वरूपी तीन शल्य वर्तते हैं" ऐसा उपचारसे कहा जाता है । ऐसा होनेसे ही तीन शल्योंका परित्याग करके जो परम योगी परम निःशल्य स्वरूपमें रहता है उसे निश्चयप्रतिक्रमणस्वरूप कहा जाता है, कारण कि उसे स्वरूपगत (–निज स्वरूपके साथ सम्बन्धवाला) वास्तविक प्रतिक्रमण है ही ।

कर शल्यका परित्याग मुनि निःशल्य जो वर्तन करे ।
प्रतिक्रमणमयता हेतुसे प्रतिक्रमण कहते हैं उसे ॥८७॥

(अनुष्टुभ्)

शल्यत्रयं परित्यज्य निःशल्ये परमात्मनि ।
स्थित्वा विद्वान्सदा शुद्धमात्मानं भावयेत्स्फुटम् ।।११६।।

(पृथ्वी)

कषायकलिरंजितं त्यजतु चित्तमुच्चैर्भवान्
भवभ्रमणकारणं स्मरशराग्निदग्धं मुहुः ।
स्वभावनियतं सुखं विधिवशादनासादितं
भज त्वमलिनं यते प्रबलसंसृतेर्भीतितः ।।११७।।

चत्ता अगुत्तिभावं तिगुत्तिगुत्तो हवेइ जो साहू ।
सो पडिकमणं उच्चइ पडिकमणमओ हवे जम्हा ।।८८।।

त्यक्त्वा ह्यगुप्तिभावं त्रिगुप्तिगुप्तो भवेद्यः साधुः ।
स प्रतिक्रमणमुच्यते प्रतिक्रमणमयो भवेद्यस्मात् ।।८८।।

[अब इस ८७ वीं गाथाकी टीका पूर्ण करते हुए टीकाकार मुनिराज दो श्लोक कहते हैं :]

[श्लोकार्थः—] तीन शल्योंका परित्याग करके, निःशल्य परमात्मामें स्थित रहकर, विद्वानको सदा शुद्ध आत्माको स्फुटरूपसे भाना चाहिये ।११६।

[श्लोकार्थः—] हे यति ! जो (चित्त) भवभ्रमणका कारण है और बारंबार कामबाणकी अग्निसे दग्ध है—ऐसे कषायक्लेशसे रंगे हुए चित्तको तू अत्यन्त छोड़; जो विधिवशात् (–कर्मवशताके कारण) अप्राप्त है ऐसे निर्मल *स्वभावनियत सुखको तू प्रबल संसारकी भीतिसे डरकर भज ।११७।

गाथा ८८

अन्वयार्थः—[यः साधुः] जो साधु [अगुप्तिभावं हि] अगुप्तिभाव

---

* स्वभावनियत=स्वभावमें निश्चित रहा हुआ; स्वभावमें नियमसे रहा हुआ ।

जो साधु छोड़ अगुप्तिको त्रय-गुप्तिमें विचरण करे ।
प्रतिक्रमणमयता हेतुसे प्रतिक्रमण कहते हैं उसे ।।८८।।

त्रिगुप्तिगुप्तलक्षणपरमतपोधनस्य निश्चयचारित्राख्यानमेतत् ।

यः परमतपश्चरण सरःसरसिरुहाकरचंडचंडरश्मिरत्यासन्नभव्यो मुनीश्वरः बाह्यप्रपंचरूपम् अगुप्तिभावं त्यक्त्वा त्रिगुप्तिगुप्तनिर्विकल्पपरमसमाधिलक्षणलक्षितम् अत्यपूर्वमात्मानं ध्यायति, यस्मात् प्रतिक्रमणमयः परमसंयमी अत एव स च निश्चयप्रतिक्रमणस्वरूपो भवतीति ।

(हरिणी)

अथ तनुमनोवाचां त्यक्त्वा सदा विकृतिं मुनिः
सहजपरमां गुप्तिं संज्ञानपुंजमयीमिमाम् ।
भजतु परमां भव्यः शुद्धात्मभावनया समं
भवति विशदं शीलं तस्य त्रिगुप्तिमयस्य तत् ॥११८॥

मोत्तूण अट्टरुद्दं झाणं जो झादि धम्मसुक्कं वा ।
सो पडिकमणं उच्चइ जिणवरणिद्दिट्ठसुत्तेसु ॥८९॥

[त्यक्त्वा] छोड़कर, [त्रिगुप्तिगुप्तः भवेत्] त्रिगुप्तिगुप्त रहता है, [सः] वह [साधु] [प्रतिक्रमणम्] प्रतिक्रमण [उच्यते] कहलाता है, [यस्मात्] कारण कि वह [प्रतिक्रमणमयः भवेत्] प्रतिक्रमणमय है ।

टीकाः—त्रिगुप्तिगुप्तपना (—तीन गुप्ति द्वारा गुप्तपना) जिसका लक्षण है ऐसे परम तपोधनको निश्चयचारित्र होनेका यह कथन है ।

परम तपश्चरणरूपी सरोवरके कमलसमूहके लिये प्रचंड सूर्य समान ऐसे जो अति-आसन्नभव्य मुनीश्वर बाह्य प्रपंचरूप अगुप्तिभाव छोड़कर, त्रिगुप्तिगुप्त–निर्विकल्प परमसमाधिलक्षणसे लक्षित अति–अपूर्व आत्माको ध्याते हैं, वे मुनीश्वर प्रतिक्रमणमय परमसंयमी होनेसे ही निश्चयप्रतिक्रमणस्वरूप हैं ।

[अब इस ८८ वीं गाथाकी टीका पूर्ण करते हुए टीकाकार मुनिराज श्लोक कहते हैं :]

[श्लोकार्थः—] मन–वचन–कायकी विकृतिको सदा छोड़कर, भव्य मुनि सम्यग्ज्ञानके पुंजमयी इस सहज परम गुप्तिको शुद्धात्माकी भावना सहित उत्कृष्टरूपसे भजो । त्रिगुप्तिमय ऐसे उस मुनिका वह चारित्र निर्मल है ।११८।

जो आर्त रौद्र विहाय वर्ते धर्म-शुक्ल सुध्यानमें ।
प्रतिक्रमण कहते हैं उसे जिनदेवके आख्यानमें ॥८९॥

मुक्त्वार्तरौद्रं ध्यानं यो ध्यायति धर्मशुक्लं वा।
स प्रतिक्रमणमुच्यते जिनवरनिर्दिष्टसूत्रेषु ॥८९॥

ध्यानविकल्पस्वरूपाख्यानमेतत्।

स्वदेशत्यागात् द्रव्यनाशात् मित्रजनविदेशगमनात् कमनीयकामिनीवियोगात् अनिष्टसंयोगाद्वा समुपजातमार्तध्यानम्, चौरजारशात्रवजनवधबंधननिबद्धमहद्द्वेषजनितरौद्रध्यानं च, एतद्द्वितयम् अपरिमितस्वर्गापवर्गसुखप्रतिपक्षं संसारदुःखमूलत्वान्निरवशेषेण त्यक्त्वा, स्वर्गापवर्गनिःसीमसुखमूलस्वात्माश्रितनिश्चयपरमधर्मध्यानम्, ध्यानध्येयविविधविकल्पविरहितान्तर्मुखाकारसकलकरणग्रामातीतनिर्भेदपरमकलासनाथनिश्चयशुक्लध्यानं च ध्यात्वा यः परमभावभावनापरिणतः भव्यवरपुंडरीकः निश्चयप्रतिक्रमणस्वरूपो भवति, परमजिनेन्द्रवदनारविन्दविनिर्गतद्रव्यश्रुतेषु विदितमिति। ध्यानेषु च चतुर्षु हेयमाद्यं ध्यानद्वितयं, त्रितयं

गाथा ८९

अन्वयार्थः—[यः] जो (जीव) [आर्तरौद्रं ध्यानं] आर्त और रौद्र ध्यान [मुक्त्वा] छोड़कर [धर्मशुक्लं वा] धर्म अथवा शुक्लध्यानको [ध्यायति] ध्याता है [सः] वह (जीव) [जिनवरनिर्दिष्टसूत्रेषु] जिनवरकथित सूत्रोंमें [प्रतिक्रमणम्] प्रतिक्रमण [उच्यते] कहलाता है।

टीकाः—यह, ध्यान के भेदोंके स्वरूपका कथन है।

(१) स्वदेशके त्यागसे, द्रव्यके नाशसे, मित्रजनके विदेशगमनसे, कमनीय (इष्ट, सुन्दर) कामिनीके वियोगसे अथवा अनिष्टके संयोगसे उत्पन्न होनेवाला जो आर्तध्यान, तथा (२) चोर–जार–शत्रुजनोंके बध–बन्धन सम्बन्धी महा द्वेषसे उत्पन्न होनेवाला जो रौद्रध्यान, वे दोनों ध्यान स्वर्ग और मोक्षके अपरिमित सुखसे प्रतिपक्ष संसारदुःखके मूल होनेके कारण उन दोनोंको निरवशेषरूपसे (सर्वथा) छोड़कर, (३) स्वर्ग और मोक्षके निःसीम (–अपार) सुखका मूल ऐसा जो स्वात्माश्रित निश्चय–परम–धर्मध्यान, तथा (४) ध्यान और ध्येयके विविध विकल्प रहित, *अंतर्मुखाकार, सकल इन्द्रियोंके समूहसे अतीत (–समस्त इन्द्रियातीत) और निर्भेद परम कला सहित ऐसा जो निश्चय–शुक्लध्यान, उन्हें ध्याकर, जो भव्यवरपुंडरीक (–भव्योत्तम) परमभावकी (पारिणामिक भावकी) भावनारूपसे परिणमित हुआ है, वह निश्चयप्रतिक्रमणस्वरूप

---

* अंतर्मुखाकार=अन्तर्मुख जिसका आकार अर्थात् स्वरूप है ऐसा।

तावदुपादेयं, सर्वदोपादेयं च चतुर्थमिति ।

तथा चोक्तम्—

(अनुष्टुभ्)

"निष्क्रियं करणातीतं ध्यानध्येयविवर्जितम् ।
अन्तर्मुखं तु यद्ध्यानं तच्छुक्लं योगिनो विदुः ॥"

(वसंततिलका)

ध्यानावलीमपि च शुद्धनयो न वक्ति
व्यक्तं सदाशिवमये परमात्मतत्त्वे ।
सास्तीत्युवाच सततं व्यवहारमार्ग-
स्तत्त्वं जिनेन्द्र तदहो महदिन्द्रजालम् ॥११९॥

(वसंततिलका)

सद्बोधमंडनमिदं परमात्मतत्त्वं
मुक्तं विकल्पनिकरैरखिलैः समन्तात्
नास्त्येष सर्वनयजातगतप्रपंचो
ध्यानावली कथय सा कथमत्र जाता ॥१२०॥

है—ऐसा परम जिनेद्रके मुखारविंदसे निकले हुए द्रव्यश्रुतमें कहा है ।

चार ध्यानोंमें प्रथम दो ध्यान हेय हैं, तीसरा प्रथम तो उपादेय है और चौथा सर्वदा उपादेय है ।

इसीप्रकार (अन्यत्र श्लोक द्वारा) कहा है कि:—

"[श्लोकार्थ:—] जो ध्यान निष्क्रिय है, इन्द्रियातीत है, ध्यानध्येयविवर्जित (अर्थात् ध्यान और ध्येयके विकल्पों रहित) है और अन्तर्मुख है, उस ध्यानको योगी शुक्लध्यान कहते हैं ।"

[अब इस ८९ वीं गाथाकी टीका पूर्ण करते हुए टीकाकार मुनिराज दो श्लोक कहते हैं :]

[श्लोकार्थ:—] प्रगटरूपसे सदाशिवमय (–निरंतर कल्याणमय) ऐसे

मिच्छत्तपहुदिभावा पुव्वं जीवेण भाविया सुइरं ।
सम्मत्तपहुदिभावा अभाविया होंति जीवेण ॥९०॥

मिथ्यात्वप्रभृतिभावाः पूर्वं जीवेन भाविताः सुचिरम् ।
सम्यक्त्वप्रभृतिभावाः अभाविता भवन्ति जीवेन ॥९०॥

आसन्नानासन्नभव्यजीवपूर्वापरपरिणामस्वरूपोपन्यासोऽयम् ।

मिथ्यात्वाव्रतकषाययोगपरिणामास्सामान्यप्रत्ययाः, तेषां विकल्पास्त्रयोदश भवन्ति 'मिच्छादिट्ठीआदी जाव सजोगिस्स चरमंतं' इति वचनात्, मिथ्यादृष्टिगुणस्थानादिसयोगिगुणस्थानचरमसमयपर्यंतस्थिता इत्यर्थः ।

परमात्मतत्त्वमें *ध्यानावली होना भी शुद्धनय नहीं कहता । "वह है (अर्थात् ध्यानावली आत्मामें है)" ऐसा (मात्र) व्यवहारमार्गमें सतत कहा है । हे जिनेन्द्र ! ऐसा वह तत्त्व (–तूने नय द्वारा कहा हुआ वस्तुस्वरूप), अहो ! महा इन्द्रजाल है ।११९।

[श्लोकार्थः—] सम्यग्ज्ञानका आभूषण ऐसा यह परमात्मतत्त्व समस्त विकल्पसमूहोंसे सर्वतः मुक्त (–सर्व ओरसे रहित) है । (इसप्रकार) सर्वनयसमूह सम्बन्धी यह प्रपंच परमात्मतत्त्वमें नहीं है तो फिर वह ध्यानावली इसमें किसप्रकार उत्पन्न हुई (अर्थात् ध्यानावली इस परमात्मतत्त्वमें कैसे हो सकती है) सो कहो ।१२०।

गाथा ९०

अन्वयार्थः—[मिथ्यात्वप्रभृतिभावाः] मिथ्यात्वादि भाव [जीवेन] जीवने [पूर्वं] पूर्वमें [सुचिरम्] सुचिर काल (अति दीर्घ काल) [भाविताः] भाये हैं; [सम्यक्त्वप्रभृतिभावाः] सम्यक्त्वादि भाव [जीवेन] जीवने [अभाविताः भवन्ति] नहीं भाये हैं ।

टीकाः—यह, आसन्नभव्य और अनासन्नभव्य जीवके पूर्वापर (–पहलेके और बादके) परिणामोंके स्वरूपका कथन है ।

मिथ्यात्व, अव्रत, कषाय और योगरूप परिणाम सामान्य प्रत्यय (आस्रव) हैं;

---

* ध्यानावली=ध्यानपंक्ति; ध्यान परम्परा ।

मिथ्यात्व आदिक भावकी की जीवने चिर भावना ।
सम्यक्त्व आदिक भावकी पर की कभी न प्रभावना ॥९०॥

अनासन्नभव्यजीवेन निरंजननिजपरमात्मतत्त्वश्रद्धानविकलेन पूर्वं सुचिरं भाविताः खलु सामान्यप्रत्ययाः, तेन स्वरूपविकलेन बहिरात्मजीवेनानासादितपरमनैष्कर्म्यचरित्रेण सम्यग्दर्शनज्ञानचारित्राणि न भावितानि भवन्तीति । अस्य मिथ्यादृष्टेर्विपरीतगुणनिचयसंपन्नोऽत्यासन्नभव्यजीवः । अस्य सम्यग्ज्ञानभावना कथमिति चेत्—

तथा चोक्तं श्रीगुणभद्रस्वामिभिः—

(अनुष्टुभ्)

"भावयामि भवावर्ते भावनाः प्रागभाविताः ।
भावये भाविता नेति भवाभावाय भावनाः ॥"

उनके तेरह भेद हैं, कारण कि "[1]मिच्छादिट्ठीआदी जाव सजोगिस्स चरमंतं" ऐसा (शास्त्रका) वचन है; मिथ्यादृष्टिगुणस्थानसे लेकर सयोगीगुणस्थानके अन्तिम समय तक प्रत्यय होते हैं—ऐसा अर्थ है ।

निरंजन निज परमात्मतत्त्वके श्रद्धान रहित अनासन्नभव्य जीवने वास्तवमें सामान्य प्रत्ययोंको पहले सुचिर काल भाया है; जिसने परम नैष्कर्म्यरूप चारित्र प्राप्त नहीं किया है ऐसे उस स्वरूपशून्य बहिरात्म–जीवने सम्यग्दर्शन, सम्यग्ज्ञान और सम्यक्‌चारित्रको नहीं भाया है । इस मिथ्यादृष्टि जीवसे विपरीत गुणसमुदायवाला अति–आसन्नभव्य जीव होता है ।

इस (अतिनिकटभव्य) जीवको सम्यग्ज्ञानकी भावना किसप्रकारसे होती है ऐसा प्रश्न किया जाये तो (आचार्यवर) श्री गुणभद्रस्वामीने (आत्मानुशासनमें २३८ वें श्लोक द्वारा) कहा है कि :—

[श्लोकार्थः—] "[2]भवावर्तमें पहले न भायी हुई भावनाएँ (अब) मैं भाता हूँ । वे भावनाएँ (पहले) न भायी होनेसे मैं भवके अभावके लिये उन्हें भाता हूँ (कारण कि भवका अभाव तो भवभ्रमणके कारणभूत भावनाओंसे विरुद्ध प्रकारकी पहले न भायी हुई ऐसी अपूर्व भावनाओंसे ही होता है)" ।

१–अर्थः—(प्रत्ययोंके, तेरह प्रकारके भेद कहे गये हैं—) मिथ्यादृष्टिगुणस्थानसे लेकर सयोगकेवली-गुणस्थानके चरम समय तकके ।

२–भवावर्त=भव–आवर्त; भवका चक्र; भवका भँवरजाल; भव–परावर्त ।

तथा हि—

(मालिनी)

अथ भवजलराशौ मग्नजीवेन पूर्वं
किमपि वचनमात्रं निर्वृतेः कारणं यत् ।
तदपि भवभवेषु श्रूयते वाह्यते वा
न च न च वत कष्टं सर्वदा ज्ञानमेकम् ॥१२१॥

मिच्छादंसणणाणचरित्तं चइऊण णिरवसेसेण ।
सम्मत्तणाणचरणं जो भावइ सो पडिक्कमणं ॥९१॥

मिथ्यादर्शनज्ञानचरित्रं त्यक्त्वा निरवशेषेण ।
सम्यक्त्वज्ञानचरणं यो भावयति स प्रतिक्रमणम् ॥९१॥

अत्र सम्यग्दर्शनज्ञानचारित्राणां निरवशेषस्वीकारेण मिथ्यादर्शनज्ञानचारित्राणां निरव-

---

और (इस ९० वीं गाथाकी टीका पूर्ण करते हुए टीकाकार मुनिराज श्लोक कहते हैं) :—

[श्लोकार्थः—] जो मोक्षका कुछ कथनमात्र (—कहनेमात्र) कारण है उसे भी (अर्थात् व्यवहार—रत्नत्रयको भी) भवसागरमें डूबे हुए जीवने पहले भवभवमें (—अनेक भवोंमें) सुना है और आचरा (—आचरणमें लिया) है; परन्तु अरेरे ! खेद है कि जो सर्वदा एक ज्ञान है उसे (अर्थात् जो सदा एक ज्ञानस्वरूप ही है ऐसे परमात्मतत्त्वको) जीवने सुना—आचरा नहीं है, नहीं है ।१२१।

गाथा ९१

अन्वयार्थः—[मिथ्यादर्शनज्ञानचारित्रं] मिथ्यादर्शन, मिथ्याज्ञान और मिथ्याचारित्रको [निरवशेषेण] निरवशेषरूपसे [त्यक्त्वा] छोड़कर [सम्यक्त्वज्ञानचरणं] सम्यग्दर्शन, सम्यग्ज्ञान और सम्यक्चारित्रको [यः] जो (जीव) [भावयति] भाता है, [सः] वह (जीव) [प्रतिक्रमणम्] प्रतिक्रमण है ।

टीकाः—यहाँ (इस गाथामें) सम्यग्दर्शनज्ञानचारित्रका निरवशेष (—सम्पूर्ण)

जो जीव त्यागे सर्व मिथ्यादर्श—ज्ञान—चरित्र रे ।
सम्यक्त्व—ज्ञान—चरित्र भावे प्रतिक्रमण कहते उसे ॥९१॥

शेषत्यागेन च परममुमुक्षोर्निश्चयप्रतिक्रमणं च भवति इत्युक्तम् ।

भगवदर्हत्परमेश्वरमार्गप्रतिकूलमार्गाभासमार्गश्रद्धानं मिथ्यादर्शनं, तत्रैवावस्तुनि वस्तुबुद्धिर्मिथ्याज्ञानं, तन्मार्गाचरणं मिथ्याचारित्रं च, एतत्त्रितयमपि निरवशेषं त्यक्त्वा, अथवा स्वात्मश्रद्धानपरिज्ञानानुष्ठानरूपविमुखत्वमेवमिथ्यादर्शनज्ञानचारित्रात्मकरत्नत्रयम्, एतदपि त्यक्त्वा । त्रिकालनिरावरणनित्यानंदैकलक्षणनिरंजननिजपरमपारिणामिकभावात्मककारणपरमात्मा ह्यात्मा, तत्स्वरूपश्रद्धानपरिज्ञानाचरणस्वरूपं हि निश्चयरत्नत्रयम्, एवं भगवत्परमात्मसुखाभिलाषी यः परमपुरुषार्थपरायणः शुद्धरत्नत्रयात्मकम् आत्मानं भावयति स परमतपोधन एव निश्चयप्रतिक्रमणस्वरूप इत्युक्तः ।

(वसंततिलका)

त्यक्त्वा विभावमखिलं व्यवहारमार्ग-
रत्नत्रयं च मतिमान्निजतत्त्ववेदी ।
शुद्धात्मतत्त्वनियतं निजबोधमेकं
श्रद्धानमन्यदपरं चरणं प्रपेदे ॥१२२॥

स्वीकार करनेसे और मिथ्यादर्शनज्ञानचारित्रका निरवशेष त्याग करनेसे परम मुमुक्षुको निश्चयप्रतिक्रमण होता है ऐसा कहा है ।

भगवान अर्हत् परमेश्वरके मार्गसे प्रतिकूल मार्गाभासमें मार्गका श्रद्धान वह मिथ्यादर्शन है, उसीमें कही हुई अवस्तुमें वस्तुबुद्धि वह मिथ्याज्ञान है और उस मार्गका आचरण वह मिथ्याचारित्र है;—इन तीनोंको निरवशेषरूपसे छोड़कर । अथवा, निज-आत्माके श्रद्धान–ज्ञान–अनुष्ठानके रूपसे विमुखता वही मिथ्यादर्शन–ज्ञान चारित्रात्मक (मिथ्या) रत्नत्रय है;—इसे भी (निरवशेषरूपसे) छोड़कर । त्रिकाल–निरावरण, नित्य आनन्द जिसका एक लक्षण है ऐसा, निरंजन निज परमपारिणामिकभावस्वरूप कारण-परमात्मा वह आत्मा है; उसके स्वरूपके श्रद्धान–ज्ञान–आचरणका रूप वह वास्तवमें निश्चयरत्नत्रय है;—इसप्रकार भगवान परमात्माके सुखका अभिलाषी ऐसा जो परम पुरुषार्थपरायण (परम तपोधन) शुद्धरत्नत्रयात्मक आत्माको भाता है, उस परम तपोधनको ही (शास्त्रमें) निश्चयप्रतिक्रमणस्वरूप कहा है ।

[अब इस ९१ वीं गाथाकी टीका पूर्ण करते हुए टीकाकार मुनिराज श्लोक कहते हैं :]

[श्लोकार्थः—] समस्त विभावको तथा व्यवहार मार्गके रत्नत्रयको छोड़कर

उत्तमअट्ठं आदा तम्हि ठिदा हणदि मुणिवरा कम्मं ।
तम्हा दु भाणमेव हि उत्तमअट्ठस्स पडिकमणं ॥६२॥

उत्तमार्थ आत्मा तस्मिन् स्थिता घ्नन्ति मुनिवराः कर्म ।
तस्मात्तु ध्यानमेव हि उत्तमार्थस्य प्रतिक्रमणम् ॥९२॥

अत्र निश्चयोत्तमार्थप्रतिक्रमणस्वरूपमुक्तम् ।

इह हि जिनेश्वरमार्गे मुनीनां सल्लेखनासमये हि द्विचत्वारिंशद्भिराचार्यैर्दत्तोत्तमार्थ-प्रतिक्रमणाभिधानेन देहत्यागो धर्मो व्यवहारेण । निश्चयेन नवार्थेषूत्तमार्थो ह्यात्मा तस्मिन् सच्चिदानंदमयकारणसमयसारस्वरूपे तिष्ठन्ति ये तपोधनास्ते नित्यमरणभीरवः, अत एव कर्म-विनाशं कुर्वन्ति । तस्मादध्यात्मभाषयोक्तभेदकरणध्यानध्येयविकल्पविरहितनिरवशेषेणान्तर्मुखा-

---

निजतत्त्ववेदी (निज आत्मतत्त्वको जाननेवाला–अनुभवकरनेवाला) मतिमान पुरुष शुद्ध आत्मतत्त्वमें नियत (–शुद्धात्मतत्त्वपरायण) ऐसा जो एक निजज्ञान, दूसरा श्रद्धान और फिर दूसरा चारित्र उसका आश्रय करता है ।१२२।

गाथा ९२

अन्वयार्थः—[उत्तमार्थः] उत्तमार्थ (–उत्तम पदार्थ) [आत्मा] आत्मा है; [तस्मिन् स्थिताः] उसमें स्थित [मुनिवराः] मुनिवर [कर्म घ्नन्ति] कर्मका घात करते हैं । [तस्मात् तु] इसलिये [ध्यानम् एव] ध्यान ही [हि] वास्तवमें [उत्त-मार्थस्य] उत्तमार्थका [प्रतिक्रमणम्] प्रतिक्रमण है ।

टीकाः—यहाँ (इस गाथामें), निश्चय–उत्तमार्थप्रतिक्रमणका स्वरूप कहा है ।

जिनेश्वरके मार्गमें मुनियोंकी सल्लेखनाके समय,ब्यालीस आचार्यों द्वारा, जिसका नाम उत्तमार्थप्रतिक्रमण है वह दिया जानेके कारण, देहत्याग व्यवहारसे धर्म है । निश्चयसे—नव अर्थोंमें उत्तम अर्थ आत्मा है; सच्चिदानन्दमय कारणसमयसारस्वरूप ऐसे उस आत्मामें जो तपोधन स्थित रहते हैं, वे तपोधन नित्य मरणभीरु हैं; इसीलिये

है जीव उत्तम अर्थ, मुनि तत्रस्थ हन्ता कर्मका ।
अतएव है बस ध्यान ही प्रतिक्रमण उत्तम अर्थका ॥९२॥

कारसकलेन्द्रियागोचरनिश्चयपरमशुक्लध्यानमेव निश्चयोत्तमार्थप्रतिक्रमणमित्यवबोद्धव्यम् । किं च, निश्चयोत्तमार्थप्रतिक्रमणं स्वात्माश्रयनिश्चयधर्मशुक्लध्यानमयत्वादमृतकुम्भस्वरूपं भवति, व्यवहारोत्तमार्थप्रतिक्रमणं व्यवहारधर्मध्यानमयत्वाद्विषकुम्भस्वरूपं भवति ।

तथा चोक्तं समयसारे—

"पडिकमणं पडिसरणं परिहारो धारणा णियत्ती य ।
णिंदा गरहा सोही अट्ठविहो होइ विसकुम्भो ॥"

वे कर्मका विनाश करते हैं । इसलिये अध्यात्मभाषामें, पूर्वोक्त *भेदकरण रहित, ध्यान और ध्येयके विकल्प रहित, निरवशेषरूपसे अंतर्मुख जिसका आकार है ऐसा और सकल इन्द्रियोंसे अगोचर निश्चय–परमशुक्लध्यान ही निश्चय–उत्तमार्थप्रतिक्रमण है ऐसा जानना ।

और, निश्चय–उत्तमार्थप्रतिक्रमण स्वात्माश्रित ऐसे निश्चयधर्मध्यान तथा निश्चयशुक्लध्यानमय होनेसे अमृतकुम्भस्वरूप है; व्यवहार–उत्तमार्थप्रतिक्रमण व्यवहार-धर्मध्यानमय होनेसे विषकुम्भस्वरूप है ।

इसीप्रकार (श्रीमद्‌भगवत्कुन्दकुन्दाचार्य देवप्रणीत) श्री समयसारमें (३०६वीं गाथा द्वारा) कहा है कि :—

"[गाथार्थः—] [1]प्रतिक्रमण, [2]प्रतिसरण, [3]परिहार, [4]धारणा, [5]निवृत्ति, [6]निंदा, [7]गर्हा और [8]शुद्धि—इन आठ प्रकारका विषकुम्भ है ।"

---

* भेदकरण=भेदकरना वह; भेद डालना, वह ।

१–प्रतिक्रमण=किये हुये दोषोंका निराकरण करना ।

२–प्रतिसरण=सम्यक्त्वादि गुणोंमें प्रेरणा ।

३–परिहार=मिथ्यात्वरागादि दोषोंका निवारण ।

४–धारणा=पंचनमस्कारादि मंत्र, प्रतिमा आदि बाह्य द्रव्योंके आलम्बन द्वारा चित्तको स्थिर करना ।

५–निवृत्ति=बाह्य विषयकषायादि इच्छामें वर्तते हुए चित्तको मोड़ना ।

६–निंदा=आत्मसाक्षीसे दोषोंका प्रगट करना ।

७–गर्हा=गुरुसाक्षीसे दोषोंका प्रगट करना ।

८–शुद्धि=दोष हो जाने पर प्रायश्चित्त लेकर विशुद्धि करना ।

तथा चोक्तं समयसारव्याख्यायाम्—

(वसन्ततिलका)

"यत्र प्रतिक्रमणमेव विषं प्रणीतं
तत्राप्रतिक्रमणमेव सुधा कुतः स्यात् ।
तत्किं प्रमाद्यति जनः प्रपतन्नधोऽधः
किं नोर्ध्वमूर्ध्वमधिरोहति निष्प्रमादः ॥"

तथा हि—

(मंदाक्रांता)

आत्मध्यानादपरमखिलं घोरसंसारमूलं
ध्यानध्येयप्रमुखसुतपःकल्पनामात्ररम्यम् ।
बुद्ध्वा धीमान् सहजपरमानन्दपीयूषपूरे
निर्मज्जन्तं सहजपरमात्मानमेकं प्रपेदे ॥१२३॥

और इसीप्रकार श्री समयसारकी (अमृतचन्द्राचार्यदेवकृत आत्मख्याति नामक) टीकामें (१८९ वें श्लोक द्वारा) कहा है कि:—

"[श्लोकार्थ:—] (अरे ! भाई,) जहाँ प्रतिक्रमणको ही विष कहा है, वहाँ अप्रतिक्रमण अमृत कहाँसे होगा ? (अर्थात् नहीं हो सकता ।) तो फिर मनुष्य नीचे-नीचे गिरते हुए प्रमादी क्यों होते हैं ? अप्रमादी होते हुए ऊँचे-ऊँचे क्यों नहीं चढ़ते ?"

और (इस ९२ वीं गाथाकी टीका पूर्ण करते हुए टीकाकार मुनिराज श्लोक कहते हैं):—

[श्लोकार्थ:—] आत्मध्यानके अतिरिक्त अन्य सब घोर संसारका मूल है, (और) ध्यान-ध्येयादिक सुतप (अर्थात् ध्यान, ध्येय आदिके विकल्पवाला शुभ तप भी) कल्पनामात्र रम्य है;—ऐसा जानकर धीमान (-बुद्धिमान पुरुष) सहज परमानन्दरूपी पीयूषके पूरमें डूबते हुए (-निमग्न होते हुए) ऐसे एक सहज परमात्माका आश्रय करते हैं ।१२३।

झाणणिलीणो साहू परिचागं कुणइ सव्वदोसाणं।
तम्हा दु झाणमेव हि सव्वदिचारस्स पडिकमणं ॥९३॥

ध्याननिलीनः साधुः परित्यागं करोति सर्वदोषाणाम् ।
तस्मात्तु ध्यानमेव हि सर्वातिचारस्य प्रतिक्रमणम् ॥९३॥

अत्र ध्यानमेकमुपादेयमित्युक्तम् ।

कश्चित् परमजिनयोगीश्वरः साधुः अत्यासन्नभव्यजीवः अध्यात्मभासयोक्तस्वात्माश्रितनिश्चयधर्मध्याननिलीनः निर्भेदरूपेण स्थितः, अथवा सकलक्रियाकांडाडंबरव्यवहारनयात्मकभेदकरणध्यानध्येयविकल्पनिर्मुक्तनिखिलकरणग्रामागोचरपरमतत्त्वशुद्धान्तस्तत्त्वविषयभेदकल्पना-

गाथा ९३

अन्वयार्थः—[ध्याननिलीनः] ध्यानमें लीन [साधुः] साधु [सर्वदोषाणाम्] सर्व दोषोंका [परित्यागं] परित्याग [करोति] करते हैं; [तस्मात् तु] इसलिये [ध्यानम् एव] ध्यान ही [हि] वास्तवमें [सर्वातिचारस्य] सर्व अतिचारका [प्रतिक्रमणम्] प्रतिक्रमण है ।

टीकाः—यहाँ (इस गाथामें), ध्यान एक उपादेय है ऐसा कहा है ।

जो कोई परमजिनयोगीश्वर साधु—अति-आसन्नभव्य जीव, अध्यात्मभाषामें पूर्वोक्त स्वात्माश्रित निश्चयधर्मध्यानमें लीन होता हुआ अभेदरूपसे स्थित रहता है, अथवा सकल क्रियाकांडके आडम्बर रहित और व्यवहारनयात्मक [1]भेदकरण तथा ध्यानध्येयके विकल्प रहित, समस्त इन्द्रियसमूहसे अगोचर ऐसा जो परम तत्त्व—शुद्ध अन्तःतत्त्व, तत्सम्बन्धी भेद-कल्पनासे [2]निरपेक्ष निश्चयशुक्लध्यानस्वरूपसे स्थित रहता है, वह

१ भेदकरण=भेद करना वह; भेद डालना वह । [समस्त भेदकरण—ध्यान-ध्येयके विकल्प भी—व्यवहारनयस्वरूप है ।]

२ निरपेक्ष=उदासीन; निःस्पृह; अपेक्षारहित । [निश्चयशुक्लध्यान शुद्ध अन्तःतत्त्व सम्बन्धी भेदोंकी कल्पनासे भी निरपेक्ष है ।]

रे साधु करता ध्यानमें सब दोषका परिहार है ।
अतएव ही सर्वातिचार प्रतिक्रमण यह ध्यान है ॥९३॥

निरपेक्षनिश्चयशुक्लध्यानस्वरूपे तिष्ठति च, स च निरवशेषेणान्तर्मुखतया प्रशस्ताप्रशस्तसमस्तमोहरागद्वेषाणां परित्यागं करोति, तस्मात् स्वात्माश्रितनिश्चयधर्मशुक्लध्यानद्वितयमेव सर्वातिचाराणां प्रतिक्रमणमिति ।

(अनुष्टुभ्)

शुक्लध्यानप्रदीपोऽयं यस्य चित्तालये बभौ ।
स योगी तस्य शुद्धात्मा प्रत्यक्षो भवति स्वयम् ।।१२४।।

पडिकमणणामधेये सुत्ते जह वरिणदं पडिक्कमणं ।
तह णच्चा जो भावइ तस्स तदा होदि पडिक्कमणं ।।६४।।

प्रतिक्रमणनामधेये सूत्रे यथा वर्णितं प्रतिक्रमणम् ।
तथा ज्ञात्वा यो भावयति तस्य तदा भवति प्रतिक्रमणम् ।।९४।।

(साधु) निरवशेषरूपसे अन्तर्मुख होनेसे प्रशस्त–अप्रशस्त समस्त मोहरागद्वेषका परित्याग करता है; इसलिये (ऐसा सिद्ध हुआ कि) स्वात्माश्रित ऐसे जो निश्चयधर्मध्यान और निश्चयशुक्लध्यान, वे दो ध्यान ही सर्व अतिचारोंका प्रतिक्रमण है ।

[अब इस ६३ वीं गाथाकी टीका पूर्ण करते हुए टीकाकार मुनिराज श्लोक कहते हैं] :—

[श्लोकार्थः—] यह शुक्लध्यानरूपी दीपक जिसके मनोमन्दिरमें प्रकाशित हुआ, वह योगी है; उसे शुद्ध आत्मा स्वयं प्रत्यक्ष होता है ।१२४।

गाथा ९४

अन्वयार्थः—[प्रतिक्रमणनामधेये] प्रतिक्रमण नामक [सूत्रे] सूत्रमें [यथा] जिसप्रकार [प्रतिक्रमणम्] प्रतिक्रमण [वर्णितं] कहा गया है [तथा ज्ञात्वा] तदनुसार जानकर [यः] जो [भावयति] भाता है, [तस्य] उसे [तदा] तब [प्रतिक्रमणम् भवति] प्रतिक्रमण है ।

प्रतिक्रमणनामक सूत्रमें प्रतिक्रमण वर्णित है यथा ।
होता उसे प्रतिक्रमण जो जाने तथा भावे तथा ।।९४।।

अत्र व्यवहारप्रतिक्रमणस्य सफलत्वमुक्तम् ।

यथा हि निर्यापकाचार्यैः समस्तागमसारासारविचारचारुचातुर्यगुणकदम्बकैः प्रतिक्रमणाभिधानसूत्रे द्रव्यश्रुतरूपे व्यावर्णितमतिविस्तरेण प्रतिक्रमणं, तथा ज्ञात्वा जिननीतिमलंघयन् चारुचरित्रमूर्तिः सकलसंयमभावनां करोति, तस्य महामुनेर्बाह्यप्रपंचविमुखस्य पंचेन्द्रियप्रसरवर्जितगात्रमात्रपरिग्रहस्य परमगुरुचरणस्मरणासक्तचित्तस्य तदा प्रतिक्रमणं भवतीति ।

(इन्द्रवज्रा)

निर्यापकाचार्यनिरुक्तियुक्ता-
मुक्तिं सदाकर्ण्य च यस्य चित्तम् ।
समस्तचारित्रनिकेतनं स्यात्
तस्मै नमः संयमधारिणेऽस्मै ।।१२५।।

टीकाः—यहाँ, व्यवहारप्रतिक्रमणकी सफलता कही है (अर्थात् द्रव्यश्रुतात्मक प्रतिक्रमणसूत्रमें वर्णित प्रतिक्रमणको सुनकर—जानकर, सकल संयमकी भावना करना वही व्यवहारप्रतिक्रमणकी सफलता—सार्थकता है ऐसा इस गाथामें कहा है) ।

समस्त आगमके सारासारका विचार करनेमें सुन्दर चातुर्य तथा गुणसमूहके धारण करनेवाले निर्यापक आचार्योंने जिसप्रकार द्रव्यश्रुतरूप प्रतिक्रमणनामक सूत्रमें प्रतिक्रमणका अति विस्तारसे वर्णन किया है, तदनुसार जानकर जिननीतिको अनुल्लंघता हुआ जो सुन्दरचारित्रमूर्ति महामुनि सकल संयमकी भावना करता है, उस महामुनिको कि जो (महामुनि) बाह्य प्रपंचसे विमुख है, पंचेन्द्रियके विस्तार रहित देहमात्र जिसे परिग्रह है और परम गुरुके चरणोंके स्मरणमें आसक्त जिसका चित्त है, उसे—तब (उस काल) प्रतिक्रमण है ।

[अब इस परमार्थ–प्रतिक्रमण अधिकारकी अन्तिम गाथाकी टीका पूर्ण करते हुए टीकाकार मुनिराज श्री पद्मप्रभमलधारिदेव दो श्लोक कहते हैं]:—

[श्लोकार्थः—] निर्यापक आचार्योंकी निरुक्ति (–व्याख्या) सहित (प्रतिक्रमणादि सम्बन्धी) कथन सदा सुनकर जिसका चित्त समस्त चारित्रका निकेतन (–धाम) बनता है, ऐसे उस संयमधारीको नमस्कार हो ।१२५।

(वसन्ततिलका)

यस्य प्रतिक्रमणमेव सदा मुमुक्षो-
र्नास्त्यप्रतिक्रमणमप्यणुमात्रमुच्चैः ।
तस्मै नमः सकलसंयमभूषणाय
श्रीवीरनन्दिमुनिनामधराय नित्यम् ।।१२६।।

इति सुकविजनपयोजमित्रपंचेन्द्रियप्रसरवर्जितगात्रमात्रपरिग्रहश्रीपद्मप्रभमलधारिदेव-विरचितायां नियमसारव्याख्यायां तात्पर्यवृत्तौ परमार्थप्रतिक्रमणाधिकारः पंचमः श्रुतस्कन्धः ।।

[श्लोकार्थः—] मुमुक्षु ऐसे जिन्हें (–मोक्षार्थी ऐसे जिन वीरनन्दि मुनिको) सदा प्रतिक्रमण ही है और अणुमात्र भी अप्रतिक्रमण नहीं है, उन सकलसंयमरूपी भूषणके धारण करनेवाले श्री वीरनन्दि नामके मुनिको नित्य नमस्कार हो ।१२६।

इसप्रकार, सुकविजनरूपी कमलोंके लिये जो सूर्य समान हैं और पाँच इन्द्रियोंके विस्तार रहित देहमात्र जिन्हें परिग्रह था ऐसे श्री पद्मप्रभमलधारिदेव द्वारा रचित नियमसारकी तात्पर्यवृत्ति नामक टीकामें (अर्थात् श्रीमद्भगवत्कुन्दकुन्दाचार्यदेवप्रणीत श्री नियमसार परमागमकी निर्ग्रन्थ मुनिराज श्री पद्मप्रभमलधारिदेवविरचित तात्पर्यवृत्ति नामकी टीकामें) परमार्थप्रतिक्रमणाधिकार नामका पाँचवाँ श्रुतस्कन्ध समाप्त हुआ ।



— ६ —

निश्चयप्रत्याख्यानाधिकारः

अथेदानीं सकलप्रव्रज्यासाम्राज्यविजयवैजयन्तीपृथुलदंडमंडनायमानसकलकर्मनिर्जराहेतुभूतनिःश्रेयसनिश्रेणीभूतमुक्तिभामिनीप्रथमदर्शनोपायनीभूतनिश्चयप्रत्याख्यानाधिकारः कथ्यते। तद्यथा—

अत्र सूत्रावतारः।

मोत्तूण सयलजप्पमणागयसुहमसुहवारणं किच्चा।
अप्पाणं जो झायदि पच्चक्खाणं हवे तस्स ॥९५॥

मुक्त्वा सकलजल्पमनागतशुभाशुभनिवारणं कृत्वा।
आत्मानं यो ध्यायति प्रत्याख्यानं भवेत्तस्य ॥९५॥

अब निम्नानुसार निश्चय-प्रत्याख्यान अधिकार कहा जाता है—कि जो निश्चय-प्रत्याख्यान सकल प्रव्रज्यारूप साम्राज्यकी विजय-ध्वजाके विशाल दंडकी शोभा समान है, समस्त कर्मोंकी निर्जराके हेतुभूत है, मोक्षकी सीढ़ी है और मुक्तिरूपी स्त्रीके प्रथम दर्शनकी भेंट है।

यहाँ गाथासूत्रका अवतरण किया जाता है:—

गाथा ९५

अन्वयार्थः—[सकलजल्पम्] समस्त जल्पको (—वचनविस्तारको) [मुक्त्वा]

भावी शुभाशुभ छोड़कर तजकर वचन विस्तार रे।
जो जीव ध्याता आत्म, प्रत्याख्यान होता है उसे ॥९५॥

निश्चयनयप्रत्याख्यानस्वरूपाख्यानमेतत् ।

अत्र व्यवहारनयादेशात् मुनयो भुक्त्वा दैनं दैनं पुनर्योग्यकालपर्यन्तं प्रत्यादिष्टान्नपानखाद्यलेह्यरुचयः, एतद् व्यवहारप्रत्याख्यानस्वरूपम् । निश्चयनयतः प्रशस्ताप्रशस्तसमस्तवचनरचनाप्रपंचपरिहारेण शुद्धज्ञानभावनासेवाप्रसादादभिनवशुभाशुभद्रव्यभावकर्मणां संवरः प्रत्याख्यानम् । यः सदान्तर्मुखपरिणत्या परमकलाधारमत्यपूर्वमात्मानं ध्यायति तस्य नित्यं प्रत्याख्यानं भवतीति ।

तथा चोक्तं समयसारे—

"सव्वे भावे जम्हा पच्चक्खाई परेत्ति णादूणं ।
तम्हा पच्चक्खाणं णाणं णियमा मुणेयव्वं ॥"

छोड़कर और [अनागतशुभाशुभनिवारणं] अनागत शुभ-अशुभका निवारण [कृत्वा] करके [यः] जो [आत्मानं] आत्माको [ध्यायति] ध्याता है, [तस्य] उसे [प्रत्याख्यानं] प्रत्याख्यान [भवेत्] है ।

टीकाः—यह, निश्चयनयके प्रत्याख्यानके स्वरूपका कथन है ।

यहाँ ऐसा कहा है कि—व्यवहारनयके कथनसे, मुनि दिन-दिनमें भोजन करके फिर योग्य काल पर्यन्त अन्न, पान, खाद्य और लेह्यकी रुचि छोड़ते हैं; यह व्यवहार-प्रत्याख्यानका स्वरूप है । निश्चयनयसे, प्रशस्त-अप्रशस्त समस्त वचनरचनाके ✻प्रपंचके परिहार द्वारा शुद्धज्ञानभावनाकी सेवाके प्रसाद द्वारा जो नवीन शुभाशुभ द्रव्यकर्मोंका तथा भावकर्मोंका संवर होना सो प्रत्याख्यान है । जो सदा अन्तर्मुख परिणमनसे परम कलाके आधाररूप अति-अपूर्व आत्माको ध्याता है, उसे नित्य प्रत्याख्यान है ।

इसीप्रकार (श्रीमद्भगवत्कुन्दकुन्दाचार्यदेवप्रणीत) श्री समयसारमें (३४ वीं गाथा द्वारा) कहा है कि:—

"[गाथार्थः—] 'अपने अतिरिक्त सर्व पदार्थ पर हैं'—ऐसा जानकर प्रत्याख्यान करता है—त्याग करता है, इसलिये प्रत्याख्यान ज्ञान ही है (अर्थात् अपने ज्ञानमें त्यागरूप अवस्था ही प्रत्याख्यान है) ऐसा नियमसे जानना ।"

✻ प्रपंच=विस्तार । (अनेक प्रकारकी समस्त वचनरचनाको छोड़कर शुद्ध ज्ञानको भानेसे—उस भावनाके सेवनकी कृपासे—भावकर्मोंका तथा द्रव्यकर्मोंका संवर होता है ।)

तथा समयसारव्याख्यायां च—

(आर्या)

"प्रत्याख्याय भविष्यत्कर्म समस्तं निरस्तसंमोहः ।
आत्मनि चैतन्यात्मनि निष्कर्मणि नित्यमात्मना वर्ते ॥"

तथा हि—

(मंदाक्रांता)

सम्यग्दृष्टिस्त्यजति सकलं कर्मनोकर्मजातं
प्रत्याख्यानं भवति नियतं तस्य संज्ञानमूर्तेः ।
सच्चारित्राण्यघकुलहराण्यस्य तानि स्युरुच्चैः
तं वंदेहं भवपरिभवक्लेशनाशाय नित्यम् ॥१२७॥

केवलणाणसहावो केवलदंसणसहावसुहमइओ ।
केवलसत्तिसहावो सो हं इदि चिंतए णाणी ॥९६॥

इसीप्रकार समयसारकी (अमृतचन्द्राचार्यदेवकृत आत्मख्याति नामक) टीकामें भी (२२८वें श्लोक द्वारा) कहा है कि:—

"[श्लोकार्थ:—] (प्रत्याख्यान करनेवाला ज्ञानी कहता है कि–) भविष्यके समस्त कर्मोंका प्रत्याख्यान करके (–त्यागकर), जिसका मोह नष्ट हुआ है ऐसा मैं निष्कर्म (अर्थात् सर्व कर्मोंसे रहित) चैतन्यस्वरूप आत्मामें आत्मासे ही (–स्वयंसे ही) निरन्तर वर्तता हूँ ।"

और (इस ९५ वीं गाथाकी टीका पूर्ण करते हुए टीकाकार मुनिराज श्री पद्मप्रभमलधारिदेव श्लोक कहते हैं):—

[श्लोकार्थ:—] जो सम्यग्दृष्टि समस्त कर्म–नोकर्मके समूहको छोड़ता है, उस सम्यग्ज्ञानकी मूर्तिको सदा प्रत्याख्यान है और उसे पापसमूहका नाश करनेवाले ऐसे सत्–चारित्र अतिशयरूपसे हैं । भव–भवके क्लेशका नाश करनेके लिये उसे मैं नित्य वन्दन करता हूँ ।१२७।

कैवल्य दर्शन–ज्ञान–सुख कैवल्य शक्ति स्वभाव जो ।
मैं हूँ वही, यह चिन्तवन होता निरन्तर ज्ञानिको ॥९६॥

केवलज्ञानस्वभावः केवलदर्शनस्वभावः सुखमयः ।
केवलशक्तिस्वभावः सोहमिति चिंतयेत् ज्ञानी ॥९६॥

अनन्तचतुष्टयात्मकनिजात्मध्यानोपदेशोपन्यासोयम् ।

समस्तबाह्यप्रपंचवासनाविनिर्मुक्तस्य निरवशेषेणान्तर्मुखस्य परमतत्त्वज्ञानिनो जीवस्य शिक्षा प्रोक्ता । कथंकारम् ? साद्यनिधनामूर्तातीन्द्रियस्वभावशुद्धसद्भूतव्यवहारेण, शुद्धस्पर्शरसगन्धवर्णानामाधारभूतशुद्धपुद्गलपरमाणुवत्केवलज्ञानकेवलदर्शनकेवलसुखकेवलशक्तियुक्तपरमात्मा यः सोहमिति भावना कर्तव्या ज्ञानिनेति; निश्चयेन सहजज्ञानस्वरूपोहम्, सहजदर्शनस्वरूपोहम्, सहजचारित्रस्वरूपोहम्, सहजचिच्छक्तिस्वरूपोहम् इति भावना कर्तव्या चेति—

तथा चोक्तमेकत्वसप्ततौ—

गाथा ९६

अन्वयार्थः—[केवलज्ञानस्वभावः] केवलज्ञानस्वभावी, [केवलदर्शनस्वभावः] केवलदर्शनस्वभावी, [सुखमयः] सुखमय और [केवलशक्तिस्वभावः] केवलशक्तिस्वभावी [सः अहम्] वह मैं हूँ—[इति] ऐसा [ज्ञानी] ज्ञानी [चिंतयेत्] चिंतवन करते हैं ।

टीकाः—यह, अनन्तचतुष्टयात्मक निज आत्माके ध्यानके उपदेशका कथन है ।

समस्त बाह्य प्रपंचकी वासनासे विमुक्त, निरवशेषरूपसे अन्तर्मुख परमतत्त्वज्ञानी जीवको शिक्षा दी गई है । किसप्रकार ? इसप्रकारः—सादि-अनन्त अमूर्त अतीन्द्रियस्वभाववाले शुद्धसद्भूतव्यवहारसे, शुद्ध स्पर्श-रस-गन्ध-वर्णके आधारभूत शुद्ध पुद्गलपरमाणुकी भाँति, जो केवलज्ञान, केवलदर्शन, केवलसुख तथा केवलशक्तियुक्त परमात्मा सो मैं हूँ, ऐसी ज्ञानीको भावना करनी चाहिये; और निश्चयसे, मैं सहजज्ञानस्वरूप हूँ, मैं सहजदर्शनस्वरूप हूँ, मैं सहजचारित्रस्वरूप हूँ तथा मैं सहजचित्शक्तिस्वरूप हूँ ऐसी भावना करनी चाहिये ।

इसीप्रकार एकत्वसप्ततिमें (-श्री पद्मनन्दि-आचार्यवरकृत, पद्मनन्दिपंचविंशतिके एकत्वसप्ततिनामक अधिकारमें २० वें श्लोक द्वारा) कहा है कि:—

(अनुष्टुभ्)

"केवलज्ञानदृक्सौख्यस्वभावं तत्परं महः ।
तत्र ज्ञाते न किं ज्ञातं दृष्टे दृष्टं श्रुते श्रुतम् ॥"

तथा हि—

(मालिनी)

जयति स परमात्मा केवलज्ञानमूर्तिः
सकलविमलदृष्टिः शाश्वतानंदरूपः ।
सहजपरमचिच्छक्त्यात्मकः शाश्वतोयं
निखिलमुनिजनानां चित्तपंकेजहंसः ॥१२८॥

णियभावं णवि मुच्चइ परभावं णेव गेण्हए केइं ।
जाणदि पस्सदि सव्वं सो हं इदि चिंतए णाणी ॥९७॥

निजभावं नापि मुंचति परभावं नैव गृह्णाति कमपि ।
जानाति पश्यति सर्वं सोहमिति चिंतयेद् ज्ञानी ॥९७॥

"[श्लोकार्थः—] वह परम तेज केवलज्ञान, केवलदर्शन और केवलसौख्य-स्वभावी है । उसे जानते हुए क्या नहीं जाना ? उसे देखते हुए क्या नहीं देखा ? उसका श्रवण करते हुए क्या नहीं सुना ?"

और (इस ९६वीं गाथाकी टीका पूर्ण करते हुए टीकाकार मुनिराज श्री पद्मप्रभमलधारिदेव श्लोक कहते हैं) :—

[श्लोकार्थः—] समस्त मुनिजनोंके हृदयकमलका हंस ऐसा जो यह शाश्वत, केवलज्ञानकी मूर्तिरूप, सकलविमल दृष्टिमय (–सर्वथा निर्मल दर्शनमय), शाश्वत आनन्दरूप, सहज परम चैतन्यशक्तिमय परमात्मा वह जयवन्त है ।१२८।

गाथा ९७

अन्वयार्थः—[निजभावं] जो निजभावको [न अपि मुंचति] नहीं छोड़ता,

निजभावको छोड़े नहीं, किंचित् ग्रहे परभाव नहिं ।
देखे व जाने मैं वही, ज्ञानी करे चिन्तन यही ॥९७॥

अत्र परमभावनाभिमुखस्य ज्ञानिनः शिक्षणमुक्तम् ।

यस्तु कारणपरमात्मा सकलदुरितवीरवैरिसेनाविजयवैजयन्तीलुंटाकं त्रिकालनिरावरणनिरंजननिजपरमभावं क्वचिदपि नापि मुंचति, पंचविधसंसारप्रवृद्धिकारणं विभावपुद्गलद्रव्यसंयोगसंजातं रागादिपरभावं नैव गृह्णाति, निश्चयेन निजनिरावरणपरमबोधेन निरंजनसहजज्ञानसहजदृष्टिसहजशीलादिस्वभावधर्माणामाधाराधेयविकल्पनिर्मुक्तमपि सदामुक्तं सहजमुक्ति भामिनीसंभोगसंभवपरतानिलयं कारणपरमात्मानं जानाति, तथाविधसहजावलोकेन पश्यति च, स च कारणसमयसारोहमिति भावना सदा कर्तव्या सम्यग्ज्ञानिभिरिति ।

तथा चोक्तं श्रीपूज्यपादस्वामिभिः—

[कम् अपि परभावं] किंचित् भी परभावको [न एव गृह्णाति] ग्रहण नहीं करता, [सर्वं] सर्वको [जानाति पश्यति] जानता–देखता है, [सः अहम्] वह मैं हूँ—[इति] ऐसा [ज्ञानी] ज्ञानी [चिंतयेत्] चिंतवन करता है ।

टीका:—यहाँ, परम भावनाके सम्मुख ऐसे ज्ञानीको शिक्षा दी है ।

जो कारणपरमात्मा (१) समस्त पापरूपी बहादुर शत्रुसेनाकी विजय–ध्वजाको लूटनेवाले, त्रिकाल–निरावरण, निरंजन, निज परमभावको कभी नहीं छोड़ता; (२) पंचविध (–पाँच परावर्तनरूप) संसारकी वृद्धिके कारणभूत, [1]विभावपुद्गलद्रव्यके संयोगसे जनित रागादिपरभावको ग्रहण नहीं करता; और (३) निरंजन सहजज्ञान–सहजदृष्टि–सहजचारित्रादि स्वभाव धर्मोंके आधार–आधेय सम्बन्धी विकल्पों रहित, सदा मुक्त तथा सहज मुक्तिरूपी स्त्रीके संभोगसे उत्पन्न होनेवाले सौख्यके स्थानभूत—ऐसे [2]कारणपरमात्माको निश्चयसे निज निरावरण परमज्ञान द्वारा जानता है और उस प्रकारके सहज अवलोकन द्वारा (–सहज निज निरावरण परमदर्शन द्वारा) देखता है; वह कारणसमयसार मैं हूँ—ऐसी सम्यग्ज्ञानियोंको सदा भावना करना चाहिये ।

इसीप्रकार श्री पूज्यपादस्वामीने (समाधितन्त्रमें २० वें श्लोक द्वारा) कहा है कि:—

१–रागादिपरभावकी उत्पत्तिमें पुद्गलकर्म निमित्त बनता है ।

२–कारणपरमात्मा "स्वयं आधार है और स्वभावधर्म आधेय हैं" ऐसे विकल्पों रहित है, सदा मुक्त है और मुक्तिसुखका आवास है ।

(अनुष्टुभ्)

"यदग्राह्यं न गृह्णाति गृहीतं नापि मुंचति ।
जानाति सर्वथा सर्वं तत्स्वसंवेद्यमस्म्यहम् ॥"

तथा हि—

(वसंततिलका)

आत्मानमात्मनि निजात्मगुणाढ्यमात्मा
जानाति पश्यति च पंचमभावमेकम् ।
तत्याज नैव सहजं परभावमन्यं
गृह्णाति नैव खलु पौद्गलिकं विकारम् ॥१२९॥

(शार्दूलविक्रीडित)

मत्स्वान्तं मयि लग्नमेतदनिशं चिन्मात्रचिंतामणा-
वन्यद्रव्यकृताग्रहोद्भवमिमं मुक्त्वाधुना विग्रहम् ।
तच्चित्रं न विशुद्धपूर्णसहजज्ञानात्मने शर्मणे
देवानाममृताशनोद्भवरुचिं ज्ञात्वा किमन्याशने ॥१३०॥

[श्लोकार्थ:—] जो अग्राह्यको (–ग्रहण न करने योग्यको) ग्रहण नहीं करता तथा ग्रहीतको (–ग्राह्यको, शाश्वत स्वभावको) छोड़ता नहीं है, सर्वको सर्व प्रकारसे जानता है, वह स्वसंवेद्य (तत्त्व) मैं हूँ ।

और (इस ९७ वीं गाथाकी टीका पूर्ण करते हुए टीकाकार मुनिराज चार श्लोक कहते हैं) :—

[श्लोकार्थ:—] आत्मा आत्मामें निज आत्मिक गुणोंसे समृद्ध आत्माको— एक पंचमभावको—जानता है और देखता है; उस सहज एक पंचमभावको उसने छोड़ा नहीं ही है तथा अन्य ऐसे परभावको—कि जो वास्तवमें पौद्गलिक विकार है उसे— वह ग्रहण नहीं ही करता ।१२९।

[श्लोकार्थ:—] अन्य द्रव्यका [1]आग्रह करनेसे उत्पन्न होनेवाले इस [2]विग्रहको अब छोड़कर, विशुद्ध–पूर्ण–सहजज्ञानात्मक सौख्यकी प्राप्तिके हेतु, मेरा यह निज अन्तर

१–आग्रह=पकड़; ग्रहण; लगे रहना वह ।

२–विग्रह=(१) रागद्वेषादि कलह; (२) शरीर ।

(शार्दूलविक्रीडित)

निर्द्वन्द्वं निरुपद्रवं निरुपमं नित्यं निजात्मोद्भवं
नान्यद्रव्यविभावनोद्भवमिदं शर्मामृतं निर्मलम् ।
पीत्वा यः सुकृतात्मकः सुकृतमप्येतद्विहायाधुना
प्राप्नोति स्फुटमद्वितीयमतुलं चिन्मात्रचिंतामणिम् ॥१३१॥

(आर्या)

को नाम वक्ति विद्वान् मम च परद्रव्यमेतदेव स्यात् ।
निजमहिमानं जानन् गुरुचरणसमर्च्चनासमुद्भूतम् ॥१३२॥

पयडिट्ठिदिअणुभागप्पदेसबंधेहिं वज्जिदो अप्पा ।
सो हं इदि चिंतिज्जो तत्थेव य कुणदि थिरभावं ॥६८॥

मुझमें—चैतन्यमात्र–चिंतामणिमें निरन्तर लगा है—उसमें आश्चर्य नहीं है, कारण कि अमृतभोजनजनित स्वादको जानकर देवोंको अन्य भोजनसे क्या प्रयोजन है ? (जिस-प्रकार अमृतभोजनके स्वादको जानकर देवोंका मन अन्य भोजनमें नहीं लगता, उसी-प्रकार ज्ञानात्मक सौख्यको जानकर हमारा मन उस सौख्यके निधान चैतन्यमात्र–चिन्ता-मणिके अतिरिक्त अन्य कहीं नहीं लगता) ।१३०।

[श्लोकार्थः—] द्वन्द्व रहित, उपद्रव रहित, उपमा रहित, नित्य, निज आत्मासे उत्पन्न होनेवाले, अन्य द्रव्यकी विभावनासे (–अन्य द्रव्यों सम्बन्धी विकल्प करनेसे) उत्पन्न न होनेवाले—ऐसे इस निर्मल सुखामृतको पीकर (–उस सुखामृतके स्वादके निकट सुकृत भी दुःखरूप लगनेसे), जो जीव [1]सुकृतात्मक है वह अब इस सुकृतको भी छोड़कर अद्वितीय अतुल चैतन्यमात्र–चिन्तामणिको स्फुटरूपसे (–प्रगटरूपसे) प्राप्त करता है ।१३१।

[श्लोकार्थः—] गुरुचरणोंके [2]समर्चनसे उत्पन्न हुई निज महिमाको जानने-वाला कौन विद्वान "यह परद्रव्य मेरा है" ऐसा कहेगा ? ।१३२।

१–सुकृतात्मक=सुकृतवाला; शुभकृत्यवाला; पुण्यकर्मवाला; शुभ भाववाला ।
२–समर्चन=सम्यक् अर्चन; सम्यक् पूजन; सम्यक् भक्ति ।

जो प्रकृति स्थिति अनुभाग और प्रदेश बँधविन आत्मा ।
मैं हूँ वही, यों भावता ज्ञानी करे स्थिरता वहाँ ॥९८॥

प्रकृतिस्थित्यनुभागप्रदेशबंधैर्विवर्जित आत्मा ।
सोहमिति चिंतयन् तत्रैव च करोति स्थिरभावम् ॥९८॥

अत्र बन्धनिर्मुक्तमात्मानं भावयेदिति भव्यस्य शिक्षणमुक्तम् ।

शुभाशुभमनोवाक्कायकर्मभिः प्रकृतिप्रदेशबंधौ स्याताम्; चतुर्भिः कषायैः स्थित्यनुभागबन्धौ स्तः; एभिश्चतुर्भिर्बन्धैर्निर्मुक्तः सदानिरुपाधिस्वरूपो ह्यात्मा सोहमिति सम्यग्ज्ञानिना निरन्तरं भावना कर्तव्येति ।

(मंदाक्रांता)

प्रेक्षावद्भिः सहजपरमानन्दचिद्रूपमेकं
संग्राह्यं तैर्निरुपममिदं मुक्तिसाम्राज्यमूलम् ।
तस्मादुच्चैस्त्वमपि च सखे मद्वचःसारमस्मिन्
श्रुत्वा शीघ्रं कुरु तव मतिं चिच्चमत्कारमात्रे ॥१३३॥

गाथा ९८

अन्वयार्थः—[प्रकृतिस्थित्यनुभागप्रदेशबंधैः विवर्जितः] प्रकृतिबन्ध, स्थितिबन्ध, अनुभागबन्ध और प्रदेशबन्ध रहित [आत्मा] जो आत्मा [सः अहम्] सो मैं हूँ— [इति] ऐसा [चिंतयन्] चिंतवन करता हुआ, (ज्ञानी) [तत्र एव च] उसीमें [स्थिरभावं करोति] स्थिरभाव करता है ।

टीकाः—यहाँ (–इस गाथामें), बन्धरहित आत्मा भाना चाहिये—ऐसी भव्यको शिक्षा दी है ।

शुभाशुभ मनवचनकायसम्बन्धी कर्मोंसे प्रकृतिबन्ध और प्रदेशबन्ध होता है; चार कषायोंसे स्थितिबन्ध और अनुभागबन्ध होता है; इन चार बन्धों रहित सदा निरुपाधिस्वरूप जो आत्मा सो मैं हूँ— ऐसी सम्यक्ज्ञानीको निरन्तर भावना करनी चाहिये ।

[अब इस ९८ वीं गाथाकी टीका पूर्ण करते हुए टीकाकार मुनिराज श्लोक कहते हैं :]

[श्लोकार्थः—] जो मुक्तिसाम्राज्यका मूल है ऐसे इस निरुपम, सहजपरमानन्दवाले चिद्रूपको (–चैतन्यके स्वरूपको) एकको बुद्धिमान पुरुषोंको सम्यक् प्रकारसे ग्रहण करना योग्य है; इसलिये, मित्र ! तू भी मेरे उपदेशके सारको सुनकर, तुरन्त ही उग्ररूपसे इस चैतन्यचमत्कारमात्रके प्रति अपनी वृत्ति कर ।१३३।

ममत्तिं परिवज्जामि णिम्ममत्तिमुवट्ठिदो ।
आलंबणं च मे आदा अवसेसं च वोसरे ॥९९॥

ममत्वं परिवर्जयामि निर्ममत्वमुपस्थितः ।
आलम्बनं च मे आत्मा अवशेषं च विसृजामि ॥९९॥

अत्र सकलविभावसंन्यासविधिः प्रोक्तः ।

कमनीयकामिनीकांचनप्रभृतिसमस्तपरद्रव्यगुणपर्यायेषु ममकारं संत्यजामि । परमोपेक्षालक्षणलक्षिते निर्ममकारात्मनि आत्मनि स्थित्वा ह्यात्मानमवलम्ब्य च संसृतिपुरंध्रिकासंभोगसंभवसुखदुःखाद्यनेकविभावपरिणतिं परिहरामि ।

तथा चोक्तं श्रीमदमृतचन्द्रसूरिभिः—

गाथा ९९

अन्वयार्थः—[ममत्वं] मैं ममत्वको [परिवर्जयामि] छोड़ता हूँ और [निर्ममत्वम्] निर्ममत्वमें [उपस्थितः] स्थित रहता हूँ; [आत्मा] आत्मा [मे] मेरा [आलम्बनं च] आलम्बन है [अवशेषं च] और शेष [विसृजामि] मैं छोड़ता हूँ ।

टीकाः—यहाँ सकल विभावके सन्यासकी (–त्यागकी) विधि कही है ।

सुन्दर कामिनी, [1]कांचन आदि समस्त परद्रव्य–गुण–पर्यायोंके प्रति ममकारको मैं छोड़ता हूँ । परमोपेक्षालक्षणसे लक्षित [2]निर्ममकारात्मक आत्मामें स्थित रहकर तथा आत्माका अवलम्बन लेकर, [3]संसृतिरूपी स्त्रीके संभोगसे उत्पन्न सुखदुःखादि अनेक विभावरूप परिणतिको मैं परिहरता हूँ ।

इसीप्रकार (आचार्यदेव) श्रीमद्अमृतचन्द्रसूरिने (श्री समयसारकी आत्म-

---

१–कांचन=सुवर्ण; धन ।
२–निर्ममकारात्मक=निर्ममत्वमय; निर्ममत्वस्वरूप । (निर्ममत्वका लक्षण परम उपेक्षा है ।)
३–संसृति=संसार ।

मैं त्याग ममता, निर्ममत्व स्वरूपमें स्थिति कर रहा ।
अवलम्ब मेरा आतमा अवशेष वारण कर रहा ॥९९॥

(शिखरिणी)

"निषिद्धे सर्वस्मिन् सुकृतदुरिते कर्मणि किल
प्रवृत्ते नैष्कर्म्ये न खलु मुनयः संत्यशरणाः ।
तदा ज्ञाने ज्ञानं प्रतिचरितमेषां हि शरणं
स्वयं विंदंत्येते परममममृतं तत्र निरताः ॥"

तथा हि—

(मालिनी)

अथ नियतमनोवाक्कायकृत्स्नेन्द्रियेच्छो
भववनधिसमुत्थं मोहयादःसमूहम् ।
कनकयुवतिवांच्छामप्यहं सर्वशक्त्या
प्रबलतरविशुद्धध्यानमय्या त्यजामि ॥१३४॥

ख्याति नामक टीकामें १०४ वें श्लोक द्वारा) कहा है कि:—

"[श्लोकार्थः—] शुभ आचरणरूप कर्म और अशुभ आचरणरूप कर्म—ऐसे समस्त कर्मोंका निषेध किया जाने पर और इसप्रकार निष्कर्म अवस्था वर्तने पर, मुनि कहीं अशरण नहीं हैं; (कारण कि) जब निष्कर्म अवस्था (निवृत्ति-अवस्था) वर्तती है तब ज्ञानमें आचरण करता हुआ—रमण करता हुआ—परिणमन करता हुआ ज्ञान ही उन मुनियोंको शरण है; वे उस ज्ञानमें लीन होते हुए परम अमृतका स्वयं अनुभवन करते हैं—आस्वादन करते हैं ।"

और (इस ९९ वीं गाथाकी टीका पूर्ण करते हुए टीकाकार मुनिराज श्लोक कहते हैं) :—

[श्लोकार्थः—] मन-वचन-काया सम्बन्धी और समस्त इन्द्रियों सम्बन्धी इच्छा जिसने *नियन्त्रण किया है ऐसा मैं अब भवसागरमें उत्पन्न होनेवाले मोहरूपी जलचर प्राणियोंके समूहको तथा कनक और युवतीकी वाँछाको अतिप्रबल-विशुद्ध-ध्यानमयी सर्व शक्तिसे छोड़ता हूँ ।१३४।

---

* नियन्त्रण करना=संयमन करना; अधिकारमें लेना ।

आदा खु मज्झ णाणे आदा मे दंसणे चरित्ते य ।
आदा पच्चक्खाणे आदा मे संवरे जोगे ॥१००॥

आत्मा खलु मम ज्ञाने आत्मा मे दर्शने चरित्रे च ।
आत्मा प्रत्याख्याने आत्मा मे संवरे योगे ॥१००॥

अत्र सर्वत्रात्मोपादेय इत्युक्तः ।

अनाद्यनिधनामूर्तातीन्द्रियस्वभावशुद्धसहजसौख्यात्मा ह्यात्मा । स खलु सहजशुद्धज्ञानचेतनापरिणतस्य मम सम्यग्ज्ञाने च, स च प्रांचितपरमपंचमगतिप्राप्तिहेतुभूतपंचनभावभावनापरिणतस्य मम सहजसम्यग्दर्शनविषये च, साक्षान्निर्वाणप्राप्त्युपायस्वस्वरूपाविचलस्थितिरूपसहजपरमचारित्रपरिणतेर्मम सहजचारित्रेऽपि स परमात्मा सदा संनिहितश्च, स चात्मा सदासन्नस्थः शुभाशुभपुण्यपापसुखदुःखानां षण्णां सकलसंन्यासात्मकनिश्चयप्रत्याख्याने च मम भेदविज्ञानिनः

गाथा १००

अन्वयार्थः—[खलु] वास्तवमें [मम ज्ञाने] मेरे ज्ञानमें [आत्मा] आत्मा है, [मे दर्शने] मेरे दर्शनमें [च] तथा [चरित्रे] चारित्रमें [आत्मा] आत्मा है, [प्रत्याख्याने] मेरे प्रत्याख्यानमें [आत्मा] आत्मा है, [मे संवरे योगे] मेरे संवरमें तथा योगमें (–शुद्धोपयोगमें) [आत्मा] आत्मा है ।

टीकाः—यहाँ (–इस गाथामें), सर्वत्र आत्मा उपादेय (–ग्रहण करने योग्य) है ऐसा कहा है ।

आत्मा वास्तवमें अनादि–अनन्त, अमूर्त, अतीन्द्रियस्वभाववाला, शुद्ध, सहज–सौख्यात्मक है । सहज शुद्ध ज्ञानचेतनारूपसे परिणमित जो मैं उसके (अर्थात् मेरे) सम्यग्ज्ञानमें सचमुच वह (आत्मा) है; पूजित परम पंचमगतिकी प्राप्तिके हेतुभूत पंचम-भावकी भावनारूपसे परिणमित जो मैं उसके सहज सम्यग्दर्शनविषयमें (अर्थात् मेरे सहज सम्यग्दर्शनमें) वह (आत्मा) है; साक्षात् निर्वाणप्राप्तिके उपायभूत, निज स्वरूपमें अविचल स्थितिरूप सहज–परमचारित्रपरिणतिवाला जो मैं उसके (अर्थात् मेरे) सहज चारित्रमें भी वह परमात्मा सदा सन्निहित (–निकट) है; भेदविज्ञानी, परद्रव्यसे

मम ज्ञानमें है आतमा, दर्शन चरितमें आतमा ।
है और प्रत्याख्यान, संवर, योगमें भी आतमा ॥१००॥

परद्रव्यपराङ्मुखस्य पंचेन्द्रियप्रसरवर्जितगात्रमात्रपरिग्रहस्य, मम सहजवैराग्यप्रासादशिखरशिखामणेः स्वरूपगुप्तस्य पापाटवीपावकस्य शुभाशुभसंवरयोश्च, अशुभोपयोगपराङ्मुखस्य शुभोपयोगेऽप्युदासीनपरस्य साक्षाच्छुद्धोपयोगाभिमुखस्य मम परमागममकरंदनिष्यन्दिमुखपद्मप्रभस्य शुद्धोपयोगेऽपि च स परमात्मा सनातनस्वभावत्वात्तिष्ठति ।

तथा चोक्तमेकत्वसप्ततौ—

(अनुष्टुभ्)

"तदेकं परमं ज्ञानं तदेकं शुचि दर्शनम् ।
चारित्रं च तदेकं स्यात् तदेकं निर्मलं तपः ।।

(अनुष्टुभ्)

नमस्यं च तदेवैकं तदेवैकं च मंगलम् ।
उत्तमं च तदेवैकं तदेव शरणं सताम् ।।

पराङ्मुख तथा पंचेन्द्रियके विस्तार रहित देहमात्रपरिग्रहवाला जो मैं उसके निश्चयप्रत्याख्यानमें—कि जो (निश्चयप्रत्याख्यान) शुभ, अशुभ, पुण्य, पाप, सुख और दुःख इन छहके सकलसंन्यासस्वरूप है (अर्थात् इन छह वस्तुओंके सम्पूर्ण त्यागस्वरूप है) उसमें—वह आत्मा सदा आसन्न (–निकट) विद्यमान है; सहज वैराग्यरूपी महलके शिखरका शिखामणि, स्वरूपगुप्त और पापरूपी अटवीको जलानेके लिये पावक समान जो मैं उसके शुभाशुभसंवरमें (वह परमात्मा है), तथा अशुभोपयोगसे पराङ्मुख, शुभोपयोगके प्रति भी उदासीनतावाला और साक्षात् शुद्धोपयोगके सम्मुख जो मैं—परमागमरूपी पुष्परस जिसके मुखसे झरता है ऐसा पद्मप्रभ—उसके शुद्धोपयोगमें भी वह परमात्मा विद्यमान है कारण कि वह (परमात्मा) सनातन स्वभाववाला है ।

इसप्रकार एकत्वसप्ततिमें (–श्री पद्मनन्दि–आचार्यवरकृत पद्मनन्दिपंचविंशतिकाके एकत्वसप्तति नामक अधिकारमें ३९, ४० तथा ४१ वें श्लोक द्वारा) कहा है कि:—

"[श्लोकार्थः—] वही एक (–वह चैतन्यज्योति ही एक) परम ज्ञान है वही एक पवित्र दर्शन है, वही एक चारित्र है तथा वही एक निर्मल तप है ।

[श्लोकार्थः—] सत्पुरुषोंको वही एक नमस्कारयोग्य है, वही एक मंगल है, वही एक उत्तम है तथा वही एक शरण है ।

(अनुष्टुभ्)

आचारश्च तदेवैकं तदेवावश्यकक्रिया ।
स्वाध्यायस्तु तदेवैकमप्रमत्तस्य योगिनः ॥"

तथा हि—

(मालिनी)

मम सहजसुदृष्टौ शुद्धबोधे चरित्रे
सुकृतदुरितकर्मद्वन्दसंन्यासकाले ।
भवति स परमात्मा संवरे शुद्धयोगे
न च न च भुवि कोऽप्यन्योस्ति मुक्त्यै पदार्थः ॥१३५॥

(पृथ्वी)

क्वचिल्लसति निर्मलं क्वचन निर्मलानिर्मलं
क्वचित्पुनरनिर्मलं गहनमेवमज्ञस्य यत् ।
तदेव निजबोधदीपनिहताघभूछायकं
सतां हृदयपद्मसद्मनि च संस्थितं निश्चलम् ॥१३६॥

[श्लोकार्थः—] अप्रमत्त योगीको वही एक आचार है, वही एक आवश्यक क्रिया है तथा वही एक स्वाध्याय है ।"

और (इस १०० वीं गाथाकी टीका पूर्ण करते हुए टीकाकार मुनिराज दो श्लोक कहते हैं) :—

[श्लोकार्थः—] मेरे सहज सम्यग्दर्शनमें, शुद्ध ज्ञानमें, चारित्रमें, सुकृत और दुष्कृतरूपी कर्मद्वंद्वके संन्यासकालमें (अर्थात् प्रत्याख्यानमें), संवरमें और शुद्ध योगमें (–शुद्धोपयोगमें) वह परमात्मा ही है (अर्थात् सम्यग्दर्शनादि सभीका आश्रय—अवलम्बन शुद्धात्मा ही है); मुक्तिकी प्राप्तिके लिये जगतमें अन्य कोई भी पदार्थ नहीं है, नहीं है ।१३५।

[श्लोकार्थः—] जो कभी निर्मल दिखाई देता है, कभी निर्मल तथा अनिर्मल दिखाई देता है, तथा कभी अनिर्मल दिखाई देता है और इससे अज्ञानीके लिये जो गहन है, वही निजज्ञानरूपी दीपक—कि जिसने पापतिमिरको नष्ट किया है वह—सत्पुरुषोंके हृदयकमलरूपी घरमें निश्चलरूपसे संस्थित है ।१३६।

एगो य मरदि जीवो एगो य जीवदि सयं।
एगस्स जादि मरणं एगो सिज्झदि णीरओ ॥१०१॥

एकश्च म्रियते जीवः एकश्च जीवति स्वयम् ।
एकस्य जायते मरणं एकः सिध्यति नीरजाः ॥१०१॥

इह हि संसारावस्थायां मुक्तौ च निःसहायो जीव इत्युक्तः ।

नित्यमरणे तद्भवमरणे च सहायमन्तरेण व्यवहारतश्चैक एव म्रियते; सादिसनिधनमूर्तिविजातीयविभावव्यंजननरनारकादिपर्यायोत्पत्तौ चासन्नगतानुपचरितासद्भूतव्यवहारनयादेशेन स्वयमेवोज्जीवत्येव । सर्वैर्बंधुभिः परिरक्ष्यमाणस्यापि महाबलपराक्रमस्यैकस्य जीवस्याप्रार्थितमपि

गाथा १०१

अन्वयार्थः—[जीवः एकः च] जीव अकेला [म्रियते] मरता है [च] और [स्वयम् एकः] स्वयं अकेला [जीवति] जन्मता है; [एकस्य] अकेलेका [मरणं जायते] मरण होता है और [एकः] अकेला [नीरजाः] रज रहित होता हुआ [सिध्यति] सिद्ध होता है ।

टीकाः—यहाँ (–इस गाथामें), संसारावस्थामें और मुक्तिमें जीव निःसहाय है ऐसा कहा है ।

नित्य मरणमें (अर्थात् प्रतिसमय होनेवाले आयुकर्मके निषेकोंके क्षयमें) और उस भव सम्बन्धी मरणमें, (अन्य किसीकी) सहायताके बिना व्यवहारसे (जीव) अकेला ही मरता है; तथा सादि–सांत मूर्तिक विजातीयविभावव्यंजनपर्यायरूप नरनारकादिपर्यायोंकी उत्पत्तिमें, आसन्न–अनुपचरित–असद्भूत–व्यवहारनयके कथनसे (जीव अकेला ही) स्वयमेव जन्मता है । सर्व बन्धुजनोंसे रक्षण किया जाने पर भी, महाबलपराक्रमवाले जीवका अकेलेका ही, अनिच्छित होने पर भी, स्वयमेव मरण होता है;

मरता अकेला जीव एवं जन्म एकाकी करे ।
पाता अकेला ही मरण अरु मुक्ति एकाकी करे ॥१०१॥

स्वयमेव जायते मरणम्; एक एव परमगुरुप्रसादासादितस्वात्माश्रयनिश्चयशुक्लध्यानबलेन स्वात्मानं ध्यात्वा नीरजाः सन् सद्यो निर्वाति ।

तथा चोक्तम्—

(अनुष्टुभ्)

"स्वयं कर्म करोत्यात्मा स्वयं तत्फलमश्नुते ।
स्वयं भ्रमति संसारे स्वयं तस्माद्विमुच्यते ॥"

उक्तं च श्री सामदेवपंडितदेवैः—

(वसंततिलका)

"एकस्त्वमाविशसि जन्मनि संक्षये च
भोक्तुं स्वयं स्वकृतकर्मफलानुबन्धम् ।
अन्यो न जातु सुखदुःखविधौ सहायः
स्वाजीवनाय मिलितं विटपेटकं ते ॥"

तथा हि—

(जीव) अकेला ही परम गुरुके प्रसादसे प्राप्त स्वात्माश्रित निश्चयशुक्लध्यानके बलसे निज आत्माको ध्याकर रजरहित होता हुआ शीघ्र निर्वाण प्राप्त करता है ।

इसीप्रकार (अन्यत्र श्लोक द्वारा) कहा है कि:—

"[श्लोकार्थ:—] आत्मा स्वयं कर्म करता है, स्वयं उसका फल भोगता है, स्वयं संसारमें भ्रमता है तथा स्वयं संसारसे मुक्त होता है ।"

और श्री सोमदेवपंडितदेवने (यशस्तिलकचंपूकाव्यमें दूसरे अधिकारमें एकत्वानुप्रेक्षाका वर्णन करते हुए ११९ वें श्लोक द्वारा) कहा है कि:—

"[श्लोकार्थ:—] स्वयं किये हुए कर्मके फलानुबन्धको स्वयं भोगनेके लिये तू अकेला जन्ममें तथा मृत्युमें प्रवेश करता है, अन्य कोई (स्त्री–पुत्र–मित्रादिक) सुख–दुःखके प्रकारोंमें बिलकुल सहायभूत नहीं होता; अपनी आजीविकाके लिये (मात्र अपने स्वार्थके लिये स्त्रीपुत्रमित्रादिक) ठगोंकी टोली तुझे मिली है ।"

और (इस १०१ वीं गाथाकी टीका पूर्ण करते हुए टीकाकार मुनिराज श्लोक कहते हैं) :—

(मंदाक्रांता)

एको याति प्रबलदुरघाज्जन्म मृत्युं च जीवः
कर्मद्वन्द्वोद्भवफलमयं चारुसौख्यं च दुःखम् ।
भूयो भुंक्ते स्वसुखविमुखः सन् सदा तीव्रमोहा-
देकं तत्त्वं किमपि गुरुतः प्राप्य तिष्ठत्यमुष्मिन् ॥१३७॥

एगो मे सासदो अप्पा णाणदंसणलक्खणो ।
सेसा मे बाहिरा भावा सव्वे संजोगलक्खणा ॥१०२॥

एको मे शाश्वत आत्मा ज्ञानदर्शनलक्षणः ।
शेषा मे बाह्या भावाः सर्वे संयोगलक्षणाः ॥१०२॥

एकत्वभावनापरिणतस्य सम्यग्ज्ञानिनो लक्षणकथनमिदम् ।

अखिलसंसृतिनन्दनतरुमूलालवालांभःपूरपरिपूर्णप्रणालिकावत्संस्थितकलेवरसंभवहेतुभूत-

---

[श्लोकार्थः—] जीव अकेला प्रबल दुष्कृतसे जन्म और मृत्युको प्राप्त करता है; जीव अकेला सदा तीव्र मोहके कारण स्वसुखसे विमुख होता हुआ कर्मद्वन्द्वजनित फलमय (—शुभ और अशुभ कर्मके फलरूप) सुन्दर सुख और दुःखको बारम्बार भोगता है; जीव अकेला किसी भी प्रकार गुरु द्वारा एक तत्त्वको (—चैतन्यतत्त्वको) प्राप्त करके उसमें स्थित रहता है ।१३७।

गाथा १०२

अन्वयार्थः— [ज्ञानदर्शनलक्षणः] ज्ञानदर्शनलक्षणवाला [शाश्वतः] शाश्वत [एकः] एक [आत्मा] आत्मा [मे] मेरा है; [शेषाः सर्वे] शेष सब [संयोगलक्षणाः भावाः] संयोगलक्षणवाले भाव [मे बाह्याः] मुझसे बाह्य हैं ।

टीकाः—एकत्वभावनारूपसे परिणमित सम्यग्ज्ञानीके लक्षणका यह कथन है ।

त्रिकाल निरुपाधिक स्वभाववाला होनेसे निरावरण—ज्ञानदर्शनलक्षणसे लक्षित ऐसा जो कारणपरमात्मा वह, समस्त संसाररूपी नन्दनवनके वृक्षोंकी जड़के आसपास

दृग्ज्ञान—लक्षित और शाश्वत मात्र—आत्मा मम अरे ।
अरु शेष सब संयोग लक्षित भाव मुझसे है परे ॥१०२॥

द्रव्यभावकर्माभावादेकः, स एव निखिलक्रियाकांडाडंबरविविधविकल्पकोलाहलनिर्मुक्तसहजशुद्ध-ज्ञानचेतनामतीन्द्रियं भुंजानः सन् शाश्वतो भूत्वा ममोपादेयरूपेण तिष्ठति, यस्त्रिकालनिरुपाधि-स्वभावत्वात् निरावरणज्ञानदर्शनलक्षणलक्षितः कारणपरमात्मा; ये शुभाशुभकर्मसंयोगसंभवाः शेषा बाह्याभ्यन्तरपरिग्रहाः स्वस्वरूपाद्बाह्यास्ते सर्वे; इति मम निश्चयः ।

(मालिनी)

अथ मम परमात्मा शाश्वतः कश्चिदेकः
सहजपरमचिच्चिन्तामणिर्नित्यशुद्धः ।
निरवधिनिजदिव्यज्ञानदृग्भ्यां समृद्धः
किमिह बहुविकल्पैर्मे फलं बाह्यभावैः ॥१३८॥

जं किंचि मे दुच्चरित्तं सव्वं तिविहेण वोसरे ।
सामाइयं तु तिविहं करेमि सव्वं णिरायारं ॥१०३॥

क्यारियोंमें पानी भरनेके लिये जलप्रवाहसे परिपूर्ण नाली समान वर्तता हुआ जो शरीर उसकी उत्पत्तिमें हेतुभूत द्रव्यकर्म–भावकर्म रहित होनेसे एक है, और वही (कारण-परमात्मा) समस्त क्रियाकाण्डके आडम्बरके विविध विकल्परूप कोलाहलसे रहित सहजशुद्ध–ज्ञानचेतनाको अतीन्द्रियरूपसे भोगता हुआ शाश्वत रहकर मेरे लिये उपादेय-रूपसे रहता है; जो शुभाशुभ कर्मके संयोगसे उत्पन्न होनेवाले शेष बाह्य–अभ्यंतर परि-ग्रह, वे सब निज स्वरूपसे बाह्य हैं ।—ऐसा मेरा निश्चय है ।

[अब इस १०२ वीं गाथा की टीका पूर्ण करते हुए टीकाकार मुनिराज श्लोक कहते हैं :]

[श्लोकार्थः—] मेरा परमात्मा शाश्वत है, कथंचित् एक है, सहज परम चैतन्यचिन्तामणि है, सदा शुद्ध है और अनन्त निज दिव्य ज्ञानदर्शनसे समृद्ध है । ऐसा है तो फिर बहु प्रकारके बाह्य भावोंसे मुझे क्या फल है ? ।१३८।

जो कोइ भी दुष्चरित मेरा सर्व त्रयविधिसे तजूं ।
अरु त्रिविधि सामायिक चरित सब, निर्विकल्पक आचरूँ ॥१०३॥

यत्किंचिन्मे दुश्चरित्रं सर्वं त्रिविधेन विसृजामि ।
सामायिकं तु त्रिविधं करोमि सर्वं निराकारम् ॥१०३॥

आत्मगतदोषनिर्मुक्त्युपायकथनमिदम् ।

भेदविज्ञानिनोऽपि मम परमतपोधनस्य पूर्वसंचितकर्मोदयबलाच्चारित्रमोहोदये सति यत्किंचिदपि दुश्चरित्रं भवति चेत्तत् सर्वं मनोवाक्कायसंशुद्ध्या संत्यजामि । सामायिकशब्देन तावच्चारित्रमुक्तं सामायिकछेदोपस्थापनपरिहारविशुद्ध्यभिधानभेदात्त्रिविधम् । अथवा जघन्यरत्नत्रयमुत्कृष्टं करोमि; नवपदार्थपरद्रव्यश्रद्धानपरिज्ञानाचरणस्वरूपं रत्नत्रयं साकारं, तत् स्वस्वरूपश्रद्धानपरिज्ञानानुष्ठानरूपस्वभावरत्नत्रयस्वीकारेण निराकारं शुद्धं करोमि इत्यर्थः । किं च, भेदोपचारचारित्रम् अभेदोपचारं करोमि, अभेदोपचारम् अभेदानुपचारं करोमि इति त्रिविधं

गाथा १०३

अन्वयार्थः—[मे] मेरा [यत् किंचित्] जो कुछ भी [दुश्चरित्रं] दुःचारित्र [सर्वं] उस सर्वको मैं [त्रिविधेन] त्रिविधसे (मन–वचन–कायासे) [विसृजामि] छोड़ता हूँ [तु] और [त्रिविधं सामायिकं] त्रिविध जो सामायिक (–चारित्र) [सर्वं] उस सर्वको [निराकारं करोमि] निराकार (–निर्विकल्प) करता हूँ ।

टीकाः—आत्मगत दोषोंसे मुक्त होनेके उपायका यह कथन है ।

मुझे परम–तपोधनको, भेदविज्ञानी होने पर भी, पूर्वसंचित कर्मोंके उदयके कारण चारित्रमोहका उदय होने पर यदि कुछ भी दुःचारित्र हो, तो उस सर्वको मन–वचन–कायाकी संशुद्धिसे मैं सम्यक् प्रकारसे छोड़ता हूँ । "सामायिक" शब्दसे चारित्र कहा है—कि जो (चारित्र) सामायिक, छेदोपस्थापन और परिहारविशुद्धि नामके तीन भेदोंके कारण तीन प्रकारका है । (मैं उस चारित्रको निराकार करता हूँ ।) अथवा मैं जघन्य रत्नत्रयको उत्कृष्ट करता हूँ; नव पदार्थरूप परद्रव्यके श्रद्धान–ज्ञान–आचरणस्वरूप रत्नत्रय साकार (–सविकल्प) है, उसे निजस्वरूपके श्रद्धान–ज्ञान–अनुष्ठानरूप स्वभावरत्नत्रयके स्वीकार (–अंगीकार) द्वारा निराकार—शुद्ध करता हूँ, ऐसा अर्थ है । और (दूसरे प्रकारसे कहा जाये तो), मैं भेदोपचार चारित्रको अभेदोपचार करता हूँ तथा अभेदोपचार चारित्रको अभेदानुपचार करता हूँ—इसप्रकार त्रिविध सामायिकको (–चारित्रको) उत्तरोत्तर स्वीकृत (अंगीकृत) करनेसे सहज परम तत्त्वमें अविचल

सामायिकमुत्तरोत्तरस्वीकारेण सहजपरमतत्त्वाविचलस्थितिरूपसहजनिश्चयचारित्रं, निराकारतत्त्वनिरतत्वान्निराकारचारित्रमिति ।

तथा चोक्तं प्रवचनसारव्याख्यायाम् ।

(वसन्ततिलका)

"द्रव्यानुसारि चरणं चरणानुसारि
द्रव्यं मिथो द्वयमिदं ननु सव्यपेक्षम्
तस्मान्मुमुक्षुरधिरोहतु मोक्षमार्गं
द्रव्यं प्रतीत्य यदि वा चरणं प्रतीत्य ॥"

तथा हि—

(अनुष्टुभ्)

चित्तत्त्वभावनासक्तमतयो यतयो यमम् ।
यतंते यातनाशीलयमनाशनकारणम् ॥१३९॥

स्थितिरूप सहज निश्चयचारित्र होता है—कि जो (निश्चयचारित्र) निराकार तत्त्वमें लीन होनेसे निराकार चारित्र है ।

इसीप्रकार श्री प्रवचनसारकी (अमृतचन्द्राचार्यदेवकृत तत्त्वदीपिका नामक) टीकामें (१२ वें श्लोक द्वारा) कहा है कि:—

"[श्लोकार्थः—] चरण द्रव्यानुसार होता है और द्रव्य चरणानुसार होता है—इसप्रकार वे दोनों परस्पर अपेक्षासहित हैं; इसलिये या तो द्रव्यका आश्रय करके अथवा तो चरणका आश्रय करके मुमुक्षु (ज्ञानी, मुनि) मोक्षमार्गमें आरोहण करो ।"

और (इस १०२ वीं गाथाकी टीका पूर्ण करते हुए टीकाकार मुनिराज श्लोक कहते हैं):—

[श्लोकार्थः—] जिनकी बुद्धि चैतन्यतत्त्वकी भावनामें आसक्त (रत, लीन) है ऐसे यति यममें प्रयत्नशील रहते हैं (अर्थात् संयममें सावधान रहते हैं)—कि जो यम (–संयम) यातनाशील यमके (–दुःखमय मरणके) नाशका कारण है ।१३९।

सम्मं मे सव्वभूदेसु वेरं मज्झं ण केणवि ।
आसाए वोसरित्ता णं समाहि पडिवज्जए ॥१०४॥

साम्यं मे सर्वभूतेषु वैरं मह्यं न केनचित् ।
आशाम् उत्सृज्य नूनं समाधिः प्रतिपद्यते ॥१०४॥

इहान्तर्मुखस्य परमतपोधनस्य भावशुद्धिरुक्ता ।

विमुक्तसकलेन्द्रियव्यापारस्य मम भेदविज्ञानिष्वज्ञानिषु च समता; मित्रामित्रपरिणतेरभावान्न मे केनचिज्जनेन सह वैरं; सहजवैराग्यपरिणतेः न मे काप्याशा विद्यते; परमसमरसीभावसनाथपरमसमाधिं प्रपद्येऽहमिति ।

तथा चोक्तं श्रीयोगीन्द्रदेवैः—

गाथा १०४

अन्वयार्थः—[सर्वभूतेषु] सर्व जीवोंके प्रति [मे] मुझे [साम्यं] समता है, [मह्यं] मुझे [केनचित्] किसीके साथ [वैरं न] वैर नहीं है; [नूनम्] वास्तवमें [आशाम् उत्सृज्य] आशाको छोड़कर [समाधिः प्रतिपद्यते] मैं समाधिको प्राप्त करता हूँ ।

टीकाः—यहाँ (इस गाथामें) अन्तर्मुख परम–तपोधनकी भावशुद्धिका कथन है ।

जिसने समस्त इन्द्रियोंके व्यापारको छोड़ा है ऐसे मुझे भेदविज्ञानियों तथा अज्ञानियोंके प्रति समता है; मित्र–अमित्ररूप (मित्ररूप अथवा शत्रुरूप) परिणतिके अभावके कारण मुझे किसी प्राणीके साथ बैर नहीं है; सहज वैराग्यपरिणतिके कारण मुझे कोई भी आशा नहीं वर्तती; परम समरसीभावसंयुक्त परम समाधिका मैं आश्रय करता हूँ (अर्थात् परम समाधिको प्राप्त करता हूँ) ।

इसीप्रकार श्री योगीन्द्रदेवने (अमृताशीतिमें २१ वें श्लोक द्वारा) कहा है किः—

समता मुझे सब जीव प्रति वैर न किसीके प्रति रहा ।
मैं छोड़ आशा सर्वतः धारण समाधि कर रहा ॥१०४॥

(वसंततिलका)

"मुक्त्वालसत्वमधिसत्त्वबलोपपन्नः
स्मृत्वा परां च समतां कुलदेवतां त्वम् ।
संज्ञानचक्रमिदमंग गृहाण तूर्ण-
मज्ञानमन्त्रियुतमोहरिपूपमर्दि ॥"

तथा हि—

(वसन्ततिलका)

मुक्त्यंगनालिमपुनर्भवसौख्यमूलं
दुर्भावनातिमिरसंहतिचन्द्रकीर्तिम् ।
संभावयामि समतामहमुच्चकैस्तां
या संमता भवति संयमिनामजस्रम् ॥१४०॥

(हरिणी)

जयति समता नित्यं या योगिनामपि दुर्लभा
निजमुखसुखवार्धिप्रस्फारपूर्णशशिप्रभा ।
परमयमिनां प्रव्रज्यास्त्रीमनःप्रियमैत्रिका
मुनिवरगणस्योच्चैः सालंक्रिया जगतामपि ॥१४१॥

"[श्लोकार्थः—] हे भाई! स्वाभाविक बलसम्पन्न ऐसा तू आलस्य छोड़कर, उत्कृष्ट समतारूपी कुलदेवीका स्मरण करके, अज्ञानमंत्री सहित मोहशत्रुका नाश करनेवाले इस सम्यग्ज्ञानरूपी चक्रको शीघ्र ग्रहण कर ।"

और (इस १०४ वीं गाथाकी टीका पूर्ण करते हुए टीकाकार मुनिराज दो श्लोक कहते हैं) :—

[श्लोकार्थः—] जो (समता) मुक्तिरूपी स्त्रीके प्रति भ्रमर समान (रत) है, जो मोक्षसौख्यका मूल है, जो दुर्भावनारूपी तिमिरसमूहको (नष्ट करनेके लिये) चन्द्रके प्रकाश समान है और जो संयमियोंको निरंतर संमत है, उस समताको मैं अत्यंत भाता हूँ ।१४०।

[श्लोकार्थः—] जो योगियोंको भी दुर्लभ है, जो निजाभिमुख सुखके सागरमें ज्वार लानेके लिये पूर्ण चन्द्रकी प्रभा (समान) है, जो परम संयमियोंकी दीक्षारूपी स्त्रीके मनको प्यारी सखी है तथा जो मुनिवरोंके समूहका तथा तीनलोकका भी अतिशयरूपसे आभूषण है, वह समता सदा जयवन्त है ।१४१।

णिक्कसायस्स दंतस्स सूरस्स ववसायिणो ।
संसारभयभीदस्स पच्चक्खाणं सुहं हवे ॥१०५॥

निःकषायस्य दान्तस्य शूरस्य व्यवसायिनः ।
संसारभयभीतस्य प्रत्याख्यानं सुखं भवेत् ॥१०५॥

निश्चयप्रत्याख्यानयोग्यजीवस्वरूपाख्यानमेतत् ।

सकलकषायकलंकपंकविमुक्तस्य निखिलेन्द्रियव्यापारविजयोपार्जितपरमदान्तरूपस्य अखिलपरीषहमहाभटविजयोपार्जितनिजशूरगुणस्य निश्चयपरमतपश्चरणनिरतशुद्धभावस्य संसार-दुःखभीतस्य व्यवहारेण चतुराहारविवर्जनप्रत्याख्यानम् । किं च पुनः व्यवहारप्रत्याख्यानं

गाथा १०५

अन्वयार्थः—[निःकषायस्य] जो निःकषाय है, [दान्तस्य] [1]दान्त है, [शूरस्य] शूरवीर है, [व्यवसायिनः] व्यवसायी (–शुद्धताके प्रति उद्यमवन्त) है और [संसार-भयभीतस्य] संसारसे भयभीत है, उसे [सुखं प्रत्याख्यानं] सुखमय प्रत्याख्यान (अर्थात् निश्चयप्रत्याख्यान) [भवेत्] होता है ।

टीकाः—जो जीव निश्चयप्रत्याख्यानके योग्य हो ऐसे जीवके स्वरूपका यह कथन है ।

जो समस्त कषायकलंकरूप कीचड़से विमुक्त है, सर्व इन्द्रियोंके व्यापार पर विजय प्राप्त कर लेनेसे जिसने परम दान्तरूपता प्राप्तकी है, सकल परिषहरूपी महा सुभटोंको जीत लेनेसे जिसने निज शूरगुण प्राप्त किया है, निश्चय–परम–तपश्चरणमें [2]निरत ऐसा शुद्धभाव जिसे वर्तता है तथा जो संसारदुःखसे भयभीत है, उसे (यथोचित शुद्धता सहित) व्यवहारसे चार आहारके त्यागरूप प्रत्याख्यान है । परन्तु (शुद्धता-रहित) व्यवहार–प्रत्याख्यान तो कुदृष्टि (–मिथ्यात्वी) पुरुषको भी चारित्रमोहके

१–दान्त=जिसने इन्द्रियोंका दमन किया हो ऐसा; जिसने इन्द्रियोंको वश किया हो ऐसा; संयमी ।
२–निरत=रत; तत्पर; परायण; लीन ।

जो शूर एवं दान्त है, अकषाय उद्यमवान है ।
भव–भीरु है, होता उसे ही सुखद प्रत्याख्यान है ॥१०५॥

कुदृष्टेरपि पुरुषस्य चारित्रमोहोदयहेतुभूतद्रव्यभावकर्मक्षयोपशमेन क्वचित् कदाचित् संभवति। अत एव निश्चयप्रत्याख्यानं हितम् अत्यासन्नभव्यजीवानाम्; यतः स्वर्णनामधेयधरस्य पाषाणस्योपादेयत्वं न तथांधपाषाणस्येति। ततः संसारशरीरभोगनिर्वेगता निश्चयप्रत्याख्यानस्य कारणं, पुनर्भाविकाले संभाविनां निखिलमोहरागद्वेषादिविविधविभावानां परिहारः परमार्थप्रत्याख्यानम्, अथवानागतकालोद्भवविविधान्तर्जल्पपरित्यागः शुद्धनिश्चयप्रत्याख्यानम् इति।

(हरिणी)

जयति सततं प्रत्याख्यानं जिनेन्द्रमतोद्भवं
परमयमिनामेतन्निर्वाणसौख्यकरं परम्।
सहजसमतादेवीसत्कर्णभूषणमुच्चकैः
मुनिप शृणु ते दीक्षाकान्तातियौवनकारणम् ॥१४२॥

उदयके हेतुभूत द्रव्यकर्मके और भावकर्मके क्षयोपशम द्वारा क्वचित् कदाचित् संभवित है। इसीलिये निश्चयप्रत्याख्यान अति–आसन्नभव्य जीवोंको हितरूप है; क्योंकि जिसप्रकार *सुवर्णपाषाण नामक पाषाण उपादेय है उसीप्रकार अन्धपाषाण नहीं है। इसलिये (यथोचित् शुद्धता सहित) संसार तथा शरीर सम्बन्धी भोगकी निर्वेगता निश्चयप्रत्याख्यानका कारण है और भविष्य कालमें होनेवाले समस्त मोहरागद्वेषादि विविध विभावोंका परिहार वह परमार्थप्रत्याख्यान है अथवा अनागत कालमें उत्पन्न होनेवाले विविध अन्तर्जल्पोंका (–विकल्पोंका) परित्याग वह शुद्ध निश्चयप्रत्याख्यान है।

[अब इस १०५ वीं गाथाकी टीका पूर्ण करते हुए टीकाकार मुनिराज श्लोक कहते हैं :]

[श्लोकार्थः—] हे मुनिवर ! सुन; जिनेन्द्रके मतमें उत्पन्न होनेवाला प्रत्याख्यान सतत जयवन्त है। वह प्रत्याख्यान परमसंयमियोंको उत्कृष्टरूपसे निर्वाणसुखका करनेवाला है, सहज समतादेवीके सुन्दर कर्णका महा आभूषण है और तेरी दीक्षारूपी प्रिय स्त्रीके अतिशय यौवनका कारण है।१४२।

---

* जिस पाषाणमें सुवर्ण होता है उसे सुवर्णपाषाण कहते हैं और जिसमें सुवर्ण नहीं होता उसे अन्धपाषाण कहते हैं।

एवं भेदब्भासं जो कुव्वइ जीवकम्मणो णिच्चं ।
पच्चक्खाणं सक्कदि धरिदुं सो संजदो णियमा ॥१०६॥

एवं भेदाभ्यासं यः करोति जीवकर्मणोः नित्यम् ।
प्रत्याख्यानं शक्तो धर्तुं स संयतो नियमात् ॥१०६॥

निश्चयप्रत्याख्यानाध्यायोपसंहारोपन्यासोयम् ।

यः श्रीमदर्हन्मुखारविन्दविनिर्गतपरमागमार्थविचारक्षमः अशुद्धान्तस्तत्त्वकर्मपुद्गलयोरनादिबन्धनसंबन्धयोर्भेदं भेदाभ्यासबलेन करोति, स परमसंयमी निश्चयव्यवहारप्रत्याख्यानं स्वीकरोतीति ।

(रथोद्धता)

भाविकालभवभावनिवृत्तः
सोहमित्यनुदिनं मुनिनाथः ।
भावयेदखिलसौख्यनिधानं
स्वस्वरूपममलं मलमुक्त्यै ॥१४३॥

गाथा १०६

अन्वयार्थः—[एवं] इसप्रकार [यः] जो [नित्यम्] सदा [जीवकर्मणोः] जीव और कर्मके [भेदाभ्यासं] भेदका अभ्यास [करोति] करता है, [सः संयतः] वह संयत [नियमात्] नियमसे [प्रत्याख्यानं] प्रत्याख्यान [धर्तुं] धारण करनेको [शक्तः] शक्तिमान है ।

टीकाः—यह, निश्चय-प्रत्याख्यान अधिकारके उपसंहारका कथन है ।

श्रीमद् अर्हन्तके मुखारविंदसे निकले हुए परमागमके अर्थका विचार करनेमें समर्थ ऐसा जो परम संयमी अनादि बन्धनरूप सम्बन्धवाले अशुद्ध अन्तःतत्त्व और कर्म-पुद्गलका भेद भेदाभ्यासके बलसे करता है, वह परम संयमी निश्चयप्रत्याख्यान तथा व्यवहारप्रत्याख्यानको स्वीकृत (-अंगीकृत) करता है ।

[अब, इस निश्चय-प्रत्याख्यान अधिकारकी अन्तिम गाथाकी टीका पूर्ण करते हुए टीकाकार मुनिराज श्री पद्मप्रभमलधारिदेव नौ श्लोक कहते हैं :]

यों जीव कर्म विभेद अभ्यासी रहे जो नित्य ही ।
है संयमी जन नियत प्रत्याख्यान-धारण क्षम वही ॥१०६॥

(स्वागता)

घोरसंसृतिमहार्णवभास्व-
द्यानपात्रमिदमाह जिनेन्द्रः ।
तत्त्वतः परमतत्त्वमजस्रं
भावयाम्यहमतो जितमोहः ।।१४४।।

(मंदाक्रांता)

प्रत्याख्यानं भवति सततं शुद्धचारित्रमूर्तेः
भ्रान्तिध्वंसात्सहजपरमानंदचिन्निष्ठबुद्धेः ।
नास्त्यन्येषामपरसमये योगिनामास्पदानां
भूयो भूयो भवति भविनां संसृतिर्घोररूपा ।।१४५।।

(शिखरिणी)

महानंदानंदो जगति विदितः शाश्वतमयः
स सिद्धात्मन्युच्चैर्नियतवसतिर्निर्मलगुणे ।
अमी विद्वान्सोपि स्मरनिशितशस्त्रैरभिहताः
कथं कांक्षंत्येनं बत कलिहतास्ते जडधियः ।।१४६।।

[श्लोकार्थः—] "जो भावि कालके भव–भावोंसे (संसारभावोंसे) निवृत्त है वह मैं हूँ" इसप्रकार मुनीश्वरको मलसे मुक्त होनेके लिये परिपूर्ण सौख्यके निधानभूत निर्मल निज स्वरूपको प्रतिषदिन भाना चाहिये ।१४३।

[श्लोकार्थः—] घोर संसारमहार्णवकी यह (परम तत्त्व) दैदीप्यमान नौका है ऐसा जिनेन्द्रदेवने कहा है; इसलिये मैं मोहको जीतकर निरन्तर परम तत्त्वको तत्त्वतः (–पारमार्थिक रीतिसे) भाता हूँ ।१४४।

[श्लोकार्थः—] भ्रान्तिके नाशसे जिसकी बुद्धि सहज–परमानन्दयुक्त चेतनमें निष्ठित (–लीन, एकाग्र) है ऐसे शुद्धचारित्रमूर्तिको सतत प्रत्याख्यान है । परसमयमें (–अन्य दर्शनमें) जिनका स्थान है ऐसे अन्य योगियोंको प्रत्याख्यान नहीं होता; उन संसारियोंको पुनः पुनः घोर संसरण (–परिभ्रमण) होता है ।१४५।

[श्लोकार्थः—] जो शाश्वत महा आनन्दानन्द जगतमें प्रसिद्ध है, वह निर्मल गुणवाले सिद्धात्मामें अतिशयरूपसे तथा नियतरूपसे रहता है । (तो फिर,) अरेरे ! यह विद्वान भी कामके तीक्ष्ण शस्त्रोंसे घायल होते हुए क्लेशपीड़ित होकर उसकी (कामकी) इच्छा क्यों करते हैं ! वे जड़बुद्धि हैं ।१४६।

(मंदाक्रांता)

प्रत्याख्यानाद्भवति यमिषु प्रस्फुटं शुद्धशुद्धं
सच्चारित्रं दुरघतरुसांद्राटवीवह्निरूपम् ।
तत्त्वं शीघ्रं कुरु तव मतौ भव्यशार्दूल नित्यं
यत्किंभूतं सहजसुखदं शीलमूलं मुनीनाम् ॥१४७॥

(मालिनी)

जयति सहजतत्त्वं तत्त्वनिष्णातबुद्धेः
हृदयसरसिजाताभ्यन्तरे संस्थितं यत्
तदपि सहजतेजः प्रास्तमोहान्धकारं
स्वरसविसरभास्वद्बोधविस्फूर्तिमात्रम् ॥१४८॥

(पृथ्वी)

अखंडितमनारतं सकलदोषदूरं परं
भवांबुनिधिमग्नजीवततियानपात्रोपमम् ।
अथ प्रबलदुर्गवर्गदववह्निकीलालकं
नमामि सततं पुनः सहजमेव तत्त्वं मुदा ॥१४९॥

[श्लोकार्थः—] जो दुष्ट पापरूपी वृक्षोंकी घनी अटवीको जलानेके लिये अग्निरूप है ऐसा प्रगट शुद्ध-शुद्ध सत्चारित्र संयमियोंको प्रत्याख्यानसे होता है; (इस-लिये) हे भव्यशार्दूल ! (-भव्योत्तम !) तू शीघ्र अपनी मतिमें तत्त्वको नित्य धारण कर—कि जो तत्त्व सहज सुखका देनेवाला तथा मुनियोंके चारित्रका मूल है ।१४७।

[श्लोकार्थः—] तत्त्वमें निष्णात बुद्धिवाले जीवके हृदयकमलरूप अभ्यन्तरमें जो सुस्थित है, वह सहज तत्त्व जयवन्त है । उस सहज तेजने मोहान्धकारका नाश किया है और वह (सहज तेज) निज रसके विस्तारसे प्रकाशित ज्ञानके प्रकाशनमात्र है ।१४८।

[श्लोकार्थः—] और, जो (सहज तत्त्व) अखण्डित है, शाश्वत है, सकल दोषसे दूर है, उत्कृष्ट है, भवसागरमें डूबे हुए जीवसमूहको नौका समान है तथा प्रबल संकटोंके समूहरूपी दावानलको (शान्त करनेके लिये) जल समान है, उस सहज तत्त्वको मैं प्रमोदसे सतत नमस्कार करता हूँ ।१४९।

(पृथ्वी)

जिनप्रभुमुखारविन्दविदितं स्वरूपस्थितं
मुनीश्वरमनोगृहान्तरसुरत्नदीपप्रभम् ।
नमस्यमिह योगिभिर्विजितदृष्टिमोहादिभिः
नमामि सुखमन्दिरं सहजतत्त्वमुच्चैरदः ॥१५०॥

(पृथ्वी)

प्रनष्टदुरितोत्करं प्रहतपुण्यकर्मव्रजं
प्रधूतमदनादिकं प्रबलबोधसौधालयम् ।
प्रणामकृततत्त्ववित् प्रकरणप्रणाशात्मकं
प्रवृद्धगुणमंदिरं प्रहृतमोहरात्रिं नुमः ॥१५१॥

इति सुकविजनपयोजमित्रपंचेन्द्रियप्रसरवर्जितगात्रमात्रपरिग्रहश्रीपद्मप्रभमलधारिदेवविरचितायां नियमसारव्याख्यायां तात्पर्यवृत्तौ निश्चयप्रत्याख्यानाधिकारः षष्ठः श्रुतस्कन्धः ॥

[श्लोकार्थः—] जो जिनप्रभुके मुखारविंदसे विदित (प्रसिद्ध) है, जो स्वरूपमें स्थित है, जो मुनीश्वरोंके मनोगृहके भीतर सुन्दर रत्नदीपकी भाँति प्रकाशित है, जो इस लोकमें दर्शनमोहादि पर विजय प्राप्त किये हुए योगियोंसे नमस्कार करने योग्य है तथा जो सुखका मन्दिर है, उस सहज तत्त्वको मैं सदा अत्यन्त नमस्कार करता हूँ।१५०।

[श्लोकार्थः—] जिसने पापकी राशिको नष्ट किया है, जिसने पुण्यकर्मके समूहको हना है, जिसने मदन (–काम) आदिको खिरा दिया है, जो प्रबल ज्ञानका महल है, जिससे तत्त्ववेत्ता प्रणाम करते हैं, जो प्रकरणके नाशस्वरूप है (अर्थात् जिसे कोई कार्य करना शेष नहीं है—जो कृतकृत्य है), जो पुष्ट गुणोंका धाम है तथा जिसने मोहरात्रिका नाश किया है, उसे (–उस सहज तत्त्वको) हम नमस्कार करते हैं।१५१।

इसप्रकार, सुकविजनरूपी कमलोंके लिये जो सूर्य समान हैं और पाँच इन्द्रियोंके विस्तार रहित देहमात्र जिन्हें परिग्रह था ऐसे श्री पद्मप्रभमलधारिदेव द्वारा रचित नियमसारकी तात्पर्यवृत्ति नामक टीकामें (अर्थात् श्रीमद्भगवत्कुन्दकुन्दाचार्यदेवप्रणीत श्री नियमसार परमागमकी निर्ग्रन्थ मुनिराज श्री पद्मप्रभमलधारिदेवविरचित तात्पर्यवृत्ति नामकी टीकामें) निश्चय-प्रत्याख्यान अधिकार नामका छठवाँ श्रुतस्कन्ध समाप्त हुआ।

— ७ —

परमालोचनाधिकारः

आलोचनाधिकार उच्यते—

णोकम्मकम्मरहियं विहावगुणपज्जएहिं वदिरित्तं ।
अप्पाणं जो झायदि समणस्सालोयणं होदि ॥१०७॥

नोकर्मकर्मरहितं विभावगुणपर्ययैर्व्यतिरिक्तम् ।
आत्मानं यो ध्यायति श्रमणस्यालोचना भवति ॥१०७॥

निश्चयालोचनास्वरूपाख्यानमेतत् ।

औदारिकवैक्रियिकाहारकतैजसकार्मणानि शरीराणि हि नोकर्माणि, ज्ञानदर्शनावर-

---

अब आलोचना अधिकार कहा जाता है ।

गाथा १०७

अन्वयार्थः—[नोकर्मकर्मरहितं] नोकर्म और कर्मसे रहित तथा [विभावगुणपर्ययैः व्यतिरिक्तम्] विभावगुणपर्यायोंसे *व्यतिरिक्त [आत्मानं] आत्माको [यः] जो [ध्यायति] ध्याता है, [श्रमणस्य] उस श्रमणको [आलोचना] आलोचना [भवति] है ।

टीकाः—यह, निश्चय-आलोचनाके स्वरूपका कथन है ।

औदारिक, वैक्रियिक, आहारक, तैजस और कार्मण शरीर वे नोकर्म हैं;

---

* व्यतिरिक्त=रहित; भिन्न ।

नोकर्म, कर्म, विभाव, गुण पर्याय विरहित आतमा ।
ध्याता उसे, उस श्रमणको होती परम—आलोचना ॥१०७॥

णांतरायमोहनीयवेदनीयायुर्नामगोत्राभिधानानि हि द्रव्यकर्माणि । कर्मोपाधिनिरपेक्षसत्ताग्राहक-शुद्धनिश्चयद्रव्यार्थिकनयापेक्षया हि एभिर्नोकर्मभिर्द्रव्यकर्मभिश्च निर्मुक्तम् । मतिज्ञानादयो विभावगुणा नरनारकादिव्यंजनपर्यायाश्चैव विभावपर्यायाः । सहभुवो गुणाः क्रमभाविनः पर्यायाश्च । एभिः समस्तैः व्यतिरिक्तं, स्वभावगुणपर्यायैः संयुक्तं, त्रिकालनिरावरणनिरंजन-परमात्मानं त्रिगुप्तिगुप्तपरमसमाधिना यः परमश्रमणो नित्यमनुष्ठानसमये वचनरचनाप्रपंचपराङ्-मुखः सन् ध्यायति, तस्य भावश्रमणस्य सततं निश्चयालोचना भवतीति ।

तथा चोक्तं श्रीमदमृतचन्द्रसूरिभिः—

(आर्या)

"मोहविलासविजृंभितमिदमुदयत्कर्म सकलमालोच्य ।
आत्मनि चैतन्यात्मनि निष्कर्मणि नित्यमात्मना वर्ते ॥"

ज्ञानावरण, दर्शनावरण, अन्तराय, मोहनीय, वेदनीय, आयु, नाम और गोत्र नामके द्रव्यकर्म है । *कर्मोपाधिनिरपेक्ष सत्ताग्राहक शुद्धनिश्चयद्रव्यार्थिकनयकी अपेक्षासे परमात्मा इन नोकर्मों और द्रव्यकर्मोंसे रहित है । मतिज्ञानादिक वे विभावगुण हैं और नर-नारकादि व्यंजनपर्यायें ही विभावपर्यायें हैं; गुण सहभावी होते हैं और पर्यायें क्रमभावी होती हैं । परमात्मा इन सबसे (–विभावगुणों तथा विभावपर्यायोंसे) व्यतिरिक्त है । उपरोक्त नोकर्मों और द्रव्यकर्मोंसे रहित तथा उपरोक्त समस्त विभावगुणपर्यायोंसे व्यतिरिक्त तथा स्वभावगुणपर्यायोंसे संयुक्त, त्रिकाल–निरावरण निरंजन परमात्माको त्रिगुप्ति गुप्त (–तीन गुप्ति द्वारा गुप्त ऐसी) परमसमाधि द्वारा जो परम श्रमण सदा अनुष्ठानसमयमें वचनरचनाके प्रपंचसे (–विस्तारसे) पराङ्मुख वर्तता हुआ ध्याता है, उस भावश्रमणको सतत निश्चय आलोचना है ।

इसीप्रकार (आचार्यदेव) श्रीमद् अमृतचन्द्रसूरिने (श्रीसमयसारकी आत्मख्याति नामक टीकामें २२७ वें श्लोक द्वारा) कहा है कि:—

"[श्लोकार्थ:—] मोहके विलाससे फैला हुआ जो यह उदयमान (–उदयमें आनेवाला) कर्म उस समस्तको आलोचकर (–उन सर्व कर्मोंकी आलोचना करके), मैं निष्कर्म (अर्थात् सर्व कर्मोंसे रहित) चैतन्यस्वरूप आत्मामें आत्मासे ही (–स्वयंसे ही) निरन्तर वर्तता हूँ ।"

---

*शुद्धनिश्चयद्रव्यार्थिकनय कर्मोपाधिकी अपेक्षा रहित सत्ताको ही ग्रहण करता है ।

उक्तं चोपासकाध्ययने—

(आर्या)

"आलोच्य सर्वमेनः कृतकारितमनुमतं च निर्व्याजम् ।
आरोपयेन्महाव्रतमामरणस्थायि निःशेषम् ॥"

तथा हि—

आलोच्यालोच्य नित्यं सुकृतमसुकृतं घोरसंसारमूलं
शुद्धात्मानं निरुपधिगुणं चात्मनैवावलम्बे ।
पश्चादुच्चैः प्रकृतिमखिलां द्रव्यकर्मस्वरूपां
नीत्वा नाशं सहजविलसद्बोधलक्ष्मीं व्रजामि ॥१५२॥

आलोयणमालुंछण वियडीकरणं च भावसुद्धी य ।
चउविहमिह परिकहियं आलोयणलक्खणं समए ॥१०८॥

और उपासकाध्ययनमें (श्री समन्तभद्रस्वामीकृत रत्नकरण्डश्रावकाचारमें १२५ वें श्लोक द्वारा) कहा है कि :—

"[श्लोकार्थः—] किये हुए, कराये हुए और अनुमोदन किये हुए सर्व पापोंकी निष्कपटरूपसे आलोचना करके, मरणपर्यंत रहनेवाला, निःशेष (—परिपूर्ण) महाव्रत धारण करना ।"

और (इस १०७ वीं गाथाकी टीका पूर्ण करते हुए टीकाकार मुनिराज श्री पद्मप्रभमलधारिदेव श्लोक कहते हैं):—

[श्लोकार्थः—] घोर संसारके मूल ऐसे सुकृत और दुष्कृतको सदा आलोच आलोचकर मैं निरुपाधिक (—स्वाभाविक) गुणवाले शुद्ध आत्माको आत्मासे ही अवलम्बता हूँ । फिर द्रव्यकर्मस्वरूप समस्त प्रकृतिको अत्यन्त नष्ट करके सहज—विलसती ज्ञानलक्ष्मीको मैं प्राप्त करूँगा ।१५२।

है शास्त्रमें वर्णित चतुर्विधरूपमें आलोचना ।
आलोचना, अविकृतिकरण, अरु शुद्धता, आलुंछना ॥१०८॥

आलोचनमालुंछनमविकृतिकरणं च भावशुद्धिश्च ।
चतुर्विधमिह परिकथितं आलोचनलक्षणं समये ॥१०८॥

आलोचनालक्षणभेदकथनमेतत् ।

भगवदर्हन्मुखारविन्दविनिर्गतसकलजनताश्रुतिसुभगसुन्दरानन्दनिष्यन्दनक्षरात्मकदिव्यध्वनिपरिज्ञानकुशलचतुर्थज्ञानधरगौतममहर्षिमुखकमलविनिर्गतचतुरसन्दर्भगर्भीकृतराद्धान्तादिसमस्तशास्त्रार्थसार्थसारसर्वस्वीभूतशुद्धनिश्चयपरमालोचनायाश्चत्वारो विकल्पा भवन्ति । ते वक्ष्यमाणसूत्रचतुष्टये निगद्यन्त इति ।

गाथा १०८

अन्वयार्थः—[इह] अब, [आलोचनलक्षणं] आलोचनाका स्वरूप [आलोचनम्] [1]आलोचन, [आलुंछनम्] [2]आलुंछन, [अविकृतिकरणम्] [3]अविकृतिकरण [च] और [भावशुद्धिः च] [4]भावशुद्धि [चतुर्विधं] ऐसे चार प्रकारका [समये] शास्त्रमें [परिकथितम्] कहा है ।

टीकाः—यह, आलोचनाके स्वरूपके भेदोंका कथन है ।

भगवान अर्हन्तके मुखारविन्दसे निकली हुई, (श्रवणके लिये आई हुई) सकल जनताको श्रवणका सौभाग्य प्राप्त हो ऐसी, सुन्दर–आनन्दस्यन्दी (सुन्दर–आनन्द–झरती), अनक्षरात्मक जो दिव्यध्वनि, उसके परिज्ञानमें कुशल चतुर्थज्ञानधर (मनःपर्ययज्ञानधारी) गौतममहर्षिके मुखकमलसे निकली हुई जो चतुर वचनरचना, उसके गर्भमें विद्यमान राद्धांतादि (–सिद्धांतादि) समस्त शास्त्रोंके अर्थसमूहके सार–सर्वस्वरूप शुद्ध–निश्चय–परम–आलोचनाके चार भेद हैं । वे भेद अब आगे कहे जाने वाले चार सूत्रोंमें कहे जायेंगे ।

१–स्वयं अपने दोषोंको सूक्ष्मतासे देख लेना अथवा गुरुके समक्ष अपने दोषोंका निवेदन करना सो व्यवहार–आलोचन है । निश्चय–आलोचनका स्वरूप १०९ वीं गाथामें कहा जायेगा ।

२–आलुंछन=(दोषोंका) आलुंचन अर्थात् उखाड़ देना वह ।

३–अविकृतिकरण=विकाररहितता करना वह ।

४–भावशुद्धि=भावोंको शुद्ध करना वह ।

(इन्द्रवज्रा)

आलोचनाभेदममुं विदित्वा
मुक्त्यंगनासंगमहेतुभूतम् ।
स्वात्मस्थितिं याति हि भव्यजीवः
तस्मै नमः स्वात्मनि निष्ठिताय ॥१५३॥

जो पस्सदि अप्पाणं समभावे संठवित्तु परिणामं ।
आलोयणमिदि जाणह परमजिणंदस्स उवएसं ॥१०९॥

यः पश्यत्यात्मानं समभावे संस्थाप्य परिणामम् ।
आलोचनमिति जानीहि परमजिनेन्द्रस्योपदेशम् ॥१०९॥

इहालोचनास्वीकारमात्रेण परमसमताभावनोक्ता ।

यः सहजवैराग्यसुधासिन्धुनाथडिंडीरपिंडपरिपांडुरमंडनमंडलीप्रवृद्धिहेतुभूतराकानिशी-

---

[अब इस १०८ वीं गाथाकी टीका पूर्ण करते हुए टीकाकार मुनिराज श्लोक कहते हैं :]

[श्लोकार्थः—] मुक्तिरूपी रमणीके संगमके हेतुभूत ऐसे इन आलोचनाके भेदोंको जानकर जो भव्य जीव वास्तवमें निज आत्मामें स्थिति प्राप्त करता है, उस स्वात्मनिष्ठितको (–उस निजात्मामें लीन भव्य जीवको) नमस्कार हो ।१५३।

गाथा १०९

अन्वयार्थः—[यः] जो (जीव) [परिणामम्] परिणामको [समभावे] समभावमें [संस्थाप्य] स्थापकर [आत्मानं] (निज) आत्माको [पश्यति] देखता है, [आलोचनम्] वह आलोचन है [इति] ऐसा [परमजिनेन्द्रस्य] परम जिनेन्द्रका [उपदेशम्] उपदेश [जानीहि] जान ।

टीकाः—यहाँ आलोचनाके स्वीकारमात्रसे परमसमताभावना कही गई है ।

सहजवैराग्यरूपी अमृतसागरके फेन–समूहके श्वेत शोभामण्डलकी वृद्धिके

समभावमें परिणाम स्थापे और देखे आतमा ।
जिनवर वृषभ उपदेशमें वह जीव है आलोचना ॥१०९॥

थिनीनाथः सदान्तर्मुखाकारमत्यपूर्वं निरंजननिजबोधनिलयं कारणपरमात्मानं निरवशेषेणान्तर्मुखस्वस्वभावनिरतसहजावलोकनेन निरन्तरं पश्यति; किं कृत्वा ? पूर्वं निजपरिणामं समतावलंबनं कृत्वा परमसंयमीभूत्वा तिष्ठति; तदेवालोचनास्वरूपमिति हे शिष्य त्वं जानीहि परमजिननाथस्योपदेशात् इत्यालोचनाविकल्पेषु प्रथमविकल्पोऽयमिति ।

(स्रग्धरा)

आत्मा ह्यात्मानमात्मन्यविचलनिलयं चात्मना पश्यतीत्थं
यो मुक्तिश्रीविलासानतनुसुखमयान् स्तोककालेन याति ।
सोऽयं वंद्यः सुरेशैर्यमधरततिभिः खेचरैर्भूचरैर्वा
तं वंदे सर्ववंद्यं सकलगुणनिधिं तद्गुणापेक्षयाहम् ॥१५४॥

हेतुभूत पूर्ण चन्द्र समान (अर्थात् सहज वैराग्यमें ज्वार लाकर उसकी उज्ज्वलता बढ़ानेवाला) जो जीव सदा अन्तर्मुखाकार (–सदा अन्तर्मुख जिसका स्वरूप है ऐसे), अति अपूर्व, निरंजन निजबोधके स्थानभूत कारणपरमात्माको निरवशेषरूपसे अन्तर्मुख निज स्वभावनिरत सहज–अवलोकन द्वारा निरन्तर देखता है (अर्थात् जो जीव कारण-परमात्माको सर्वथा अन्तर्मुख ऐसा जो निज स्वभावमें लीन सहज–अवलोकन उसके द्वारा निरन्तर देखता है—अनुभवता है); क्या करके देखता है ? पहले निज परिणामको समतावलम्बी करके, परमसंयमीभूतरूपसे रहकर देखता है; वही आलोचनाका स्वरूप है ऐसा, हे शिष्य ! तू परम जिननाथके उपदेश द्वारा जान ।—ऐसा यह, आलोचनाके भेदोंमें प्रथम भेद हुआ ।

[अब इस १०९ वीं गाथाकी टीका पूर्ण करते हुए टीकाकार मुनिराज छह श्लोक कहते हैं :]

[श्लोकार्थ:—]इसप्रकार जो आत्मा आत्माको आत्मा द्वारा आत्मामें अविचल निवासवाला देखता है, वह अनंग–सुखमय (अतीन्द्रिय आनन्दमय) ऐसे मुक्तिलक्ष्मीके विलासोंको अल्प कालमें प्राप्त करता है । वह आत्मा सुरेशोंसे, संयमधरोंकी पंक्तियोंसे, खेचरोंसे (–विद्याधरोंसे) तथा भूचरोंसे (–भूमिगोचरियोंसे) वंद्य है । मैं उस सर्ववंद्य सकलगुणनिधिको (–सर्वसे वंद्य ऐसे समस्त गुणोंके भण्डारको) उसके गुणोंकी अपेक्षासे (–अभिलाषासे) वंदन करता हूँ ।१५४।

(मंदाक्रांता)

आत्मा स्पष्टः परमयमिनां चित्तपंकेजमध्ये
ज्ञानज्योतिःप्रहतदुरितध्वान्तपुंजः पुराणः ।
सोऽतिक्रान्तो भवति भविनां वाङ्मनोमार्गमस्मि-
न्नारातीये परमपुरुषे को विधिः को निषेधः ॥१५५॥

एवमनेन पद्येन व्यवहारालोचनाप्रपंचमुपहसति किल परमजिनयोगीश्वरः ।

(पृथ्वी)

जयत्यनघचिन्मयं सहजतत्त्वमुच्चैरिदं
विमुक्तसकलेन्द्रियप्रकरजातकोलाहलम् ।
नयानयनिकायदूरमपि योगिनां गोचरं
सदा शिवमयं परं परमदूरमज्ञानिनाम् ॥१५६॥

(मंदाक्रांता)

शुद्धात्मानं निजसुखसुधावार्धिमज्जन्तमेनं
बुद्ध्वा भव्यः परमगुरुतः शाश्वतं शं प्रयाति ।
तस्मादुच्चैरहमपि सदा भावयाम्यत्यपूर्वं
भेदाभावे किमपि सहजं सिद्धिभूसौख्यशुद्धम् ॥१५७॥

[श्लोकार्थः—] जिसने ज्ञानज्योति द्वारा पापतिमिरके पुंजका नाश किया है और जो पुराण (—सनातन) है ऐसा आत्मा परसंयमियोंके चित्तकमलमें स्पष्ट है । वह आत्मा संसारी जीवोंके वचन—मनोमार्गसे अतिक्रांत (—वचन तथा मनके मार्गसे अगोचर) है । इस निकट परमपुरुषमें विधि क्या और निषेध क्या ? ।१५५।

इसप्रकार इस पद्य द्वारा परम जिनयोगीश्वरने वास्तवमें व्यवहार-आलोचनाके प्रपंचका [1]उपहास किया है ।

[श्लोकार्थः—] जो सकल इन्द्रियोंके समूहसे उत्पन्न होनेवाले कोलाहलसे विमुक्त है, जो नय और-अनयके समूहसे दूर होने पर भी योगियोंको गोचर है, जो सदा शिवमय है, उत्कृष्ट है और जो अज्ञानियोंको परम दूर है, ऐसा यह [2]अनघ—चैतन्यमय सहजतत्त्व अत्यन्त जयवन्त है ।१५६।

१—उपहास=हँसी; मजाक; तिरस्कार; खिल्ली ।
२—अनघ=निर्दोष; मलरहित; शुद्ध ।

(वसन्ततिलका)

निर्मुक्तसंगनिकरं परमात्मतत्त्वं
निर्मोहरूपमनघं परभावमुक्तम् ।
संभावयाम्यहमिदं प्रणमामि नित्यं
निर्वाणयोषिदतनूद्भवसंमदाय ॥१५८॥

(वसंततिलका)

त्यक्त्वा विभावमखिलं निजभावभिन्नं
चिन्मात्रमेकममलं परिभावयामि ।
संसारसागरसमुत्तरणाय नित्यं
निर्मुक्तिमार्गमपि नौम्यविभेदमुक्तम् ॥१५९॥

कम्ममहीरुहमूलच्छेदसमत्थो सकीयपरिणामो ।
साहीणो समभावो आलुंछणमिदि समुद्दिट्ठं ॥११०॥

[श्लोकार्थः—] निज सुखरूपी सुधाके सागरमें डूबते हुए इस शुद्धात्माको जानकर भव्य जीव परमगुरु द्वारा शाश्वत सुखको प्राप्त करते हैं; इसलिये, भेदके अभावकी दृष्टिसे जो सिद्धिसे उत्पन्न होनेवाले सौख्य द्वारा शुद्ध है ऐसे किसी (अद्भुत) सहजतत्त्वको मैं भी सदा अति–अपूर्व रीतिसे अत्यन्त भाता हूँ ।१५७।

[श्लोकार्थः—] सर्व संगसे निर्मुक्त, निर्मोहरूप , अनघ और परभावसे मुक्त ऐसे इस परमात्मतत्त्वको मैं निर्वाणरूपी स्त्रीसे उत्पन्न होनेवाले अनंग सुखके लिये नित्य संभाता हूँ (–सम्यक्‌रूपसे भाता हूँ) और नमन करता हूँ ।१५८।

[श्लोकार्थः—] निज भावसे भिन्न ऐसे सकल विभावको छोड़कर एक निर्मल चिन्मात्रको मैं भाता हूँ । संसारसागरको तर जानेके लिये, अभेद कहे हुए (–जिसे जिनेन्द्रोंने भेद रहित कहा है ऐसे) मुक्तिके मार्गको भी मैं नित्य नमन करता हूँ ।१५९।

जो कर्म–तरु–जड़ नाशके सामर्थ्यरूप स्वभाव है ।
स्वाधीन निज समभाव आलुंछन वही परिणाम है ॥११०॥

कर्ममहीरुहमूलछेदसमर्थः स्वकीयपरिणामः ।
स्वाधीनः समभावः आलुञ्छनमिति समुद्दिष्टम् ॥११०॥

परमभावस्वरूपाख्यानमेतत् ।

भव्यस्य पारिणामिकभावस्वभावेन परमस्वभावः औदयिकादिचतुर्णां विभावस्वभावानामगोचरः स पंचमभावः । अत एवोदयोदीरणक्षयक्षयोपशमविविधविकारविवर्जितः । अतः कारणादस्यैकस्य परमत्वम् इतरेषां चतुर्णां विभावानामपरमत्वम् । निखिलकर्मविषवृक्षमूलनिर्मूलनसमर्थः त्रिकालनिरावरणनिजकारणपरमात्मस्वरूपश्रद्धानप्रतिपक्षतीव्रमिथ्यात्वकर्मोदयबलेन कुदृष्टेरयं परमभावः सदा निश्चयतो विद्यमानोऽप्यविद्यमान एव। नित्यनिगोदक्षेत्रज्ञानामपि शुद्धनिश्चयनयेन स परमभावः अभव्यत्वपारिणामिक इत्यनेनाभिधानेन न संभवति । यथा मेरोरधो-

---

गाथा ११०

अन्वयार्थः—[कर्ममहीरुहमूलछेदसमर्थः] कर्मरूपी वृक्षका मूल छेदनेमें समर्थ ऐसा जो [समभावः] समभावरूप [स्वाधीनः] स्वाधीन [स्वकीयपरिणामः] निज-परिणाम [आलुंछनम् इति समुद्दिष्टम्] उसे आलुञ्छन कहा है ।

टीकाः—यह, परमभावके स्वरूपका कथन है ।

भव्यको पारिणामिकभावरूप स्वभाव होनेके कारण परम स्वभाव है। वह पंचम भाव औदयिकादि चार विभावस्वभावोंको अगोचर है। इसीलिये वह पंचम भाव उदय, उदीरणा, क्षय, क्षयोपशम ऐसे विविध विकारोंसे रहित है । इस कारणसे इस एकको परमपना है, शेष चार विभावोंको अपरमपना है । समस्त कर्मरूपी विषवृक्षके मूलको उखाड़ देनेमें समर्थ ऐसा यह परमभाव, त्रिकाल–निरावरण निज कारणपरमात्माके स्वरूपकी श्रद्धासे प्रतिपक्ष तीव्र मिथ्यात्वकर्मके उदयके कारण कुदृष्टिको, सदा निश्चयसे विद्यमान होने पर भी, अविद्यमान ही है (कारण कि मिथ्यादृष्टिको उस परमभावके विद्यमानपनेकी श्रद्धा नहीं है) ।

नित्यनिगोदके जीवोंको भी शुद्धनिश्चयनयसे वह परमभाव "अभव्यत्वपारिणामिक" ऐसे नाम सहित नहीं है (परन्तु शुद्धरूपसे ही है) । जिसप्रकार मेरुके अधोभागमें स्थित सुवर्णराशिको भी सुवर्णपना है, उसीप्रकार अभव्योंको भी परमस्वभावपना है; वह वस्तुनिष्ठ है, व्यवहारयोग्य नहीं है (अर्थात् जिसप्रकार मेरुके नीचे स्थित सुवर्णराशिका सुवर्णपना सुवर्णराशिमें विद्यमान है किन्तु वह उपयोगमें नहीं आता,

मागस्थितसुवर्णराशेरपि सुवर्णत्वं, अभव्यानामपि तथा परमस्वभावत्वं; वस्तुनिष्ठं, न व्यवहार-योग्यम् । सुदृशामत्यासन्नभव्यजीवानां सफलीभूतोऽयं परमभावः सदा निरंजनत्वात्; यतः सकलकर्मविषमविषद्रुमपृथुमूलनिर्मूलनसमर्थत्वात् निश्चयपरमालोचनाविकल्पसंभवालुंछनाभिधानम् अनेन परमपंचमभावेनअत्यासन्नभव्यजीवस्य सिध्यतीति ।

(मंदाक्रांता)

एको भावः स जयति सदा पंचमः शुद्धशुद्धः
कर्मारातिस्फुटितसहजावस्थया संस्थितो यः ।
मूलं मुक्तेर्निखिलयमिनामात्मनिष्ठापराणां
एकाकारः स्वरसविसरापूर्णपुण्यः पुराणः ॥१६०॥

(मंदाक्रांता)

आसंसारादखिलजनतातीव्रमोहोदयात्सा
मत्ता नित्यं स्मरवशगता स्वात्मकार्यप्रमुग्धा ।
ज्ञानज्योतिर्धवलितककुभ्मंडलं शुद्धभावं
मोहाभावात्स्फुटितसहजावस्थमेषा प्रयाति ॥१६१॥

उसीप्रकार अभव्योंका परमस्वभावपना आत्मवस्तुमें विद्यमान है किन्तु वह काममें नहीं आता क्योंकि अभव्य जीव परमस्वभावका आश्रय करनेमें अयोग्य हैं) । सुदृष्टियोंको—अति आसन्नभव्य जीवोंको—यह परमभाव सदा निरंजनपनेके कारण (अर्थात् सदा निरंजनरूपसे प्रतिभासित होनेके कारण) सफल हुआ है; जिससे, इस परम पंचमभाव द्वारा अति-आसन्नभव्य जीवको निश्चय-परम-आलोचनाके भेदरूपसे उत्पन्न होनेवाला "आलुंछन" नाम सिद्ध होता है, कारण कि वह परमभाव समस्त कर्मरूपी विषम-विषवृक्षके विशाल मूलको उखाड़ देनेमें समर्थ है ।

[अब इस ११० वीं गाथाकी टीका पूर्ण करते हुए टीकाकार मुनिराज दो श्लोक कहते हैं :]

[श्लोकार्थः—] जो कर्मकी दूरीके कारण प्रगट सहजावस्थापूर्वक विद्यमान है, जो आत्मनिष्ठापरायण (आत्मस्थित) समस्त मुनियोंको मुक्तिका मूल है, जो एकाकार है (अर्थात् सदा एकरूप है), जो निज रसके विस्तारसे भरपूर होनेके कारण पवित्र है और जो पुराण (सनातन) है, वह शुद्ध-शुद्ध एक पंचम भाव सदा जयवन्त है ।१६०।

[श्लोकार्थः—] अनादि संसारसे समस्त जनताको (-जनसमूहको) तीव्र

कम्मादो अप्पाणं भिण्णं भावेइ विमलगुणणिलयं ।
मज्झत्थभावणाए वियडीकरणं ति विण्णेयं ॥१११॥

कर्मणः आत्मानं भिन्नं भावयति विमलगुणनिलयम् ।
मध्यस्थभावनायामविकृतिकरणमिति विज्ञेयम् ॥१११॥

इह हि शुद्धोपयोगिनो जीवस्य परिणतिविशेषः प्रोक्तः ।

यः पापाटवीपावको द्रव्यभावनोकर्मभ्यः सकाशाद् भिन्नमात्मानं सहजगुण [-निलयं मध्यस्थभावनायां भावयति तस्याविकृतिकरण-] अभिधानपरमालोचनायाः स्वरूपमस्त्येवेति ।

मोहके उदयके कारण ज्ञानज्योति सदा मत्त है, कामके वश है और निज आत्मकार्यमें मूढ़ है । मोहके अभावसे यह ज्ञानज्योति शुद्धभावको प्राप्त करती है—कि जिस शुद्धभावने दिशामण्डलको धवलित (-उज्ज्वल) किया है तथा सहज अवस्था प्रगट की है ।१६१।

गाथा १११

अन्वयार्थः—[मध्यस्थभावनायाम्] जो मध्यस्थभावनामें [कर्मणः भिन्नम्] कर्मसे भिन्न [आत्मानं] आत्माको—[विमलगुणनिलयं] कि जो विमल गुणोंका निवास है उसे—[भावयति] भाता है, [अविकृतिकरणम् इति विज्ञेयम्] उस जीवको अविकृतिकरण जानना ।

टीकाः—यहाँ शुद्धोपयोगी जीवकी परिणतिविशेषका (मुख्य परिणतिका) कथन है ।

पापरूपी अटवीको जलानेके लिये अग्नि समान ऐसा जो जीव द्रव्यकर्म, भावकर्म और नोकर्मसे भिन्न आत्माको—कि जो सहज गुणोंका निधान है उसे—माध्यस्थ भावनामें भाता है, उसे अविकृतिकरण नामक परम-आलोचनाका स्वरूप वर्तता ही है ।

[अब इस १११ वीं गाथाकी टीका पूर्ण करते हुए टीकाकार मुनिराज नौ श्लोक कहते हैं :]

निर्मलगुणाकर कर्म-विरहित अनुभवन जो आतमका ।
माध्यस्थ भावोंमें करे, अविकृतिकरण उसे कहा ॥१११॥

(मंदाक्रांता)

आत्मा भिन्नो भवति सततं द्रव्यनोकर्मराशे-
रन्तःशुद्धः शमदमगुणाम्भोजिनीराजहंसः ।
मोहाभावादपरमखिलं नैव गृह्णाति सोऽयं
नित्यानंदाद्यनुपमगुणश्चिच्चमत्कारमूर्तिः ॥१६२॥

(मंदाक्रांता)

अक्षय्यान्तर्गुणमणिगणः शुद्धभावामृताम्भो-
राशौ नित्यं विशदविशदे क्षालितांहःकलंकः ।
शुद्धात्मा यः प्रहतकरणग्रामकोलाहलात्मा
ज्ञानज्योतिःप्रतिहततमोवृत्तिरुच्चैश्चकास्ति ॥१६३॥

(वसंततिलका)

संसारघोरसहजादिभिरेव रौद्रै-
र्दुःखादिभिः प्रतिदिनं परितप्यमाने ।
लोके शमामृतमयीमिह तां हिमानीं
यायादयं मुनिपतिः समताप्रसादात् ॥१६४॥

[श्लोकार्थः—] आत्मा निरन्तर द्रव्यकर्म और नोकर्मके समूहसे भिन्न है, अन्तरंगमें शुद्ध है और शम–दमगुणरूपी कमलोंको राजहंस है (अर्थात् जिसप्रकार राजहंस कमलोंमें केलि करता है उसीप्रकार आत्मा शान्तभाव और जितेन्द्रियतारूपी गुणोंमें रमता है)। सदा आनन्दादि अनुपम गुणवाला और चैतन्यचमत्कारकी मूर्ति ऐसा वह आत्मा मोहके अभावके कारण समस्त परको (–समस्त परद्रव्यभावोंको) ग्रहण नहीं ही करता ।१६२।

[श्लोकार्थः—] जो अक्षय अन्तरंग गुणमणियोंका समूह है, जिसने सदा विशद–विशद (अत्यन्त निर्मल) शुद्धभावरूपी अमृतके समुद्रमें पापकलंकोंको धो डाला है तथा जिसने इन्द्रियसमूहके कोलाहलको नष्ट कर दिया है, वह शुद्ध आत्मा ज्ञानज्योति द्वारा अंधकारदशाका नाश करके अत्यन्त प्रकाशमान होता है ।१६३।

[श्लोकार्थः—] संसारके घोर, *सहज इत्यादि रौद्र दुःखादिकसे प्रतिदिन

---

* सहज=साथमें उत्पन्न अर्थात् स्वाभाविक। [निरन्तर वर्तता हुआ आकुलतारूपी दुःख तो संसारमें स्वाभाविक ही है, अर्थात् संसार स्वभावसे ही दुःखमय है। तदुपरान्त तीव्र असाता आदिका आश्रय करनेवाले घोर दुःखोंसे भी संसार भरा है।

(वसंततिलका)

मुक्तः कदापि न हि याति विभावकायं
तद्धेतुभूतसुकृतासुकृतप्रणाशात् ।
तस्मादहं सुकृतदुष्कृतकर्मजालं
मुक्त्वा मुमुक्षुपथमेकमिह व्रजामि ॥१६५॥

(अनुष्टुभ्)

प्रपद्येऽहं सदाशुद्धमात्मानं बोधविग्रहम् ।
भवमूर्तिमिमां त्यक्त्वा पुद्गलस्कन्धबन्धुराम् ॥१६६॥

(अनुष्टुभ्)

अनादिममसंसाररोगस्यागदमुत्तमम् ।
शुभाशुभविनिर्मुक्तशुद्धचैतन्यभावना ॥१६७॥

(मालिनी)

अथ विविधविकल्पं पंचसंसारमूलं
शुभमशुभसुकर्म प्रस्फुटं तद्विदित्वा ।
भवमरणविमुक्तं पंचमुक्तिप्रदं यं
तमहमभिनमामि प्रत्यहं भावयामि ॥१६८॥

परितप्त होनेवाले इस लोकमें यह मुनिवर समताके प्रसादसे शमामृतमय जो हिम–राशि (बर्फका ढेर) उसे प्राप्त करते हैं ।१६४।

[श्लोकार्थः—] मुक्त जीव विभावसमूहको कदापि प्राप्त नहीं होता क्योंकि उसने उसके हेतुभूत सुकृत और दुष्कृतका नाश किया है । इसलिये अब मैं सुकृत और दुष्कृतरूपी कर्मजालको छोड़कर एक मुमुक्षुमार्गमें जाता हूँ [अर्थात् मुमुक्षु जिस मार्ग पर चले हैं उसी एक मार्ग पर चलता हूँ] ।१६५।

[श्लोकार्थः—] पुद्गलस्कन्धों द्वारा जो अस्थिर है (अर्थात् पुद्गलस्कन्धोंके आने–जानेसे जो एक–सी नहीं रहती) ऐसी इस भवमूर्तिको (–भवकी मूर्तिरूप कायाको) छोड़कर मैं सदाशुद्ध ऐसा जो ज्ञानशरीरी आत्मा उसका आश्रय करता हूँ ।१६६।

[श्लोकार्थः—] शुभ और अशुभसे रहित शुद्धचैतन्यकी भावना मेरे अनादि संसाररोगकी उत्तम औषधि है ।१६७।

[श्लोकार्थः—] पांच प्रकारके (द्रव्य, क्षेत्र, काल, भव और भावके

(मालिनी)

अथ सुललितवाचां सत्यवाचामपीत्थं
न विषयमिदमात्मज्योतिराद्यन्तशून्यम् ।
तदपि गुरुवचोभिः प्राप्य यः शुद्धदृष्टिः
स भवति परमश्रीकामिनीकामरूपः ॥१६९॥

(मालिनी)

जयति सहजतेजःप्रास्तरागान्धकारो
मनसि मुनिवराणां गोचरः शुद्धशुद्धः ।
विषयसुखरतानां दुर्लभः सर्वदायं
परमसुखसमुद्रः शुद्धबोधोऽस्तनिद्रः ॥१७०॥

मदमाणमायलोहविवज्जियभावो दु भावसुद्धि त्ति ।
परिकहियं भव्वाणं लोयालोयप्पदरिसीहिं ॥११२॥

परावर्तनरूप) संसारका मूल विविध भेदोंवाला शुभाशुभ कर्म है ऐसा स्पष्ट जानकर, जो जन्ममरण रहित है और पाँच प्रकारकी मुक्ति देनेवाला है उसे (–शुद्धात्माको) मैं नमन करता हूँ और प्रतिदिन भाता हूँ ।१६८।

[श्लोकार्थः—] इस प्रकार आदि-अन्त रहित ऐसी यह आत्मज्योति सुललित (सुमधुर) वाणीका अथवा सत्य वाणीका भी विषय नहीं है; तथापि गुरुके वचनों द्वारा उसे प्राप्त करके जो शुद्ध दृष्टिवाला होता है, वह परमश्रीरूपी कामिनीका वल्लभ होता है (अर्थात् मुक्तिसुन्दरीका पति होता है) ।१६९।

[श्लोकार्थः—] जिसने सहज तेजसे रागरूपी अन्धकारका नाश किया है, जो मुनिवरोंके मनमें वास करता है, जो शुद्ध-शुद्ध है, जो विषयसुखमें रत जीवोंको सर्वदा दुर्लभ है, जो परम सुखका समुद्र है, जो शुद्ध ज्ञान है तथा जिसने निद्राका नाश किया है, ऐसा यह (शुद्ध आत्मा) जयवन्त है ।१७०।

अर्हंत लोकालोक द्रष्टाका कथन है भव्यको–
'है भाव–शुद्धि मान, माया, लोभ, मद बिन भाव जो' ॥११२॥

मदमानमायालोभविवर्जितभावस्तु भावशुद्धिरिति ।
परिकथितो भव्यानां लोकालोकप्रदर्शिभिः ॥११२॥

भावशुद्धयभिधानपरमालोचनास्वरूपप्रतिपादनद्वारेण शुद्धनिश्चयालोचनाधिकारोपसंहारोपन्यासोऽयम् ।

तीव्रचारित्रमोहोदयबलेन पुंवेदाभिधाननोकषायविलासो मदः । अत्र मदशब्देन मदनः कामपरिणाम इत्यर्थः । चतुरसंदर्भगर्भीकृतवैदर्भकवित्वेन आदेयनामकर्मोदये सति सकलजनपूज्यतया, मातृपितृसम्बन्धकुलजातिविशुद्धया वा, शतसहस्रकोटिभटाभिधानप्रधानब्रह्मचर्यव्रतोपार्जितनिरुपमबलेन च, दानादिशुभकर्मोपार्जितसंपद्वृद्धिविलासेन, अथवा बुद्धितपोवैकुर्वणौषधरसबलाक्षीणर्द्धिभिः सप्तभिर्वा, कमनीयकामिनीलोचनानन्देन वपुर्लावण्यरसविसरेण वा आत्माहंकारो मानः । गुप्तपापतो माया । युक्तस्थले धनव्ययाभावो लोभः; निश्चयेन

गाथा ११२

अन्वयार्थः—[मदमानमायालोभविवर्जितभावः तु] मद (मदन), मान माया और लोभ रहित भाव वह [भावशुद्धिः] भावशुद्धि है [इति] ऐसा [भव्यानाम्] भव्योंको [लोकालोकप्रदर्शिभिः] लोकालोकके द्रष्टाओंने [परिकथितः] कहा है ।

टीकाः—यह, भावशुद्धिनामक परम-आलोचनाके स्वरूपके प्रतिपादन द्वारा शुद्ध निश्चय-आलोचना अधिकारके उपसंहारका कथन है ।

तीव्र चारित्रमोहके उदयके कारण पुरुषवेद नामक नोकषायका विलास वह मद है । यहाँ 'मद' शब्द का अर्थ 'मदन' अर्थात् कामपरिणाम है । (१) चतुर वचनरचनावाले *वैदर्भकवित्वके कारण, आदेयनामकर्मका उदय होने पर समस्त जनों द्वारा पूजनीयतासे, (२) माता-पिता सम्बन्धी कुल-जातिकी विशुद्धिसे, (३) प्रधान ब्रह्मचर्यव्रत द्वारा उपार्जित लक्षकोटि सुभट समान निरुपम बलसे, (४) दानादि शुभ कर्म द्वारा उपार्जित सम्पत्तिकी वृद्धिके विलाससे, (५) बुद्धि, तप, विक्रिया, औषध, रस, बल और अक्षीण—इन सात ऋद्धियोंसे, अथवा (६) सुन्दर कामिनियोंके लोचनको आनन्द प्राप्त करानेवाले शरीरलावण्यरसके विस्तारसे होनेवाला जो आत्म-अहंकार (आत्माका अहंकारभाव) वह मान है । गुप्त पापसे माया होती है । योग्य स्थान

---

* वैदर्भकवि=एक प्रकारकी साहित्यप्रसिद्ध सुन्दर काव्यरचनामें कुशल कवि ।

निखिलपरिग्रहपरित्यागलक्षणनिरंजननिजपरमात्मतत्त्वपरिग्रहात् अन्यत् परमाणुमात्रद्रव्यस्वीकारो लोभः । एभिश्चतुर्भिर्वा भावैः परिमुक्तः शुद्धभाव एव भावशुद्धिरिति भव्यप्राणिनां लोकालोकप्रदर्शिभिः परमवीतरागसुखामृतपानपरितृप्तैर्भगवद्भिरर्हद्भिरभिहित इति ।

(मालिनी)

अथ जिनपतिमार्गालोचनाभेदजालं
परिहृतपरभावो भव्यलोकः समन्तात् ।
तदखिलमवलोक्य स्वस्वरूपं च बुद्ध्वा
स भवति परमश्रीकामिनीकामरूपः ॥१७१॥

(वसन्ततिलका)

आलोचना सततशुद्धनयात्मिका या
निर्मुक्तिमार्गफलदा यमिनामजस्रम् ।
शुद्धात्मतत्त्वनियताचरणानुरूपा
स्यात्संयतस्य मम सा किल कामधेनुः ।

पर धनव्ययका अभाव वह लोभ है; निश्चयसे समस्त परिग्रहका परित्याग जिसका लक्षण (स्वरूप) है ऐसे निरंजन निज परमात्मतत्त्वके परिग्रहसे अन्य परमाणुमात्र द्रव्यका स्वीकार वह लोभ है ।—इन चारों भावोंसे परिमुक्त (—रहित) शुद्धभाव वही भावशुद्धि है ऐसा भव्य जीवोंको लोकालोकदर्शी, परमवीतराग सुखामृतके पानसे परितृप्त अर्हन्त भगवन्तोंने कहा है ।

[अब इस परम—आलोचना अधिकारकी अन्तिम गाथाकी टीका पूर्ण करते हुए टीकाकार मुनिराज श्री पद्मप्रभमलधारिदेव नौ श्लोक कहते हैं :]

[श्लोकार्थः—] जो भव्य लोक (भव्यजनसमूह) जिनपतिके मार्गमें कहे हुए समस्त आलोचनाके भेदजालको देखकर तथा निज स्वरूपको जानकर सर्व ओरसे परभावको छोड़ता है, वह परमश्रीरूपी कामिनीका वल्लभ होता है (अर्थात् मुक्तिसुन्दरीका पति होता है) ।१७१।

[श्लोकार्थः—] संयमियोंको सदा मोक्षमार्गका फल देनेवाली तथा शुद्ध आत्मतत्त्वमें *नियत आचरणके अनुरूप ऐसी जो निरन्तर शुद्धनयात्मक आलोचना वह मुझे संयमीको वास्तवमें कामधेनुरूप हो ।१७२।

---

* नियत=निश्चित; दृढ़; लीन; परायण। [आचरण शुद्ध आत्मतत्त्वके आश्रित होता है ।]

(शालिनी)

शुद्धं तत्त्वं बुद्धलोकत्रयं यद्
बुद्ध्वा बुद्ध्वा निर्विकल्पं मुमुक्षुः ।
तत्सिद्ध्यर्थं शुद्धशीलं चरित्वा
सिद्धिं यायात् सिद्धिसीमन्तिनीशः ॥१७३॥

(स्रग्धरा)

सानन्दं तत्त्वमज्जज्जिनमुनिहृदयाम्भोजकिंजल्कमध्ये
निर्व्याबाधं विशुद्धं स्मरशरगहनानीकदावाग्निरूपम् ।
शुद्धज्ञानप्रदीपप्रहतयमिमनोगेहघोरान्धकारं
तद्वन्दे साधुवन्द्यं जननजलनिधौ लंघने यानपात्रम् ॥१७४॥

(हरिणी)

अभिनवमिदं पापं यायाः समग्रधियोऽपि ये
विदधति परं ब्रूमः किं ते तपस्विन एव हि ।
हृदि विलसितं शुद्धं ज्ञानं च पिंडमनुत्तमं
पदमिदमहो ज्ञात्वा भूयोऽपि यान्ति सरागताम् ॥१७५॥

[श्लोकार्थः—] मुमुक्षु जीव तीन लोकको जाननेवाले निर्विकल्प शुद्ध तत्त्वको भलीभाँति जानकर उसकी सिद्धिके हेतु शुद्ध शीलका (चारित्रका) आचरण करके, सिद्धिरूपी स्त्रीका स्वामी होता है—सिद्धिको प्राप्त करता है ।१७३।

[श्लोकार्थः—] तत्त्वमें मग्न ऐसे जिनमुनिके हृदयकमलकी केसरमें जो आनन्द सहित विराजमान है, जो बाधा रहित है, जो विशुद्ध है, जो कामदेवके बाणोंकी गहन (–दुर्भेद्य) सेनाको जला देनेके लिये दावानल समान है और जिसने शुद्धज्ञानरूप दीपक द्वारा मुनियोंके मनोगृहके घोर अन्धकारका नाश किया है, उसे—साधुओं द्वारा वंद्य तथा जन्मार्णवको लाँघ जानेमें नौकारूप उस शुद्ध तत्त्वको—मैं वंदन करता हूँ ।१७४।

[श्लोकार्थः—] हम पूछते हैं कि—जो समग्र बुद्धिमान होने पर भी दूसरेको "यह नवीन पाप कर" ऐसा उपदेश देते हैं, वे क्या वास्तवमें तपस्वी हैं ? अहो ! खेद

(हरिणी)

जयति सहजं तत्त्वं तत्त्वेषु नित्यमनाकुलं
सततसुलभं भास्वत्सम्यग्दृशां समतालयम्।
परमकलया सार्धं वृद्धं प्रवृद्धगुणैर्निजैः
स्फुटितसहजावस्थं लीनं महिम्नि निजेऽनिशम् ॥१७६॥

(हरिणी)

सहजपरमं तत्त्वं तत्त्वेषु सप्तसु निर्मलं
सकलविमलज्ञानावासं निरावरणं शिवम्।
विशदविशदं नित्यं बाह्यप्रपंचपराङ्मुखं
किमपि मनसां वाचां दूरं मुनेरपि तन्नुमः ॥१७७॥

(द्रुतविलंबित)

जयति शांतरसामृतवारिधि-
प्रतिदिनोदयचारुहिमद्युतिः
अतुलबोधदिवाकरदीधिति-
प्रहतमोहतमस्समितिर्जिनः ॥१७८॥

है कि वे हृदयमें विलसित शुद्धज्ञानरूप और सर्वोत्तम *पिंडरूप इस पदको जानकर पुनः भी सरागताको प्राप्त होते हैं।१७५।

[श्लोकार्थः—] तत्त्वोंमें वह सहज तत्त्व जयवन्त है—कि जो सदा अनाकुल है, जो निरन्तर सुलभ है, जो प्रकाशमान है, जो सम्यग्दृष्टियोंको समताका घर है, जो परम कला सहित विकसित निज गुणोंसे प्रफुल्लित (खिला हुआ) हैं, जिसकी सहज अवस्था स्फुटित (–प्रकटित) है और जो निरन्तर निज महिमामें लीन है।१७६।

[श्लोकार्थः—] सात तत्त्वोंमें सहज परम तत्त्व निर्मल है, सकल–विमल (सर्वथा विमल) ज्ञानका आवास है, निरावरण है, शिव (कल्याणमय) है, स्पष्ट-स्पष्ट है, नित्य है, बाह्य प्रपंचसे पराङ्मुख है और मुनिको भी मनसे तथा वाणीसे अति दूर है; उसे हम नमन करते हैं।१७७।

[श्लोकार्थः—] जो (जिन) शान्त रसरूपी अमृतके समुद्रको (उछालनेके

---

* पिंड=(१) पदार्थ; (२) बल।

(द्रुतविलंबित)

विजितजन्मजरामृतिसंचयः
प्रहतदारुणरागकदम्बकः ।
अघमहातिमिरव्रजभानुमान्
जयति यः परमात्मपदस्थितः ॥१७९॥

इति सुकविजनपयोजमित्रपंचेन्द्रियप्रसरवर्जितगात्रमात्रपरिग्रहश्रीपद्मप्रभमलधारिदेव-विरचितायां नियमसारव्याख्यायां तात्पर्यवृत्तौ परमालोचनाधिकारः सप्तमः श्रुतस्कन्धः ॥

लिये) प्रतिदिन उदयमान सुन्दर चन्द्र समान है और जिसने अतुल ज्ञानरूपी सूर्यकी किरणोंसे मोहतिमिरके समूहका नाश किया है, वह जिन जयवन्त है ।१७८।

[श्लोकार्थः—] जिसने जन्म–जरा–मृत्युके समूहको जीत लिया है, जिसने दारुण रागके समूहका हनन कर दिया है, जो पापरूपी महा अन्धकारके समूहके लिये सूर्य समान है तथा जो परमात्मपदमें स्थित है, वह जयवन्त है ।१७९।

इसप्रकार, सुकविजनरूपी कमलोंके लिये जो सूर्य समान हैं और पाँच इन्द्रियोंके विस्तार रहित देहमात्र जिन्हें परिग्रह था ऐसे श्री पद्मप्रभमलधारिदेव द्वारा रचित नियमसारकी तात्पर्यवृत्ति नामक टीकामें (अर्थात् श्रीमद्भगवत्कुन्दकुन्दाचार्यदेवप्रणीत श्री नियमसार परमागमकी निर्ग्रन्थ मुनिराज श्री पद्मप्रभमलधारिदेवविरचित तात्पर्यवृत्ति नामकी टीकामें) परमालोचनाधिकार नामका सातवाँ श्रुतस्कन्ध समाप्त हुआ ।



– ८ –

शुद्धनिश्चयप्रायश्चित्ताधिकारः

अथाखिलद्रव्यभावनोकर्मसंन्यासहेतुभूतशुद्धनिश्चयप्रायश्चित्ताधिकारः कथ्यते ।

वदसमिदिसीलसंजमपरिणामो करणणिग्गहो भावो ।
सो हवदि पायछित्तं अणवरयं चेव कायव्वो ॥११३॥

व्रतसमितिशीलसंयमपरिणामः करणनिग्रहो भावः ।
स भवति प्रायश्चित्तम् अनवरतं चैव कर्तव्यः ॥११३॥

निश्चयप्रायश्चित्तस्वरूपाख्यानमेतत् ।

अब समस्त द्रव्यकर्म, भावकर्म तथा नोकर्मके संन्यासके हेतुभूत शुद्धनिश्चय-प्रायश्चित्त अधिकार कहा जाता है ।

गाथा ११३

अन्वयार्थः—[व्रतसमितिशीलसंयमपरिणामः] व्रत, समिति, शील और संयम-रूप परिणाम तथा [करणनिग्रहः भावः] इन्द्रियनिग्रहरूप भाव [सः] वह [प्रायश्चित्तम्] प्रायश्चित्त [भवति] है [च एव] और वह [अनवरतं] निरन्तर [कर्तव्यः] कर्तव्य है ।

टीकाः—यह, निश्चय–प्रायश्चित्तके स्वरूपका कथन है ।

व्रत, समिति, संयम, शील, इन्द्रिय–रोधका जो भाव है ।
वह भाव प्रायश्चित्त है, अरु अनवरत कर्तव्य है ॥११३॥

पंचमहाव्रतपंचसमितिशीलसकलेन्द्रिय वाङ्मनःकायसंयमपरिणामः पंचेन्द्रियनिरोधश्च स खलु परिणतिविशेषः, प्रायः प्राचुर्येण निर्विकारं चित्तं प्रायश्चित्तम्, अनवरतं चान्तर्मुखाकार-परमसमाधियुक्तेन परमजिनयोगीश्वरेण पापाटवीपावकेन पंचेन्द्रियप्रसरवर्जितगात्रमात्रपरिग्रहेण सहजवैराग्यप्रासादशिखरशिखामणिना परमागममकरंदनिष्यन्दिमुखपद्मप्रभेण कर्तव्य इति ।

(मंदाक्रांता)

प्रायश्चित्तं भवति सततं स्वात्मचिंता मुनीनां
मुक्तिं यान्तिस्वसुखरतयस्तेन निर्धूतपापाः ।
अन्या चिंता यदि च यमिनां ते विमूढाः स्मरार्त्ताः
पापाः पापं विदधति मुहुः किं पुनश्चित्रमेतत् ॥१८०॥

कोहादिसगब्भावक्खयपहुदिभावणाए णिग्गहणं ।
पायच्छित्तं भणिदं णियगुणचिंता य णिच्छयदो ॥११४॥

पाँच महाव्रतरूप, पाँच समितिरूप, शीलरूप और सर्व इन्द्रियोंके तथा मनवचन-कायाके संयमरूप परिणाम तथा पाँच इन्द्रियोंका निरोध—यह परिणतिविशेष सो प्रायश्चित्त है। प्रायश्चित्त अर्थात् प्रायः चित्त—प्रचुररूपसे निर्विकार चित्त। अन्तर्मुखाकार परम-समाधिसे युक्त, परम जिनयोगीश्वर, पापरूपी अटवीको (जलानेके लिये) अग्नि समान, पाँच इन्द्रियोंके विस्तार रहित देहमात्र परिग्रहके धारी, सहजवैराग्यरूपी महलके शिखरके शिखामणि समान और परमागमरूपी पुष्परस-झरते हुए मुखवाले पद्मप्रभको यह प्रायश्चित्त निरन्तर कर्तव्य है।

[अब इस ११३ वीं गाथाकी टीका पूर्ण करते हुए टीकाकार मुनिराज श्री पद्मप्रभमलधारिदेव श्लोक कहते हैं :]

[श्लोकार्थः—] मुनियोंको स्वत्माका चिंतन वह निरन्तर प्रायश्चित्त है; निज सुखमें रतिवाले वे उस प्रायश्चित्त द्वारा पापको खिराकर मुक्ति प्राप्त करते हैं। यदि मुनियोंको (स्वात्माके अतिरिक्त) अन्य चिन्ता हो तो वे विमूढ़ कामार्त पापी पुनः पापको उत्पन्न करते हैं।—इसमें क्या आश्चर्य है ? ।१८०।

क्रोधादि आत्म-विभावके क्षय आदिकी जो भावना ।
है नियत प्रायश्चित्त वह जिसमें स्वगुणकी चिंतना ॥११४॥

क्रोधादिस्वकीयभावक्षयप्रभृतिभावनायां निर्ग्रहणम् ।
प्रायश्चित्तं भणितं निजगुणचिंता च निश्चयतः ।।११४।।

इह हि सकलकर्मनिर्मूलनसमर्थनिश्चयप्रायश्चित्तमुक्तम् ।

क्रोधादिनिखिलमोहरागद्वेषविभावस्वभावक्षयकारणनिजकारणपरमात्मस्वभावनायां सत्यां निसर्गवृत्त्या प्रायश्चित्तमभिहितम्, अथवा परमात्मगुणात्मकशुद्धान्तस्तत्त्वस्वरूपसहजज्ञानादिसहज-गुणचिंता प्रायश्चित्तं भवतीति ।

(शालिनी)

प्रायश्चित्तमुक्तमुच्चैर्मुनीनां
कामक्रोधाद्यन्यभावक्षये च ।
किं च स्वस्य ज्ञानसंभावना वा
सन्तो जानन्त्येदात्मप्रवादे ।।१८१।।

गाथा ११४

अन्वयार्थः—[क्रोधादिस्वकीयभावक्षयप्रभृतिभावनायां] क्रोध आदि स्वकीय भावोंके (–अपने विभावभावोंके) क्षयादिककी भावनामें [निर्ग्रहणम्] रहना [च] और [निजगुणचिन्ता] निज गुणोंका चिंतन करना वह [निश्चयतः] निश्चयसे [प्रायश्चित्तं भणितम्] प्रायश्चित्त कहा है ।

टीकाः—यहाँ (इस गाथामें) सकल कर्मोंको मूलसे उखाड़ देनेमें समर्थ ऐसा निश्चय–प्रायश्चित्त कहा गया है ।

क्रोधादिक समस्त मोहरागद्वेषरूप विभावस्वभावोंके क्षयके कारणभूत निज कारणपरमात्माके स्वभावकी भावना होने पर निसर्गवृत्तिके कारण (अर्थात् स्वाभाविक –सहज परिणति होनेके कारण) प्रायश्चित्त कहा गया है; अथवा, परमात्माके गुणात्मक ऐसे जो शुद्ध–अंतःतत्त्वरूप (निज) स्वरूपके सहजज्ञानादिक सहजगुण उनका चिंतन करना वह प्रायश्चित्त है ।

[अब इस ११४वीं गाथाकी टीका पूर्ण करते हुए टीकाकार मुनिराज श्लोक कहते हैं :]

[श्लोकार्थः—] मुनियोंको कामक्रोधादि अन्य भावोंके क्षयकी जो सम्भावना

कोहं खमया माणं समद्दवेणज्जवेण मायं च ।
संतोसेण य लोहं जयदि खु ए चहुविहकसाए ॥११५॥

क्रोधं क्षमया मानं स्वमार्दवेन आर्जवेन मायां च ।
संतोषेण च लोभं जयति खलु चतुर्विधकषायान् ॥११५॥

चतुष्कषायविजयोपायस्वरूपाख्यानमेतत् ।

जघन्यमध्यमोत्तमभेदात्क्षमास्तिस्रो भवन्ति । अकारणादप्रियवादिनो मिथ्यादृष्टेरकारणेन मां त्रासयितुमुद्योगो विद्यते, अयमपगतो मत्पुण्येनेति प्रथमा क्षमा । अकारणेन संत्रासकरस्य ताडनवधादिपरिणामोऽस्ति, अयं चापगतो मत्सुकृतेनेति द्वितीया क्षमा । वधे सत्य-

---

अथवा तो अपने ज्ञानकी जो सम्भावना (-सम्यक् भावना) वह उग्र प्रायश्चित्त कहा है। सन्तोंने [1]आत्मप्रवादमें ऐसा जाना है (अर्थात् जानकर कहा है) ।१८१।

गाथा ११५

अन्वयार्थः—[क्रोधं क्षमया] क्रोधको क्षमासे, [मानं स्वमार्दवेन] मानको निज मार्दवसे, [मायां च आर्जवेन] मायाको आर्जवसे [च] तथा [लोभं संतोषेण] लोभको संतोषसे—[चतुर्विधकषायान्] इसप्रकार चतुर्विध कषायोंको [खलु जयति] (योगी) वास्तवमें जीतते हैं ।

टीकाः—यह, चार कषायों पर विजय प्राप्त करनेके उपायके स्वरूपका कथन है।

जघन्य, मध्यम और उत्तम ऐसे (तीन) भेदोंके कारण क्षमा तीन (प्रकारकी) हैं। (१) 'बिना–कारण अप्रिय बोलनेवाले मिथ्यादृष्टिको बिना–कारण मुझे त्रास देनेका उद्योग वर्तता है, वह मेरे पुण्यसे दूर हुआ;'–ऐसा विचारकर क्षमा करना वह प्रथम क्षमा है। (२) '(मुझे) बिना–कारण त्रास देनेवालेको [2]ताड़नका और [3]वधका परिणाम वर्तता है, वह मेरे सुकृतसे दूर हुआ;'–ऐसा विचारकर क्षमा करना वह द्वितीय क्षमा है। (३) वध होनेसे अमूर्त परमब्रह्मरूप ऐसे मुझे हानि नहीं होती—ऐसा समझकर

१–आत्मप्रवाद पूर्व नामक शास्त्रमें ।

२–ताड़न=मार मारना वह ।

३–वध=मार डालना वह ।

अभिमान मार्दवसे तथा जीते क्षमासे क्रोधको ।
कौटिल्य आर्जवसे तथा संतोष द्वारा लोभको ॥११५॥

मूर्तस्य परमब्रह्मरूपिणो ममापकारहानिरिति परमसमरसीभावस्थितिरुत्तमा क्षमा । आभिः क्षमाभिः क्रोधकषायं जित्वा, मानकषायं मार्दवेन च, मायाकषायं चार्जवेण, परमतत्त्वलाभ-सन्तोषेण लोभकषायं चेति ।

तथा चोक्तं श्री गुणभद्रस्वामिभिः—

(वसंततिलका)

"चित्तस्थमप्यनवबुद्ध्य हरेण जाड्यात्
क्रुद्ध्वा बहिः किमपि दग्धमनंगबुद्ध्या ।
घोरामवाप स हि तेन कृतामवस्थां
क्रोधोदयाद्भवति कस्य न कार्यहानिः ॥"

(वसन्ततिलका)

"चक्रं विहाय निजदक्षिणबाहुसंस्थं
यत्प्राव्रजन्ननु तदैव स तेन मुच्येत् ।
क्लेशं तमाप किल बाहुबली चिराय
मानो मनागपि हतिं महतीं करोति ॥"

परम समरसीभावमें स्थित रहना वह उत्तम क्षमा है । इन (तीन) क्षमाओं द्वारा क्रोधकषायको जीतकर, [1]मार्दव द्वारा मानकषायको, [2]आर्जव द्वारा मायाकषायको तथा परमतत्त्वकी प्राप्तिरूप सन्तोषसे लोभकषायको (योगी) जीतते हैं ।

इसीप्रकार (आचार्यवर) श्री गुणभद्रस्वामीने (आत्मानुशासनमें २१६, २१७, २२१ तथा २२३ वें श्लोक द्वारा) कहा है कि:—

"[श्लोकार्थः—] कामदेव (अपने) चित्तमें रहने पर भी (अपनी) जड़ताके कारण उसे न पहिचानकर, शंकरने क्रोधी होकर बाह्यमें किसीको कामदेव समझकर उसे जला दिया । (चित्तमें रहनेवाला कामदेव तो जीवित होनेके कारण) उसने की हुई घोर अवस्थाको (—कामविह्वल दशाको) शंकर प्राप्त हुए । क्रोधके उदयसे (—क्रोध उत्पन्न होनेसे) किसे कार्यहानि नहीं होती ?"

"[श्लोकार्थः—] (युद्धमें भरतने बाहुबली पर चक्र छोड़ा परन्तु वह चक्र

१–मार्दव=कोमलता; नरमाई; निर्मानता ।

२–आर्जव=ऋजुता; सरलता ।

(अनुष्टुभ्)

"भेयं मायामहागर्तान्मिथ्याघनतमोमयात् ।
यस्मिन् लीना न लक्ष्यन्ते क्रोधादिविषमाहयः ॥"

(हरिणी)

"वनचरभयाद्धावन् दैवाल्लताकुलवालधिः
किल जडतया लोलो वालव्रजेऽविचलं स्थितः ।
बत स चमरस्तेन प्राणैरपि प्रवियोजितः
परिणततृषां प्रायेणैवंविधा हि विपत्तयः ॥"

तथा हि—

बाहुबलिके दाहिने हाथमें आकर स्थिर होगया।) अपने दाहिने हाथमें स्थित (उस) चक्रको छोड़कर जब बाहुबलीने प्रव्रज्या ली तभी (तुरन्त ही) वे उस कारण मुक्ति प्राप्त कर लेते, परन्तु वे (मानके कारण मुक्ति प्राप्त न करके) वास्तवमें दीर्घ काल तक प्रसिद्ध (मानकृत) क्लेशको प्राप्त हुए। थोड़ा भी मान महा हानि करता है !"

"[श्लोकार्थ:—] जिसमें (—जिस गड्ढेमें) छिपे हुऐ क्रोधादिक भयंकर सर्प देखे नहीं जासकते ऐसा जो मिथ्यात्वरूपी घोर अन्धकारवाला मायारूपी महान गड्ढा उससे डरते रहना योग्य है।"

"[श्लोकार्थ:—] *वनचरके भयसे भागती हुई सुरा गायकी पूँछ दैवयोगसे बेलमें उलझ जाने पर जड़ताके कारण बालोंके गुच्छेके प्रति लोलुपतावाली वह गाय (अपने सुन्दर बालोंको न टूटने देनेके लोभमें) वहाँ अविचलरूपसे खड़ी रह गई, और अरे रे ! उस गायको वनचर द्वारा प्राणसे भी विमुक्त कर दिया गया ! (अर्थात् उस गायने बालोंके लोभमें प्राणभी गँवा दिये !) जिन्हें तृष्णा परिणमित हुई है उन्हें प्रायः ऐसी ही विपत्तियाँ आती हैं।"

और (इस ११५ वीं गाथाकी टीका पूर्ण करते हुए टीकाकर मुनिराज श्लोक कहते हैं) :—

---

* वनचर=वनमें रहनेवाले, भील आदि मनुष्य अथवा शेर आदि जंगली पशु।

(आर्या)

क्षमया क्रोधकषायं मानकषायं च मार्दवेनैव ।
मायामार्जवलाभाल्लोभकषायं च शौचतो जयतु ॥१८२॥

उक्किट्ठो जो बोहो णाणं तस्सेव अप्पणो चित्तं ।
जो धरइ मुणी णिच्चं पायच्छित्तं हवे तस्स ॥११६॥

उत्कृष्टो यो बोधो ज्ञानं तस्यैवात्मनश्चित्तम् ।
यो धरति मुनिर्नित्यं प्रायश्चित्तं भवेत्तस्य ॥११६॥

अत्र शुद्धज्ञानस्वीकारवतः प्रायश्चित्तमित्युक्तम् ।

उत्कृष्टो यो विशिष्टधर्मः स हि परमबोधः इत्यर्थः । बोधो ज्ञानं चित्तमित्यनर्थान्तरम् । अत एव तस्यैव परमधर्मिणो जीवस्य प्रायः प्रकर्षेण चित्तं । यः परमसंयमी नित्यं तादृशं चित्तं धत्ते, तस्य खलु निश्चयप्रायश्चित्तं भवतीति ।

[श्लोकार्थः—] क्रोधकषायको क्षमासे, मानकषायको मार्दवसे ही, मायाको आर्जवकी प्राप्तिसे और लोभकषायको शौचसे (–सन्तोषसे) जीतो ।१८२।

गाथा ११६

अन्वयार्थः—[तस्य एव आत्मनः] उसी (अनन्तधर्मवाले) आत्माका [यः] जो [उत्कृष्टः बोधः] उत्कृष्ट बोध, [ज्ञानम्] ज्ञान अथवा [चित्तम्] चित्त उसे [यः मुनिः] जो मुनि [नित्यं धरति] नित्य धारण करता है, [तस्य] उसे [प्रायश्चित्तम् भवेत्] प्रायश्चित्त है ।

टीकाः—यहाँ, "शुद्ध ज्ञानके स्वीकारवालेको प्रायश्चित्त है" ऐसा कहा है ।

उत्कृष्ट ऐसा जो विशिष्ट धर्म वह वास्तवमें परम बोध है—ऐसा अर्थ है । बोध, ज्ञान और चित्त भिन्न पदार्थ नहीं हैं । ऐसा होनेसे ही उसी परमधर्मी जीवको प्रायः चित्त है अर्थात् प्रकृष्टरूपसे चित्त (–ज्ञान) है । जो परमसंयमी ऐसे चित्तको नित्य धारण करता है, उसे वास्तवमें निश्चय–प्रायश्चित्त है ।

उत्कृष्ट निज अवबोध अथवा ज्ञान अथवा चित्तको ।
धारे मुनि जो पालता वह नित्य प्रायश्चित्तको ॥११६॥

(शालिनी)

यः शुद्धात्मज्ञानसंभावनात्मा
प्रायश्चित्तमत्र चास्त्येव तस्य ।
निर्धूतांहःसंहतिं तं मुनीन्द्रं
वन्दे नित्यं तद्गुणप्राप्तयेऽहम् ॥१८३॥

किं बहुणा भणिएण दु वरतवचरणं महेसिणं सव्वं ।
पायच्छित्तं जाणह अणेयकम्माण खयहेऊ ॥११७॥

किं बहुना भणितेन तु वरतपश्चरणं महर्षीणां सर्वम् ।
प्रायश्चित्तं जानीह्यनेककर्मणां क्षयहेतुः ॥११७॥

इह हि परमतपश्चरणनिरतपरमजिनयोगीश्वराणां निश्चयप्रायश्चित्तम् । एवं

[भावार्थः—] जीव धर्मी है और ज्ञानादिक उसके धर्म हैं। परम चित्त अथवा परम ज्ञानस्वभाव जीवका उत्कृष्ट विशेषधर्म है। इसलिये स्वभाव–अपेक्षासे जीवद्रव्यको प्रायः चित्त है अर्थात् प्रकृष्टरूपसे ज्ञान है। जो परमसंयमी ऐसे चित्तकी (–परम ज्ञानस्वभावकी) श्रद्धा करता है तथा उसमें लीन रहता है, उसे निश्चय–प्रायश्चित्त है।]

[अब ११६ वीं गाथाकी टीका पूर्ण करते हुए टीकाकार मुनिराज श्लोक कहते हैं :]

[श्लोकार्थः—] इस लोकमें जो (मुनीन्द्र) शुद्धात्मज्ञानकी सम्यक् भावना–वन्त है, उसे प्रायश्चित्त है ही। जिसने पापसमूहको खिरा दिया है ऐसे उस मुनीन्द्रको मैं उसके गुणोंकी प्राप्ति हेतु नित्य वंदन करता हूँ।१८३।

गाथा ११७

अन्वयार्थः—[बहुना] बहुत [भणितेन तु] कहनेसे [किम्] क्या ? [अनेककर्मणाम्] अनेक कर्मोंके [क्षयहेतुः] क्षयका हेतु ऐसा जो [महर्षीणाम्] महर्षियोंका [वरतपश्चरणम्] उत्तम तपश्चरण [सर्वम्] वह सब [प्रायश्चित्तं जानीहि] प्रायश्चित्त जान।

टीकाः—यहां ऐसा कहा है कि परम तपश्चरणमें लीन परम जिनयोगीश्वरोंको

बहु कथनसे क्या जो अनेकों कर्म–क्षयका हेतु है।
उत्तम तपश्चर्या ऋषिकी सर्व प्रायश्चित्त है ॥११७॥

समस्ताचरणानां परमाचरणमित्युक्तम् ।

बहुभिरसत्प्रलापैरलमलम् । पुनः सर्वं निश्चयव्यवहारात्मकपरमतपश्चरणात्मकं परमजिनयोगिनामासंसारप्रतिबद्धद्रव्यभावकर्मणां निरवशेषेण विनाशकारणं शुद्धनिश्चयप्रायश्चित्तमिति हे शिष्य त्वं जानीहि ।

(द्रुतविलम्बित)

अनशनादितपश्चरणात्मकं
सहजशुद्धचिदात्मविदामिदम् ।
सहजबोधकलापरिगोचरं
सहजतत्त्वमघक्षयकारणम् ॥१८४॥

(शालिनी)

प्रायश्चित्तं ह्युत्तमानामिदं स्यात्
स्वद्रव्येऽस्मिन् चिन्तनं धर्मशुक्लम् ।
कर्मव्रातध्वान्तसद्बोधतेजो-
लीनं स्वस्मिन्निर्विकारे महिम्नि ॥१८५॥

निश्चयप्रायश्चित्त है; इसप्रकार निश्चयप्रायश्चित्त समस्त आचरणोंमें परम आचरण है ऐसा कहा है ।

बहुत असत् प्रलापोंसे बस होओ, बस होओ । निश्चयव्यवहारस्वरूप परमतपश्चरणात्मक ऐसा जो परम जिनयोगियोंको अनादि संसारसे बँधे हुए द्रव्यभावकर्मोंके निरवशेष विनाशका कारण वह सब शुद्धनिश्चयप्रायश्चित्त है ऐसा, हे शिष्य ! तू जान ।

[अब इस ११७ वीं गाथाकी टीका पूर्ण करते हुए टीकाकार मुनिराज पाँच श्लोक कहते हैं :]

[श्लोकार्थः—] अनशनादितपश्चरणात्मक (अर्थात् स्वरूपप्रतपनरूपसे परिणमित, प्रतापवन्त अर्थात् उग्र स्वरूपपरिणतिसे परिणमित) ऐसा यह सहज-शुद्ध-चैतन्यस्वरूपको जाननेवालोंको [1]सहजज्ञानकलापरिगोचर सहजतत्त्व [2]अघक्षयका कारण है ।१८४।

१-सहजज्ञानकलापरिगोचर=सहज ज्ञानकी कला द्वारा सर्व प्रकारसे ज्ञात होने योग्य ।
२-अघ=अशुद्धि; दोष; पाप । (पाप तथा पुण्य दोनों वास्तवमें अघ है ।)

(मंदाक्रांता)

आत्मज्ञानाद्भवति यमिनामात्मलब्धिः क्रमेण
ज्ञानज्योतिर्निहतकरणग्रामघोरान्धकारा ।
कर्मारण्योद्भवदवशिखाजालकानामजस्रं
प्रध्वंसेऽस्मिन् शमजलमयीमाशु धारां वमन्ती ॥१८६॥

(उपजाति)

अध्यात्मशास्त्रामृतवारिराशे-
र्मयोद्धृता संयमरत्नमाला ।
बभूव या तत्त्वविदां सुकण्ठे
सालंकृतिर्मुक्तिवधूधवानाम् ॥१८७॥

(उपेन्द्रवज्रा)

नमामि नित्यं परमात्मतत्त्वं
मुनीन्द्रचित्ताम्बुजगर्भवासम् ।
विमुक्तिकांतारतसौख्यमूलं
विनष्टसंसारद्रुमूलमेतत् ॥१८८॥

[श्लोकार्थः—] जो (प्रायश्चित्त) इस स्वद्रव्यका *धर्म और शुक्लरूप चिंतन है, जो कर्मसमूहके अन्धकारको नष्ट करनेके लिये सम्यग्ज्ञानरूपी तेज है तथा जो अपनी निर्विकार महिमामें लीन है—ऐसा यह प्रायश्चित्त वास्तवमें उत्तम पुरुषोंको होता है ।१८५।

[श्लोकार्थः—] यमियोंको (–संयमियोंको) आत्मज्ञानसे क्रमशः आत्मलब्धि (आत्माकी प्राप्ति) होती है—कि जिस आत्मलब्धिने ज्ञानज्योति द्वारा इन्द्रियसमूहके घोर अन्धकारका नाश किया है तथा जो आत्मलब्धि कर्मवनसे उत्पन्न (भवरूपी) दावानलकी शिखाजालका (शिखाओंके समूहका) नाश करनेके लिये उस पर सतत शमजलमयी धाराको तेजीसे छोड़ती है—बरसाती है ।१८६।

[श्लोकार्थः—] अध्यात्मशास्त्ररूपी अमृतसमुद्रमेंसे मैंने जो संयमरूपी रत्नमाला बाहर निकाली है वह (रत्नमाला) मुक्तिवधूके वल्लभ ऐसे तत्त्वज्ञानियोंके सुकण्ठका आभूषण बनी है ।१८७।

---

* धर्मध्यान और शुक्लध्यानरूप जो स्वद्रव्यचिंतन वह प्रायश्चित्त है ।

णंताणंतभवेण समज्जियसुहअसुहकम्मसंदोहो ।
तवचरणेण विणस्सदि पायच्छित्तं तवं तम्हा ॥११८॥

अनन्तानन्तभवेन समर्जितशुभाशुभकर्मसंदोहः ।
तपश्चरणेन विनश्यति प्रायश्चित्तं तपस्तस्मात् ॥११८॥

अत्र प्रसिद्धशुद्धकारणपरमात्मतत्त्वे सदान्तर्मुखतया प्रतपनं यत्तत्तपः प्रायश्चित्तं भवतीत्युक्तम् ।

आसंसारत एव समुपार्जितशुभाशुभकर्मसंदोहो द्रव्यभावात्मकःपंचसंसारसंवर्धनसमर्थः परमतपश्चरणेन भावशुद्धिलक्षणेन विलयं याति, ततः स्वात्मानुष्ठाननिष्ठं परमतपश्चरणमेव शुद्ध-

---

[श्लोकार्थः—] मुनीन्द्रोंके चित्तकमलके (हृदयकमलके) भीतर जिसका वास है, जो विमुक्तिरूपी कान्ताके रतिसौख्यका मूल है (अर्थात् जो मुक्तिके अतीन्द्रिय आनन्दका मूल है) और जिसने संसारवृक्षके मूलका विनाश किया है—ऐसे इस परमात्मतत्त्वको मैं नित्य नमन करता हूँ ।१८८।

गाथा ११८

अन्वयार्थः—[अनन्तानन्तभवेन] अनन्तानन्त भवों द्वारा [समर्जितशुभाशुभकर्मसंदोहः] उपार्जित शुभाशुभ कर्मराशि [तपश्चरणेन] तपश्चरणसे [विनश्यति] नष्ट होती है; [तस्मात्] इसलिये [तपः] तप [प्रायश्चित्तम्] प्रायश्चित्त है ।

टीकाः—यहाँ (इस गाथामें), प्रसिद्ध शुद्धकारणपरमात्मतत्त्वमें सदा अन्तर्मुख रहकर जो प्रतपन वह तप प्रायश्चित्त है (अर्थात् शुद्धात्मस्वरूपमें लीन रहकर प्रतपना —प्रतापवन्त वर्तना सो तप है और वह तप प्रायश्चित्त है) ऐसा कहा है ।

अनादि संसारसे ही उपार्जित द्रव्यभावात्मक शुभाशुभ कर्मोंका समूह—कि जो पाँच प्रचारके (–पाँच परावर्तनरूप) संसारका संवर्धन करनेमें समर्थ है वह—भावशुद्धिलक्षण (–भावशुद्धि जिसका लक्षण है ऐसे) परमतपश्चरणसे विलयको प्राप्त होता है;

अर्जित अनन्तानन्त भवके जो शुभाशुभ कर्म हैं ।
तपसे विनश जाते, सुतप अतएव प्रायश्चित्त है ॥११८॥

निश्चयप्रायश्चित्तमित्यभिहितम् ।

(मंदाक्रांता)

प्रायश्चित्तं न पुनरपरं कर्म कर्मक्षयार्थं
प्राहुः सन्तस्तप इति चिदानंदपीयूषपूर्णम् ।
आसंसारादुपचितमहत्कर्मकान्तारवह्नि-
ज्वालाजालं शमसुखमयं प्राभृतं मोक्षलक्ष्म्याः ।।१८९।।

अप्पसरूवालंबणभावेण दु सव्वभावपरिहारं ।
सक्कदि कादुं जीवो तम्हा झाणं हवे सव्वं ।।११९।।

आत्मस्वरूपालम्बनभावेन तु सर्वभावपरिहारम् ।
शक्नोति कर्तुं जीवस्तस्माद् ध्यानं भवेत् सर्वम् ।।११९।।

इसलिये स्वात्मानुष्ठाननिष्ठ (–निज आत्माके आचरणमें लीन) परमतपश्चरण ही शुद्ध-निश्चयप्रायश्चित्त है ऐसा कहा गया है।

[अब इस ११८ वीं गाथाकी टीका पूर्ण करते हुए टीकाकार मुनिराज श्लोक कहते हैं :]

[श्लोकार्थः—] जो (तप) अनादि संसारसे समृद्ध हुई कर्मोंकी महा अटवीको जला देनेके लिये अग्निकी ज्वालाके समूह समान है, शमसुखमय है और मोक्षलक्ष्मीके लिये भेंट है, उस चिदानन्दरूपी अमृतसे भरे हुए तपको सन्त कर्मक्षय करनेवाला प्रायश्चित्त कहते हैं, परन्तु अन्य किसी कार्यको नहीं ।१८९।

गाथा ११९

अन्वयार्थः—[आत्मस्वरूपालम्बनभावेन तु] आत्मस्वरूप जिसका आलम्बन है ऐसे भावसे [जीवः] जीव [सर्वभावपरिहारं] सर्वभावोंका परिहार [कर्तुम् शक्नोति] कर सकता है, [तस्मात्] इसलिये [ध्यानम्] ध्यान वह [सर्वम् भवेत्] सर्वस्व है ।

शुद्धात्म आश्रित भावसे सब भावका परिहार रे ।
यह जीव कर सकता अतः सर्वस्व है वह ध्यान रे ।।११९।।

अत्र सकलभावानामभावं कर्तुं स्वात्माश्रयनिश्चयधर्मध्यानमेव समर्थमित्युक्तम् ।

अखिलपरद्रव्यपरित्यागलक्षणलक्षिताक्षुण्णनित्यनिरावरणसहजपरमपारिणामिकभावभावनया भावान्तराणां चतुर्णामौदयिकौपशमिकक्षायिकक्षायोपशमिकानां परिहारं कर्तुमत्यासन्नभव्यजीवः समर्थो यस्मात्, तत एव पापाटवीपावक इत्युक्तम् । अतः पंचमहाव्रतपंचसमितित्रिगुप्तिप्रत्याख्यानप्रायश्चित्तालोचनादिकं सर्वं ध्यानमेवेति ।

टीकाः—यहाँ (इस गाथामें), निज आत्मा जिसका आश्रय है ऐसा निश्चयधर्मध्यान ही सर्व भावोंका अभाव करनेमें समर्थ है ऐसा कहा है ।

समस्त परद्रव्योंके परित्यागरूप लक्षणसे लक्षित अखण्ड-नित्यनिरावरण—सहजपरमपारिणामिकभावकी भावनासे औदयिक, औपशमिक, क्षायिक तथा क्षायोपशमिक इन चार भावाँतरोंका *परिहार करनेमें अति—आसन्नभव्य जीव समर्थ है, इसीलिये उस जीवको पापाटवीपावक (—पापरूपी अटवीको जलानेवाली अग्नि) कहा है; ऐसा होनेसे पाँच महाव्रत, पाँच समिति, तीन गुप्ति, प्रत्याख्यान, प्रायश्चित्त, आलोचना आदि सब ध्यान ही है (अर्थात् परमपारिणामिक भावकी भावनारूप जो ध्यान वही महाव्रत प्रायश्चित्तादि सब कुछ है) ।

---

* यहाँ चार भावोंके परिहारमें क्षायिकभावरूप शुद्ध पर्यायका भी परिहार (त्याग) करना कहा है उसका कारण इसप्रकार है: शुद्धात्मद्रव्यका ही—सामान्यका ही—आलम्बन लेनेसे क्षायिकभावरूप शुद्ध पर्याय प्रगट होती है । क्षायिकभावका—शुद्धपर्यायका—विशेषका—आलम्बन करनेसे क्षायिकभावरूप शुद्ध पर्याय कभी प्रगट नहीं होती । इसलिये क्षायिकभावका भी आलम्बन त्याज्य है । यह जो क्षायिकभावके आलम्बनका त्याग उसे यहाँ क्षायिकभावका त्याग कहा गया है ।

यहाँ ऐसा उपदेश दिया है कि—परद्रव्योंका और परभावोंका आलम्बन तो दूर रहो, मोक्षार्थीको अपने औदयिकभावोंका (समस्त शुभाशुभ भावादिकका), औपशमिकभावोंका (जिसमें कीचड़ नीचे बैठ गया हो ऐसे जलके समान औपशमिक सम्यक्त्वादिकका), क्षायोपशमिकभावोंका (अपूर्ण ज्ञान-दर्शन—चारित्रादि पर्यायोंका) तथा क्षायिकभावोंका (-क्षायिक सम्यक्त्वादि सर्वथा शुद्ध पर्यायोंका) भी आलम्बन छोड़ना चाहिये; मात्र परमपारिणामिकभावका—शुद्धात्मद्रव्यसामान्यका—आलम्बन लेना चाहिये । उसका आलम्बन लेनेवाला भाव ही महाव्रत, समिति, गुप्ति, प्रतिक्रमण, आलोचना, प्रत्याख्यान, प्रायश्चित्त आदि सब कुछ है । (आत्मस्वरूपका आलम्बन, आत्मस्वरूपका आश्रय, आत्मस्वरूपके प्रति सम्मुखता, आत्मस्वरूपके प्रति झुकाव, आत्मस्वरूपका ध्यान, परमपारिणामिकभावकी भावना, "मैं ध्रुव शुद्ध आत्मद्रव्यसामान्य हूँ" ऐसी परिणति—इन सबका एक अर्थ है ।)

(मंदाक्रांता)

यः शुद्धात्मन्यविचलमनाः शुद्धमात्मानमेकं
नित्यज्योतिःप्रतिहततमःपुंजमाद्यन्तशून्यम् ।
ध्यात्वाजस्रं परमकलया सार्धमानन्दमूर्तिं
जीवन्मुक्तो भवति तरसा सोऽयमाचारराशिः ॥१९०॥

सुहअसुहवयणरयणं रायादीभाववारणं किच्चा ।
अप्पाणं जो झायदि तस्स दु णियमं हवे णियमा ॥१२०॥

शुभाशुभवचनरचनानां रागादिभाववारणं कृत्वा ।
आत्मानं यो ध्यायति तस्य तु नियमो भवेन्नियमात् ॥१२०॥

[अब इस ११९वीं गाथाकी टीका पूर्ण करते हुए टीकाकार मुनिराज श्लोक कहते हैं :]

[श्लोकार्थः—] जिसने नित्य ज्योति द्वारा तिमिरपुंजका नाश किया है, जो आदि–अन्त रहित है, जो परम कला सहित है तथा जो आनन्दमूर्ति है—ऐसे एक शुद्ध आत्माको जो जीव शुद्ध आत्मामें अविचल [1]मनवाला होकर निरन्तर ध्याता है, ऐसा यह [2]आचारराशि जीव शीघ्र जीवन्मुक्त होता है ।१९०।

गाथा १२०

अन्वयार्थः—[शुभाशुभवचनरचनानाम्] शुभाशुभ वचनरचनाका और [रागादिभाववारणम्] रागादिभावोंका निवारण [कृत्वा] करके [यः] जो [आत्मानम्] आत्माको [ध्यायति] ध्याता है, [तस्य तु] उसे [नियमात्] नियमसे (–निश्चितरूपसे) [नियमः भवेत्] नियम है ।

१–मन=भाव ।
२–आचारराशि=चारित्रपुंज; चारित्रसमूहरूप ।

शुभ अशुभ–रचना वचनकी, परित्याग कर रागादिका ।
उसको नियमसे है नियम जो ध्यान करता आत्मका ॥१२०॥

शुद्धनिश्चयनियमस्वरूपाख्यानमेतत् ।

यः परमतत्त्वज्ञानी महातपोधनो दैनं संचितसूक्ष्मकर्मनिर्मूलनसमर्थनिश्चयप्रायश्चित्तपरायणो नियमितमनोवाक्कायत्वाद्भववल्लीमूलकंदात्मकशुभाशुभस्वरूपप्रशस्ताप्रशस्तसमस्तवचनरचनानां निवारणं करोति, न केवलमासां तिरस्कारं करोति किन्तु निखिलमोहरागद्वेषादिपरभावानां निवारणं च करोति, पुनरनवरतमखंडाद्वैतसुन्दरानन्दनिष्यन्द्यनुपमनिरंजननिजकारणपरमात्मतत्त्वं नित्यं शुद्धोपयोगबलेन संभावयति, तस्य नियमेन शुद्धनिश्चयनियमो भवतीत्यभिप्रायो भगवतां सूत्रकृतामिति ।

(हरिणी)

वचनरचनां त्यक्त्वा भव्यः शुभाशुभलक्षणां
सहजपरमात्मानं नित्यं सुभावयति स्फुटम् ।
परमयमिनस्तस्य ज्ञानात्मनो नियमादयं
भवति नियमः शुद्धो मुक्त्यंगनासुखकारणम् ॥१९१॥

टीकाः—यह, शुद्धनिश्चयनियमके स्वरूपका कथन है ।

जो परमतत्त्वज्ञानी महातपोधन सदा संचित सूक्ष्मकर्मोंको मूलसे उखाड़ देनेमें समर्थ निश्चयप्रायश्चित्तमें परायण रहता हुआ मन–वचन–कायाको नियमित (संयमित) किये होनेसे भवरूपी बेलके मूल–कंदात्मक शुभाशुभस्वरूप प्रशस्त–अप्रशस्त समस्त वचनरचनाका निवारण करता है, केवल उस वचनरचनाका ही तिरस्कार नहीं करता किन्तु समस्त मोहरागद्वेषादि परभावोंका निवारण करता है, और अनवरतरूपसे (–निरन्तर) अखण्ड, अद्वैत, सुन्दर–आनन्दस्यन्दी (सुन्दर आनन्द–झरते), अनुपम, निरंजन निजकारणपरमात्मतत्त्वकी सदा शुद्धोपयोगके बलसे सम्भावना (सम्यक् भावना) करता है, उसे (उस महातपोधनको) नियमसे शुद्धनिश्चयनियम है ऐसा भगवान सूत्रकारका अभिप्राय है ।

[अब इस १२० वीं गाथाकी टीका पूर्ण करते हुए टीकाकार मुनिराज चार श्लोक कहते हैं :]

[श्लोकार्थः—] जो भव्य शुभाशुभस्वरूप वचनरचनाको छोड़कर सदा स्फुटरूपसे सहजपरमात्माको सम्यक् प्रकारसे भाता है, उस ज्ञानात्मक परम यमीको मुक्तिरूपी स्त्रीके सुखका कारण ऐसा यह शुद्ध नियम नियमसे (–अवश्य) है ।१९१।

(मालिनी)

अनवरतमखंडाद्वैतचिन्निर्विकारे
निखिलनयविलासो न स्फुरत्येव किंचित् ।
अपगत इह यस्मिन् भेदवादस्समस्तः
तमहमभिनमामि स्तौमि संभावयामि ॥१९२॥

(अनुष्टुभ्)

इदं ध्यानमिदं ध्येयमयं ध्याता फलं च तत् ।
एभिर्विकल्पजालैर्यन्निर्मुक्तं तन्नमाम्यहम् ॥१९३॥

(अनुष्टुभ्)

भेदवादाः कदाचित्स्युर्यस्मिन् योगपरायणे ।
तस्य मुक्तिर्भवेन्नो वा को जानात्यार्हते मते ॥१९४॥

कायाईपरदव्वे थिरभावं परिहरत्तु अप्पाणं ।
तस्स हवे तणुसग्गं जो झायइ णिव्वियप्पेण ॥१२१॥

[श्लोकार्थः—] जो अनवरतरूपसे (–निरन्तर) अखण्ड अद्वैत चैतन्यके कारण निर्विकार है उसमें (–उस परमात्मपदार्थमें) समस्त नयविलास किंचित् स्फुरित ही नहीं होता । जिसमेंसे समस्त भेदवाद (–नयादि विकल्प) दूर हुए हैं उसे (–उस परमात्मपदार्थको) मैं नमन करता हूँ, उसका स्तवन करता हूँ, सम्यक् प्रकारसे भाता हूँ ।१९२।

[श्लोकार्थः—] यह ध्यान है, यह ध्येय है, यह ध्याता है और वह फल है—ऐसे विकल्पजालोंसे जो मुक्त (–रहित) है उसे (–उस परमात्मतत्त्वको) मैं नमन करता हूँ ।१९३।

[श्लोकार्थः—] जिस योगपरायणमें कदाचित् भेदवाद उत्पन्न होते हैं (अर्थात् जिस योगनिष्ठ योगीको कभी विकल्प उठते हैं), उसकी अर्हत्के मतमें मुक्ति होगी या नहीं होगी वह कौम जानता है ? ।१९४।

परद्रव्य काया आदिसें परित्याग स्थैर्य, निजात्मको ।
ध्याता विकल्प–विमुक्त, उसको नियत कायोत्सर्ग हो ॥१२१॥

कायादिपरद्रव्ये स्थिरभावं परिहृत्यात्मानम् ।
तस्य भवेत्तनूत्सर्गो यो ध्यायति निर्विकल्पेन ॥१२१॥

निश्चयकायोत्सर्गस्वरूपाख्यानमेतत् ।

सादिसनिधनमूर्तविजातीयविभावव्यंजनपर्यायात्मकः स्वस्याकारः कायः । आदिशब्देन क्षेत्रवास्तुकनकरमणीप्रभृतयः । एतेषु सर्वेषु स्थिरभावं सनातनभावं परिहृत्य नित्यरमणीयनिरंजननिजकारणपरमात्मानं व्यवहारक्रियाकांडाडम्बरविविधविकल्पकोलाहलविनिर्मुक्तसहजपरमयोगबलेन नित्यं ध्यायति यः सहजतपश्चरणक्षीरवारांराशिनिशीथिनीहृदयाधीश्वरः, तस्य खलु सहजवैराग्यप्रासादशिखरशिखामणेर्निश्चयकायोत्सर्गो भवतीति ।

(मंदाक्रांता)

कायोत्सर्गो भवति सततं निश्चयात्संयतानां
कायोद्भूतप्रबलतरतत्कर्ममुक्तेः सकाशात् ।
वाचां जल्पप्रकरविरतेर्मानसानां निवृत्तेः
स्वात्मध्यानादपि च नियतं स्वात्मनिष्ठापराणाम् ॥१९५॥

गाथा १२१

अन्वयार्थः—[कायादिपरद्रव्ये] कायादि परद्रव्यमें [स्थिरभावम् परिहृत्य] स्थिरभाव छोड़कर [यः] जो [आत्मानम्] आत्माको [निर्विकल्पेन] निर्विकल्परूपसे [ध्यायति] ध्याता है, [तस्य] उसे [तनूत्सर्गः] कायोत्सर्ग [भवेत्] है ।

टीकाः—यह, निश्चयकायोत्सर्गके स्वरूपका कथन है ।

सादि–सांत मूर्त विजातीय–विभाव–व्यंजनपर्यायात्मक अपना आकार वह काय । "आदि" शब्दसे क्षेत्र, गृह, कनक, रमणी आदि । इन सबमें स्थिरभाव—सनातनभाव छोड़कर (–कायादिक स्थिर हैं ऐसा भाव छोड़कर) नित्य–रमणीय निरंजन निज कारणपरमात्माको व्यवहार क्रियाकाँड आडम्बर सम्बन्धी विविध विकल्परूप कोलाहल रहित सहज–परम–योगके बलसे जो सहज–तपश्चरणरूपी क्षीरसागरका चन्द्र (–सहज तपरूपी क्षीरसागरको उछालनेमें चन्द्र समान ऐसा जो जीव) नित्य ध्याता है, उस सहज वैराग्यरूपी महलके शिखरके शिखामणिको (–उस परम सहज–वैराग्यवन्त जीवको) वास्तवमें निश्चयकायोत्सर्ग है ।

[अब इस शुद्धनिश्चय–प्रायश्चित्त अधिकारकी अन्तिम गाथाकी टीका पूर्ण करते हुए टीकाकार मुनिराज श्री पद्मप्रभमलधारिदेव पाँच श्लोक कहते हैं :]

(मालिनी)

जयति सहजतेजःपुंजनिर्मग्नभास्वत्-
सहजपरमतत्त्वं मुक्तमोहान्धकारम् ।
सहजपरमदृष्टया निष्ठितन्मोघजातं (?)
भवभवपरितापैः कल्पनाभिश्च मुक्तम् ॥१९६॥

(मालिनी)

भवभवसुखमल्पं कल्पनामात्ररम्यं
तदखिलमपि नित्यं संत्यजाम्यात्मशक्त्या ।
सहजपरमसौख्यं चिच्चमत्कारमात्रं
स्फुटितनिजविलासं सर्वदा चेतयेहम् ॥१९७॥

(पृथ्वी)

निजात्मगुणसंपदं मम हृदि स्फुरन्तीमिमां
समाधिविषयामहो क्षणमहं न जाने पुरा ।
जगत्त्रितयवैभवप्रलयहेतुदुःकर्मणां
प्रभुत्वगुणशक्तितः खलु हतोस्मि हा संसृतौ ॥१९८॥

[श्लोकार्थः—] जो निरन्तर स्वात्मनिष्ठापरायण (—निज आत्मामें लीन) हैं उन संयमियोंको, कायासे उत्पन्न होनेवाले अति प्रबल कर्मोंके (—काया सम्बन्धी प्रबल क्रियाओंके) त्यागके कारण, वाणीके जल्पसमूहकी विरतिके कारण और मानसिक भावोंकी (विकल्पोंकी) निवृत्तिके कारण, तथा निज आत्माके ध्यानके कारण, निश्चयसे सतत कायोत्सर्ग है ।१९५।

[श्लोकार्थः—] सहज तेज पुंजमें निमग्न ऐसा वह प्रकाशमान सहज परम तत्त्व जयवन्त है—कि जिसने मोहांधकारको दूर किया है (अर्थात् जो मोहांधकार रहित है), जो सहज परम दृष्टिसे परिपूर्ण है और जो वृथा—उत्पन्न भवभवके परितापोंसे तथा कल्पनाओंसे मुक्त है ।१९६।

[श्लोकार्थः—] अल्प (—तुच्छ) और कल्पनामात्ररम्य (—मात्र कल्पनासे ही रमणीय लगनेवाला) ऐसा जो भवभवका सुख वह सब मैं आत्मशक्तिसे नित्य सम्यक् प्रकारसे छोड़ता हूँ; (और) जिसका निज विलास प्रगट हुआ है, जो सहज परम सौख्यवाला है तथा जो चैतन्यचमत्कारमात्र है, उसका (—उस आत्मतत्त्वका) मैं सर्वदा अनुभवन करता हूँ ।१९७।

(आर्या)

भवसंभवविषभूरुहफलमखिलं दुःखकारणं बुद्ध्वा ।
आत्मनि चैतन्यात्मनि संजातविशुद्धसौख्यमनुभुंजे ॥१९९॥

इति सुकविजनपयोजमित्रपंचेन्द्रियप्रसरवर्जितगात्रमात्रपरिग्रहश्रीपद्मप्रभमलधारिदेव-विरचितायां नियमसारव्याख्यायां तात्पर्यवृत्तौ शुद्धनिश्चयप्रायश्चित्ताधिकारः अष्टमः श्रुतस्कन्धः ॥

[श्लोकार्थः—] अहो ! मेरे हृदयमें स्फुरायमान इस निज आत्मगुणसंपदाको —कि जो समाधिका विषय है उसे—मैंने पहले एक क्षण भी नहीं जाना । वास्तवमें, तीन लोकके वैभवके प्रलयके हेतुभूत दुष्कर्मोंकी प्रभुत्वगुणशक्तिसे (–दुष्ट कर्मोंके प्रभुत्वगुणकी शक्तिसे), अरेरे ! मैं संसारमें मारा गया हूँ (–हैरान हो गया हूँ) ।१९८।

[श्लोकार्थः—] भवोत्पन्न (–संसारमें उत्पन्न होनेवाले) विषवृक्षके समस्त फलको दुःखका कारण जानकर मैं चैतन्यात्मक आत्मामें उत्पन्न विशुद्धसौख्यका अनुभवन करता हूँ ।१९९।

इसप्रकार, सुकविजनरूपी कमलोंके लिये जो सूर्य समान हैं और पाँच इन्द्रियोंके विस्तार रहित देहमात्र जिन्हें परिग्रह था ऐसे श्री पद्मप्रभमलधारिदेव द्वारा रचित नियमसारकी तात्पर्यवृत्ति नामक टीकामें (अर्थात् श्रीमद्भगवत्कुन्दकुन्दाचार्यदेवप्रणीत श्री नियमसार परमागमकी निर्ग्रन्थ मुनिराज श्री पद्मप्रभमलधारिदेवविरचित तात्पर्यवृत्ति नामकी टीकामें) शुद्धनिश्चयप्रायश्चित्ताधिकार नामका आठवाँ श्रुतस्कन्ध समाप्त हुआ ।



— ९ —

परमसमाध्यधिकारः

अथ अखिलमोहरागद्वेषादिपरभावविध्वंसहेतुभूतपरमसमाध्यधिकार उच्यते ।

वयणोच्चारणकिरियं परिचत्ता वीयरायभावेण ।
जो झायदि अप्पाणं परमसमाही हवे तस्स ॥१२२॥

वचनोच्चारणक्रियां परित्यक्त्वा वीतरागभावेन ।
यो ध्यायत्यात्मानं परमसमाधिर्भवेत्तस्य ॥१२२॥

परमसमाधिस्वरूपाख्यानमेतत् ।

क्वचिदशुभवंचनार्थं वचनप्रपंचांचितपरमवीतरागसर्वज्ञस्तवनादिकं कर्तव्यं परमजिन-

---

अब समस्त मोहरागद्वेषादि परभावोंके विध्वंसके हेतुभूत परम-समाधि अधिकार कहा जाता है ।

गाथा १२२

अन्वयार्थः—[वचनोच्चारणक्रियां] वचनोच्चारणकी क्रिया [परित्यक्त्वा] परित्याग कर [वीतरागभावेन] वीतरागभावसे [यः] जो [आत्मानं] आत्माको [ध्यायति] ध्याता है, [तस्य] उसे [परमसमाधिः] परम समाधि [भवेत्] है ।

टीकाः—यह, परम समाधिके स्वरूपका कथन है ।

कभी *अशुभवंचनार्थ वचनविस्तारसे शोभित परमवीतराग सर्वज्ञका स्तवनादि

---

* अशुभवंचनार्थ=अशुभसे छूटनेके लिये; अशुभसे बचनेके लिये; अशुभके त्यागके लिये ।

रे त्याग वचनोच्चार किरिया वीतरागी भावसे ।
ध्यावे निजात्मा जो, समाधि परम होती है उसे ॥१२२॥

योगीश्वरेणापि । परमार्थतः प्रशस्ताप्रशस्तसमस्तवाग्विषयव्यापारो न कर्तव्यः । अत एव वचनरचनां परित्यज्य सकलकर्मकलंकपंकविनिर्मुक्तप्रध्वस्तभावकर्मात्मकपरमवीतरागभावेन त्रिकालनिरावरणनित्यशुद्धकारणपरमात्मानं स्वात्माश्रयनिश्चयधर्मध्यानेन टंकोत्कीर्णज्ञायकैकस्वरूपनिरतपरमशुक्लध्यानेन च यः परमवीतरागतपश्चरणनिरतः निरुपरागसंयतः ध्यायति, तस्य खलु द्रव्यभावकर्मवरूथिनीलुंटाकस्य परमसमाधिर्भवतीति ।

(वंशस्थ)

समाधिना केनचिदुत्तमात्मनां
हृदि स्फुरन्तीं समतानुयायिनीम् ।
यावन्न विद्मः सहजात्मसंपदं
न मादृशां या विषया विदामहि ॥२००॥

परम जिनयोगीश्वरको भी करनेयोग्य है । परमार्थसे प्रशस्त–अप्रशस्त समस्त वचनसम्बन्धी व्यापार करनेयोग्य नहीं है । ऐसा होनेसे ही, वचनरचना परित्यागकर जो समस्त कर्मकलंकरूप कीचड़से विमुक्त है और जिसमेंसे भावकर्म नष्ट हुए हैं ऐसे भावसे —परम वीतरागभावसे— त्रिकाल–निरावरण नित्य–शुद्धकारणपरमात्माको स्वात्माश्रित निश्चयधर्मध्यानसे तथा टंकोत्कीर्ण ज्ञायक एक स्वरूपमें लीन परमशुक्लध्यानसे जो परमवीतराग तपश्चरणमें लीन, निरुपराग (निर्विकार) संयमी ध्याता है, उस द्रव्यकर्म–भावकर्मकी सेनाको लूटनेवाले संयमीको वास्तवमें परम समाधि है ।

[अब इस १२२ वीं गाथाकी टीका पूर्ण करते हुए टीकाकार मुनिराज श्री पद्मप्रभमलधारिदेव श्लोक कहते हैं :]

[श्लोकार्थः—] किसी ऐसी (–अवर्णनीय, **परम**) समाधि द्वारा उत्तम आत्माओंके हृदयमें स्फुरित होनेवाली, समताकी [1]**अनुयायिनी** सहज आत्मसम्पदाका जबतक हम अनुभव नहीं करते, तबतक हमारे जैसोंका जो [2]विषय है उसका हम अनुभवन नहीं करते ।२००।

१–अनुयायिनी=अनुगामिनी; साथ–साथ रहनेवाली; पीछे-पीछे आनेवाली । (सहज आत्मसम्पदा समाधिकी अनुयायिनी है ।)

२–सहज आत्मसम्पदा मुनियोंका विषय है ।

संजमणियमतवेण दु धम्मज्झाणेण सुक्कझाणेण ।
जो झायइ अप्पाणं परमसमाही हवे तस्स ॥१२३॥

संयमनियमतपसा तु धर्मध्यानेन शुक्लध्यानेन ।
यो ध्यायत्यात्मानं परमसमाधिर्भवेत्तस्य ॥१२३॥

इह हि समाधिलक्षणमुक्तम् ।

संयमः सकलेन्द्रियव्यापारपरित्यागः । नियमेन स्वात्माराधनातत्परता । आत्मानमात्मन्यात्मना संधत्त इत्यध्यात्मं तपनम् । सकलबाह्यक्रियाकांडाडम्बरपरित्यागलक्षणान्तःक्रियाधिकरणमात्मानं निरवधित्रिकालनिरुपाधिस्वरूपं यो जानाति, तत्परिणतिविशेषः स्वात्माश्रयनिश्चयधर्मध्यानम् । ध्यानध्येयध्यातृतत्फलादिविविधविकल्पनिर्मुक्तान्तर्मुखाकारनिखिलकरण-

---

गाथा १२३

अन्वयार्थः—[संयमनियमतपसा तु] संयम, नियम और तपसे तथा [धर्मध्यानेन शुक्लध्यानेन] धर्मध्यान और शुक्लध्यानसे [यः] जो [आत्मानं] आत्माको [ध्यायति] ध्याता है, [तस्य] उसे [परमसमाधिः] परम समाधि [भवेत्] है ।

टीकाः—यहाँ (इस गाथामें) समाधिका लक्षण (अर्थात् स्वरूप) कहा है ।

समस्त इन्द्रियोंके व्यापारका परित्याग सो संयम है । निज आत्माकी आराधनामें तत्परता सो नियम है । जो आत्माको आत्मामें आत्मासे धारण कर रखता है—टिका रखता है—जोड़ रखता है वह अध्यात्म है और वह अध्यात्म सो तप है । समस्त बाह्यक्रियाकाण्डके आडम्बरका परित्याग जिसका लक्षण है ऐसी अन्तःक्रियाके *अधिकरणभूत आत्माको—कि जिसका स्वरूप अवधि रहित तीनों काल (अनादि कालसे अनन्त काल तक) निरुपाधिक है उसे—जो जीव जानता है, उस जीवकी परिणतिविशेष वह स्वात्माश्रित निश्चयधर्मध्यान है । ध्यान–ध्येय–ध्याता, ध्यानका फल आदिके विविध विकल्पोंसे विमुक्त (अर्थात् ऐसे विकल्पोंसे रहित), अन्तर्मुखाकार (अर्थात् अन्तर्मुख जिसका स्वरूप है ऐसा), समस्त इन्द्रियसमूहसे अगोचर निरंजन–निज परम-

---

* अधिकरण=आधार । (अन्तरंग क्रियाका आधार आत्मा है ।)

संयम नियम तपसे तथा रे धर्म–शुक्ल सुध्यान से–
ध्यावे निजात्मा जो परम होती समाधि है उसे ॥१२३॥

ग्रामागोचरनिरंजननिजपरमतत्त्वाविचलस्थितिरूपं निश्चयशुक्लध्यानम् । एभिः सामग्रीविशेषैः सार्धमखंडाद्वैतपरमचिन्मयमात्मानं यः परमसंयमी नित्यं ध्यायति, तस्य खलु परमसमाधिर्भवतीति ।

(अनुष्टुभ्)

निर्विकल्पे समाधौ यो नित्यं तिष्ठति चिन्मये ।
द्वैताद्वैतविनिर्मुक्तमात्मानं तं नमाम्यहम् ॥२०१॥

किं काहदि वणवासो कायकिलेसो विचित्तउववासो ।
अज्झयणमोणपहुदी समदारहियस्स समणस्स ॥१२४॥

किं करिष्यति वनवासः कायक्लेशो विचित्रोपवासः ।
अध्ययनमौनप्रभृतयः समतारहितस्य श्रमणस्य ॥१२४॥

तत्त्वमें अविचल स्थितिरूप (–ऐसा जो ध्यान) वह निश्चयशुक्लध्यान है । इन सामग्रीविशेषों सहित (–इस उपर्युक्त विशेष आंतरिक साधनसामग्री सहित) अखण्ड अद्वैत परम चैतन्यमय आत्माको जो परम संयमी नित्य ध्याता है, उसे वास्तवमें परम समाधि है ।

[अब इस १२३ वीं गाथाकी टीका पूर्ण करते हुए टीकाकार मुनिराज श्लोक कहते हैं :]

[श्लोकार्थः—] जो सदा चैतन्यमय निर्विकल्प समाधिमें रहता है, उस द्वैताद्वैतविमुक्त (द्वैत–अद्वैतके विकल्पोंसे मुक्त) आत्माको मैं नमन करता हूँ ।२०१।

गाथा १२४

अन्वयार्थः—[वनवासः] वनवास, [कायक्लेशः विचित्रोपवासः] कायक्लेशरूप अनेक प्रकारके उपवास, [अध्ययनमौनप्रभृतयः] अध्ययन, मौन आदि (कार्य) [समतारहितस्य श्रमणस्य] समतारहित श्रमणको [किं करिष्यति] क्या करते हैं (–क्या लाभ करते हैं ?)

वनवास, कायाक्लेशरूप अनेक विध उपवाससे ।
वा अध्ययन मौनादिसे क्या ! साम्य विरहित साधुके ॥१२४॥

अत्र समतामन्तरेण द्रव्यलिंगधारिणः श्रमणाभासिनः किमपि परलोककारणं नास्तीत्युक्तम् ।

सकलकर्मकलंकपंकविनिर्मुक्तमहानंदहेतुभूतपरमसमताभावेन विना कान्तारवासावासेन प्रावृषि वृक्षमूले स्थित्या च ग्रीष्मेऽतितीव्रकरकरसंतप्तपर्वताग्रग्रावनिषण्णतया वा हेमन्ते च रात्रिमध्ये ह्याशांबरदशाफलेन च, त्वगस्थिभूतसर्वांगक्लेशदायिना महोपवासेन वा, सदाध्ययनपटुतया च, वाग्विषयव्यापारनिवृत्तिलक्षणेन संततमौनव्रतेन वा किमप्युपादेयं फलमस्ति केवलद्रव्यलिंगधारिणः श्रमणाभासस्येति ।

तथा चोक्तम् अमृताशीतौ—

(मालिनी)

"गिरिगहनगुहाद्यारण्यशून्यप्रदेश-
स्थितिकरणनिरोधध्यानतीर्थोपसेवा ।
प्रपठनजपहोमैर्ब्रह्मणो नास्ति सिद्धिः
मृगय तदपरं त्वं भोः प्रकारं गुरुभ्यः ॥"

टीकाः— यहाँ (इस गाथामें), समताके बिना द्रव्यलिंगधारी श्रमणाभासको किंचित् परलोकका कारण नहीं है (अर्थात् किंचित् मोक्षका साधन नहीं है) ऐसा कहा है ।

केवल द्रव्यलिंगधारी श्रमणाभासको समस्त कर्मकलंकरूप कीचड़से विमुक्त और महा आनन्दके हेतुभूत परमसमताभाव बिना, (१) वनवासमें वसकर वर्षाऋतुमें वृक्षके—नीचे स्थिति करनेसे, ग्रीष्मऋतुमें प्रचंड सूर्यकी किरणोंसे संतप्त पर्वतके शिखरकी शिला पर बैठनेसे और हेमन्तऋतुमें रात्रिमें दिगम्बरदशामें रहनेसे, (२) त्वचा और अस्थिरूप (मात्र हाड़–चामरूप) होगये सारे शरीरको क्लेशदायक महा उपवाससे, (३) सदा अध्ययनपटुतासे (अर्थात् सदा शास्त्रपठन करनेसे), अथवा (४) वचनसंबंधी व्यापारकी निवृत्तिस्वरूप सतत मौनव्रतसे क्या किंचित् भी *उपादेय फल है ? (अर्थात् मोक्षके साधनरूप फल किंचित् भी नहीं है ।)

इसीप्रकार (श्री योगीन्द्रदेवकृत) अमृताशीतिमें (५९ वें श्लोक द्वारा) कहा है किः—

"[श्लोकार्थः—] पर्वतकी गहन गुफा आदिमें अथवा वनके शून्य प्रदेशमें

---

* उपादेय—चाहने योग्य; प्रशंसा योग्य ।

तथा हि—

(द्रुतविलंबित)

अनशनादितपश्चरणैः फलं
समतया रहितस्य यतेर्न हि ।
तत इदं निजतत्त्वमनाकुलं
भज मुने समताकुलमंदिरम् ॥२०२॥

विरदो सव्वसावज्जे तिगुत्तो पिहिदिंदिओ ।
तस्स सामाइगं ठाइ इदि केवलिसासणे ॥१२५॥

विरतः सर्वसावद्ये त्रिगुप्तः पिहितेन्द्रियः ।
तस्य सामायिकं स्थायि इति केवलिशासने ॥१२५॥

रहनेसे, इन्द्रियनिरोधसे, ध्यानसे, तीर्थसेवासे, (तीर्थस्थानमें वास करनेसे), पठनसे, जपसे तथा होमसे ब्रह्मकी (आत्माकी) सिद्धि नहीं है; इसलिये, हे भाई ! तू गुरुओं द्वारा उससे अन्य प्रकारको ढूंढ ।"

और (इस १२४ वीं गाथाकी टीका पूर्ण करते हुए टीकाकार मुनिराज श्लोक कहते हैं) :—

[श्लोकार्थः—] वास्तवमें समता रहित यतिको अनशनादि तपश्चरणोंसे फल नहीं है; इसलिये, हे मुनि ! समताका *कुलमन्दिर ऐसा जो यह अनाकुल निज तत्त्व उसे भज ।२०२।

गाथा १२५

अन्वयार्थः—[सर्वसावद्ये विरतः] जो सर्व सावद्यमें विरत है, [त्रिगुप्तः] जो तीन गुप्तिवाला है और [पिहितेन्द्रियः] जिसने इन्द्रियोंको बन्द (निरुद्ध) किया है, [तस्य] उसे [सामायिकं] सामायिक [स्थायि] स्थायी है [इति केवलिशासने] ऐसा केवलीके शासनमें कहा है ।

---

* कुलमन्दिर=(१) उत्तम घर; (२) वंशपरम्पराका घर ।

सावद्य–विरत, त्रिगुप्तमय अरु पिहितइन्द्रिय जो रहे ।
स्थायी सामायिक है उसे, यों केवली शासन कहे ॥१२५॥

इह हि सकलसावद्यव्यापाररहितस्य त्रिगुप्तिगुप्तस्य सकलेन्द्रियव्यापारविमुखस्य तस्य च मुनेः सामायिकं व्रतं स्थायीत्युक्तम् ।

अथात्रैकेन्द्रियादिप्राणिनिकुरंबक्लेशहेतुभूतसमस्तसावद्यव्यासंगविनिर्मुक्तः, प्रशस्ताप्रशस्तसमस्तकायवाङ्मनसां व्यापाराभावात् त्रिगुप्तः, स्पर्शनरसनघ्राणचक्षुःश्रोत्राभिधानपंचेन्द्रियाणां मुखैस्तत्तद्योग्यविषयग्रहणाभावात् पिहितेन्द्रियः, तस्य खलु महामुमुक्षोः परमवीतरागसंयमिनः सामायिकं व्रतं शश्वत् स्थायि भवतीति ।

(मंदाक्रांता)

इत्थं मुक्त्वा भवभयकरं सर्वसावद्यराशिं
नीत्वा नाशं विकृतिमनिशं कायवाङ्मानसानाम् ।
अन्तःशुद्ध्या परमकलया साकमात्मानमेकं
बुद्ध्वा जन्तुः स्थिरशममयं शुद्धशीलं प्रयाति ।।२०३।।

टीकाः—यहाँ (इस गाथामें) जो सर्व सावद्य व्यापारसे रहित है, जो त्रिगुप्ति द्वारा गुप्त है तथा जो समस्त इन्द्रियोंके व्यापारसे विमुख है, उस मुनिको सामायिकव्रत स्थायी है ऐसा कहा है ।

यहाँ (इस लोकमें) जो एकेन्द्रियादि प्राणीसमूहको क्लेशके हेतुभूत समस्त सावद्यके *व्यासंगसे विमुक्त है, प्रशस्त–अप्रशस्त समस्त काय–वचन–मनके व्यापारके अभावके कारण त्रिगुप्त (तीन गुप्तिवाला) है और स्पर्शन, रसन, घ्राण, चक्षु तथा श्रोत्र नामक पाँच इन्द्रियों द्वारा उस–उस इन्द्रियके योग्य विषयके ग्रहणका अभाव होनेसे वन्दकी हुई इन्द्रियोंवाला है, उस महामुमुक्षु परमवीतरागसंयमीको वास्तवमें सामायिकव्रत शाश्वत—स्थायी है ।

[अब इस १२५ वीं गाथाकी टीका पूर्ण करते हुए टीकाकार मुनिराज श्लोक कहते हैं :]

[श्लोकार्थः—]इसप्रकार भवभयके करनेवाले समस्त सावद्यसमूहको छोड़कर, काय–वचन–मनकी विकृतिको निरंतर नाश प्राप्त कराके, अन्तरंग शुद्धिसे परम कला सहित (परम ज्ञानकला सहित) एक आत्माको जानकर जीव स्थिरशममय शुद्ध शीलको प्राप्त करता है (अर्थात् शाश्वत समतामय शुद्ध चारित्रको प्राप्त करता है) ।२०३।

---

* व्यासंग=गाढ संग; संग; आसक्ति ।

जो समो सव्वभूदेसु थावरेसु तसेसु वा ।
तस्स सामाइगं ठाइ इदि केवलिसासणे ॥१२६॥

यः समः सर्वभूतेषु स्थावरेषु त्रसेषु वा ।
तस्य सामायिकं स्थायि इति केवलिशासने ॥१२६॥

परममाध्यस्थ्यभावाद्यारूढस्थितस्य परममुमुक्षोः स्वरूपमत्रोक्तम् ।

यः सहजवैराग्यप्रासादशिखरशिखामणिः विकारकारणनिखिलमोहरागद्वेषाभावाद् भेदकल्पनापोढपरमसमरसीभावसनाथत्वात्त्रसस्थावरजीवनिकायेषु समः, तस्य च परमजिनयोगीश्वरस्य सामायिकाभिधानव्रतं सनातनमिति वीतरागसर्वज्ञमार्गे सिद्धमिति ।

गाथा १२६

अन्वयार्थः—[यः] जो [स्थावरेषु] स्थावर [वा] अथवा [त्रसेषु] त्रस [सर्वभूतेषु] सर्व जीवोंके प्रति [समः] समभाववाला है, [तस्य] उसे [सामायिकं] सामायिक [स्थायि] स्थायी है [इति केवलिशासने] ऐसा केवलीके शासनमें कहा है ।

टीकाः—यहाँ, परम माध्यस्थभाव आदिमें आरूढ़ होकर स्थित परममुमुक्षुका स्वरूप कहा है ।

जो सहज वैराग्यरूपी महलके शिखरका शिखामणि (अर्थात् परम सहज-वैराग्यवन्त मुनि) विकारके कारणभूत समस्त मोहरागद्वेषके अभावके कारण भेदकल्पना विमुक्त परम समरसीभाव सहित होनेसे त्रस–स्थावर (समस्त) जीवनिकायोंके प्रति समभाववाला है, उस परम जिनयोगीश्वरको सामायिक नामका व्रत सनातन (स्थायी) है ऐसा वीतराग सर्वज्ञके मार्गमें सिद्ध है ।

[अब इस १२६ वीं गाथाकी टीका पूर्ण करते हुए टीकाकार मुनिराज आठ श्लोक कहते हैं :]

स्थावर तथा त्रस सर्व जीवसमूह प्रति समता लहे ।
स्थायि सामायिक है उसे, यों केवली शासन कहे ॥१२६॥

(मालिनी)

त्रसहतिपरिमुक्तं स्थावराणां वधैर्वा
परमजिनमुनीनां चित्तमुच्चैरजस्रम् ।
अपि चरमगतं यन्निर्मलं कर्ममुक्त्यै
तदहमभिनमामि स्तौमि संभावयामि ॥२०४॥

(अनुष्टुभ्)

केचिदद्वैतमार्गस्थाः केचिद् द्वैतपथे स्थिताः ।
द्वैताद्वैतविनिर्मुक्तमार्गे वर्तामहे वयम् ॥२०५॥

(अनुष्टुभ्)

कांक्षंत्यद्वैतमन्येपि द्वैतं कांक्षन्ति चापरे ।
द्वैताद्वैतविनिर्मुक्तमात्मानमभिनौम्यहम् ॥२०६॥

(अनुष्टुभ्)

अहमात्मा सुखाकांक्षी स्वात्मानमजमच्युतम् ।
आत्मनैवात्मनि स्थित्वा भावयामि मुहुर्मुहुः ॥२०७॥

[श्लोकार्थः—] परम जिनमुनियोंका जो चित्त (चैतन्यपरिणमन) निरंतर त्रस जीवोंके घातसे तथा स्थावर जीवोंके वधसे अत्यन्त विमुक्त है, और जो (चित्त) अन्तिम अवस्थाको प्राप्त तथा निर्मल है, उसे मैं कर्मसे मुक्त होनेके हेतु नमन करता हूँ, स्तवन करता हूँ, सम्यक् प्रकारसे भाता हूँ ।२०४।

[श्लोकार्थः—] कोई जीव अद्वैतमार्गमें स्थित हैं और कोई जीव द्वैतमार्गमें स्थित हैं; द्वैत और अद्वैतसे विमुक्त मार्गमें (अर्थात् जिसमें द्वैत या अद्वैतके विकल्प नहीं हैं ऐसे मार्गमें) हम वर्तते हैं ।२०५।

[श्लोकार्थः—] कोई जीव अद्वैतकी इच्छा करते हैं और अन्य कोई जीव द्वैतकी इच्छा करते हैं; मैं द्वैत और अद्वैतसे विमुक्त आत्माको नमन करता हूँ ।२०६।

[श्लोकार्थः—] मैं—सुखकी इच्छा रखनेवाला आत्मा—अजन्म और अविनाशी ऐसे निज आत्माको आत्मा द्वारा ही आत्मामें स्थित रहकर बारम्बार भाता हूँ ।२०७।

(शिखरिणी)

विकल्पोपन्यासैरलमलममीभिर्भवकरैः
अखण्डानन्दात्मा निखिलनयराशेरविषयः ।
अयं द्वैताद्वैतो न भवति ततः कश्चिदचिरात्
तमेकं वन्देऽहं भवभयविनाशाय सततम् ।।२०८।।

(शिखरिणी)

सुखं दुःखं योनौ सुकृतदुरितव्रातजनितं
शुभाभावो भूयोऽशुभपरिणतिर्वा न च न च ।
यदेकस्याप्युच्चैर्भवपरिचयो बाढमिह नो
य एवं संन्यस्तो भवगुणगणैः स्तौमि तमहम् ।।२०९।।

(मालिनी)

इदमिदमघसेनावैजयन्तीं हरेत्तां
स्फुटितसहजतेजःपुंजदूरीकृतांहः ।
प्रबलतरतमस्तोमं सदा शुद्धशुद्धं
जयति जगति नित्यं चिच्चमत्कारमात्रम् ।।२१०।।

[श्लोकार्थः—] भवके करनेवाले ऐसे इन विकल्प-कथनोंसे बस होओ, बस होओ। जो अखण्डानन्दस्वरूप है वह (यह आत्मा) समस्त नयराशिका अविषय है; इसलिये यह कोई (अवर्णनीय) आत्मा द्वैत या अद्वैतरूप नहीं है (अर्थात् द्वैत-अद्वैतके विकल्पोंसे पर है) । उसे एकको मैं अल्प कालमें भवभयका नाश करनेके लिये सतत वंदन करता हूँ ।२०८।

[श्लोकार्थः—] योनिमें सुख और दुःख सुकृत और दुष्कृतके समूहसे होता है (अर्थात् चार गतिके जन्मोंमें सुखदुःख शुभाशुभ कृत्योंसे होता है) । और दूसरे प्रकारसे (–निश्चयनयसे), आत्माको शुभका भी अभाव है तथा अशुभ परिणति भी नहीं है—नहीं है, क्योंकि इस लोकमें एक आत्माको (अर्थात् आत्मा सदा एकरूप होनेसे उसे) निश्चित भवका परिचय बिलकुल नहीं है। इसप्रकार जो भवगुणोंके समूहसे संन्यस्त है (अर्थात् जो शुभ–अशुभ, राग–द्वेष आदि भवके गुणोंसे—विभावोंसे –रहित है) उसका (–नित्यशुद्ध आत्माका) मैं स्तवन करता हूँ ।२०९।

[श्लोकार्थः—] सदा शुद्ध–शुद्ध ऐसा यह (प्रत्यक्ष) चैतन्यचमत्कारमात्र

(पृथ्वी)

जयत्यनघमात्मतत्त्वमिदमस्तसंसारकं
महामुनिगणाधिनाथहृदयारविन्दस्थितम् ।
विमुक्तभवकारणं स्फुटितशुद्धमेकान्ततः
सदा निजमहिम्नि लीनमपि सद्दृशां गोचरम् ॥२११॥

जस्स सण्णिहिदो अप्पा संजमे णियमे तवे ।
तस्स सामाइगं ठाइ इदि केवलिसासणे ॥१२७॥

यस्य सन्निहितः आत्मा संयमे नियमे तपसि ।
तस्य सामायिकं स्थायि इति केवलिशासने ॥१२७॥

तत्त्व जगतमें नित्य जयवन्त है—कि जिसने प्रगट हुए सहज तेज पुंज द्वारा स्वधर्मत्यागरूप (मोहरूप) अतिप्रबल तिमिरसमूहको दूर किया है और जो उस *अघसेनाकी ध्वजाको हर लेता है ।२१०।

[श्लोकार्थः—] यह अनघ (निर्दोष) आत्मतत्त्व जयवन्त है—कि जिसने संसारको अस्त किया है, जो महामुनिगणके अधिनाथके (–गणधरोंके) हृदयारविन्दमें स्थित है, जिसने भवका कारण छोड़ दिया है, जो एकान्तसे शुद्ध प्रगट हुआ है (अर्थात् जो सर्वथा शुद्धरूपसे स्पष्ट ज्ञात होता है) तथा जो सदा (टंकोत्कीर्ण चैतन्यसामान्यरूप) निज महिमामें लीन होने पर भी सम्यग्दृष्टियोंको गोचर है ।२११।

गाथा १२७

अन्वयार्थः—[यस्य] जिसे [संयमे] संयममें, [नियमे] नियममें और [तपसि] तपमें [आत्मा] आत्मा [सन्निहितः] समीप है, [तस्य] उसे [सामायिकं] सामायिक [स्थायि] स्थायी है [इति केवलिशासने] ऐसा केवलीके शासनमें कहा है ।

---

* अघ=दोष; पाप ।

संयम–नियम–तपमें अहो ! आत्मा समीप जिसे रहे ।
स्थायी समायिक है उसे, यों केवली शासन कहे ॥१२७॥

अत्राप्यात्मैवोपादेय इत्युक्तः।

यस्य खलु बाह्यप्रपंचपराङ्मुखस्य निर्जिताखिलेन्द्रियव्यापारस्य भाविजिनस्य पापक्रियानिवृत्तिरूपे बाह्यसंयमे कायवाङ्मनोगुप्तिरूपसकलेन्द्रियव्यापारवर्जितेऽभ्यन्तरात्मनि परिमितकालाचरणमात्रे नियमे परमब्रह्मचिन्मयनियतनिश्चयान्तर्गताचारे स्वरूपेऽविचलस्थितिरूपे व्यवहारप्रपंचितपंचाचारे पंचमगतिहेतुभूते किंचनभावप्रपंचपरिहीणे सकलदुराचारनिवृत्तिकारणे परमतपश्चरणे च परमगुरुप्रसादासादितनिरंजननिजकारणपरमात्मा सदा सन्निहित इति केवलिनां शासने तस्य परद्रव्यपराङ्मुखस्य परमवीतरागसम्यग्दृष्टेर्वीतरागचारित्रभाजः सामायिकव्रतं स्थायि भवतीति।

(मंदाक्रांता)

आत्मा नित्यं तपसि नियमे संयमे सच्चरित्रे
तिष्ठत्युच्चैः परमयमिनः शुद्धदृष्टेर्मनश्चेत्।
तस्मिन् बाढं भवभयहरे भावितीर्थाधिनाथे
साक्षादेषा सहजसमता प्रास्तरागाभिरामे॥२१२॥

टीकाः—यहाँ (इस गाथामें) भी आत्मा ही उपादेय है ऐसा कहा है।

बाह्य प्रपंचसे पराङ्मुख और समस्त इन्द्रियव्यापारको जीते हुए ऐसे जिस भावी जिनको पापक्रियाकी निवृत्तिरूप बाह्यसंयममें, काय–वचन–मनोगुप्तिरूप, समस्त इन्द्रियव्यापार रहित अभ्यन्तरसंयममें, मात्र परिमित (मर्यादित) कालके आचरणस्वरूप नियममें, निजस्वरूपमें अविचल स्थितिरूप, चिन्मय–परमब्रह्ममें नियत (निश्चल रहे हुए) ऐसे निश्चयअन्तर्गत–आचारमें (अर्थात् निश्चय–अभ्यन्तरचारित्रमें), व्यवहारसे *प्रपंचित (ज्ञान–दर्शन–चारित्र–तप–वीर्याचाररूप) पंचाचारमें (अर्थात् व्यवहार–चारित्रमें), तथा पंचमगतिके हेतुभूत, किंचित् भी परिग्रहप्रपंचसे सर्वथा रहित, सकल दुराचारकी निवृत्तिके कारणभूत ऐसे परम तपश्चरणमें (–इन सबमें) परम गुरुके प्रसादसे प्राप्त किया हुआ निरंजन निज कारणपरमात्मा सदा समीप है (अर्थात् जिस मुनिको संयममें, नियममें, चारित्रमें और तपमें निज कारणपरमात्मा सदा निकट है), उस परद्रव्यपराङ्मुख परम वीतराग–सम्यक्‌दृष्टि वीतराग–चारित्रवन्तको सामायिकव्रत स्थायी है ऐसा केवलियोंके शासनमें कहा है।

---

* प्रपंचित=दर्शाये गये; विस्तारको प्राप्त।

जस्स रागो दु दोसो दु विगडिं ण जणेइ दु।
तस्स सामाइगं ठाइ इदि केवलिसासणे ॥१२८॥

यस्य रागस्तु द्वेषस्तु विकृतिं न जनयति तु।
तस्य सामायिकं स्थायि इति केवलिशासने ॥१२८॥

इह हि रागद्वेषाभावादपरिस्पंदरूपत्वं भवतीत्युक्तम्।

यस्य परमवीतरागसंयमिनः पापाटवीपावकस्य रागो वा द्वेषो वा विकृतिं नावतरति,

---

[अब इस १२७ वीं गाथाकी टीका पूर्ण करते हुए टीकाकार मुनिराज श्लोक कहते हैं :]

[श्लोकार्थः—] यदि शुद्धदृष्टिवन्त (–सम्यग्दृष्टि) जीव ऐसा समझता है कि परम मुनिको तपमें, नियममें, संयममें और सत्चारित्रमें सदा आत्मा ऊर्ध्व रहता है (अर्थात् प्रत्येक कार्यमें निरन्तर शुद्धात्मद्रव्य ही मुख्य रहता है) तो (ऐसा सिद्ध हुआ कि) रागके नाशके कारण [1]अभिराम ऐसे उस भवभयहर भावि तीर्थाधिनाथको यह साक्षात् सहज–समता निश्चित है।२१२।

गाथा १२८

अन्वयार्थः—[यस्य] जिसे [रागः तु] राग या [द्वेषः तु] द्वेष (उत्पन्न न होता हुआ) [विकृतिं] विकृति [न तु जनयति] उत्पन्न नहीं करता, [तस्य] उसे [सामायिकं] सामायिक [स्थायि] स्थायी है [इति केवलिशासने] ऐसा केवलीके शासनमें कहा है।

टीकाः—यहाँ रागद्वेषके अभावसे [2]अपरिस्पंदरूपता होती है ऐसा कहा है।

पापरूपी अटवीको जलानेमें अग्नि समान ऐसे जिस परमवीतराग संयमीको

१–अभिराम=मनोहर; सुन्दर। (भवभयके हरनेवाले ऐसे इस भावि तीर्थङ्करने रागका नाश किया होनेसे वह मनोहर है।)

२–अपरिस्पंदरूपता=अकंपता; अक्षुब्धता; समता।

नहिं राग अथवा द्वेषसे जो संयमी विकृति लहे।
स्थायी समायिक है उसे, यों केवली शासन कहे ॥१२८॥

तस्य महानन्दाभिलाषिणः जीवस्य पंचेन्द्रियप्रसरवर्जितगात्रमात्रपरिग्रहस्य सामायिकनामव्रतं शाश्वतं भवतीति केवलिनां शासने प्रसिद्धं भवतीति ।

(मंदाक्रांता)

रागद्वेषौ विकृतिमिह तौ नैव कर्तुं समर्थौ
ज्ञानज्योतिःप्रहतदुरितानीकघोरान्धकारे ।
आरातीये सहजपरमानन्दपीयूषपूरे
तस्मिन्नित्ये समरसमये को विधिः को निषेधः ॥२१३॥

जो दु अट्टं च रुद्दं च झाणं वज्जेदि णिच्चसो ।
तस्स सामाइगं ठाइ इदि केवलिसासणे ॥१२६॥

राग या द्वेष *विकृति उत्पन्न नहीं करता, उस महा आनन्दके अभिलाषी जीवको—कि जिसे पांच इन्द्रियोंके विस्तार रहित देहमात्र परिग्रह है उसे—सामायिक नामका व्रत शाश्वत है ऐसा केवलियोंके शासनमें प्रसिद्ध है ।

[अब इस १२८ वीं गाथाकी टीका पूर्ण करते हुए टीकाकार मुनिराज श्लोक कहते हैं :]

[श्लोकार्थः—] जिसने ज्ञानज्योति द्वारा पापसमूहरूपी घोर अन्धकारका नाश किया है ऐसा सहज परमानन्दरूपी अमृतका पूर (अर्थात् ज्ञानानन्दस्वभावी आत्मतत्त्व) जहाँ निकट है, वहाँ वे रागद्वेष विकृति करनेमें समर्थ नहीं ही हैं । उस नित्य (शाश्वत) समरसमय आत्मतत्त्वमें विधि क्या और निषेध क्या ? (समरस-स्वभावी आत्मतत्त्वमें "यह करने योग्य है और यह छोड़ने योग्य है" ऐसे विधिनिषेधके विकल्परूप स्वभाव न होनेसे उस आत्मतत्त्वका दृढ़तासे आलम्बन करनेवाले मुनिको स्वभावपरिणमन होनेके कारण समरसरूप परिणाम होते हैं, विधिनिषेधके विकल्परूप—रागद्वेषरूप परिणाम नहीं होते) ।२१३।

---

* विकृति=विकार; स्वाभाविक परिणतिसे विरुद्ध परिणति । [परमवीतरागसंयमीको समता-स्वभावी शुद्धात्मद्रव्यका दृढ़ आश्रय होनेसे विकृतिभूत (विभावभूत) विषमता (रागद्वेषपरिणति) नहीं होती, परन्तु प्रकृतिभूत (स्वभावभूत) समतापरिणाम होते हैं ।]

रे ! आर्त्त–रौद्र दुध्यानका नित ही जिसे वर्जन रहे ।
स्थायी समायिक है उसे, यों केवली शासन कहे ॥१२९॥

यस्त्वार्त्तं च रौद्रं च ध्यानं वर्जयति नित्यशः ।
तस्य सामायिकं स्थायि इति केवलिशासने ॥१२९॥

आर्तरौद्रध्यानपरित्यागात् सनातनसामायिकव्रतस्वरूपाख्यानमेतत् ।

यस्तु नित्यनिरंजननिजकारणसमयसारस्वरूपनियतशुद्धनिश्चयपरमवीतरागसुखामृतपानपरायणो जीवः तिर्यग्योनिप्रेतावासनारकादिगतिप्रायोग्यतानिमित्तम् आर्तरौद्रध्यानद्वयं नित्यशः संत्यजति, तस्य खलु केवलदर्शनसिद्धं शाश्वतं सामायिकव्रतं भवतीति ।

(आर्या)

इति जिनशासनसिद्धं सामायिकव्रतमणुव्रतं भवति ।
यस्त्यजति मुनिर्नित्यं ध्यानद्वयमार्तरौद्राख्यम् ॥२१४॥

गाथा १२९

अन्वयार्थः—[यः तु] जो [आर्त्तं] आर्त [च] और [रौद्रं च] रौद्र [ध्यानं] ध्यानको [नित्यशः] नित्य [वर्जयति] वर्जता है, [तस्य] उसे [सामायिकं] सामायिक [स्थायि] स्थायी है [इति केवलिशासने] ऐसा केवलीके शासनमें कहा है ।

टीकाः—यह, आर्त और रौद्र ध्यानके परित्याग द्वारा सनातन (शाश्वत) सामायिकव्रतके स्वरूपका कथन है ।

नित्य-निरंजन निज कारणसमयसारके स्वरूपमें नियत (-नियमसे स्थित) शुद्ध-निश्चय-परम-वीतराग-सुखामृतके पानमें परायण ऐसा जो जीव तिर्यंचयोनि, प्रेतवास और नारकादिगतिकी योग्यताके हेतुभूत आर्त और रौद्र दो ध्यानोंको नित्य छोड़ता है, उसे वास्तवमें केवलदर्शनसिद्ध (-केवलदर्शनसे निश्चित हुआ) शाश्वत सामायिक व्रत है ।

[अब इस १२९ वीं गाथाकी टीका पूर्ण करते हुए टीकाकार मुनिराज श्लोक कहते हैं :]

[श्लोकार्थः—] इसप्रकार, जो मुनि आर्त और रौद्र नामके दो ध्यानोंको नित्य छोड़ता है उसे जिनशासनसिद्ध (-जिनशासनसे निश्चित हुआ) अणुव्रतरूप सामायिकव्रत है ।२१४।

जो दु पुण्णं च पावं च भावं वज्जेदि णिच्चसो ।
तस्स सामाइगं ठाइ इदि केवलिसासणे ॥१३०॥

यस्तु पुण्यं च पापं च भावं वर्जयति नित्यशः ।
तस्य सामायिकं स्थायि इति केवलिशासने ॥१३०॥

शुभाशुभपरिणामसमुपजनितसुकृतदुरितकर्मसंन्यासविधानाख्यानमेतत् ।

बाह्याभ्यंतरपरित्यागलक्षणलक्षितानां परमजिनयोगीश्वराणां चरणनलिनक्षालनसंवाहनादिवैयावृत्त्यकरणजनितशुभपरिणतिविशेषसमुपार्जितं पुण्यकर्म, हिंसानृतस्तेयाब्रह्मपरिग्रहपरिणामसंजातमशुभकर्म, यः सहजवैराग्यप्रासादशिखरशिखामणिः संसृतिपुरंध्रिकाविलासविभ्रमजन्मभूमिस्थानं तत्कर्मद्वयमिति त्यजति, तस्य नित्यं केवलिमतसिद्धं सामायिकव्रतं भवतीति ।

गाथा १३०

अन्वयार्थः—[यः तु] जो [पुण्यं च] पुण्य तथा [पापं भावं च] पापरूप भावको [नित्यशः] नित्य [वर्जयति] वर्जता है, [तस्य] उसे [सामायिकं] सामायिक [स्थायि] स्थायी है [इति केवलिशासने] ऐसा केवलीके शासनमें कहा है ।

टीकाः—यह, शुभाशुभ परिणामसे उत्पन्न होनेवाले सुकृतदुष्कृतरूप कर्मके संन्यासकी विधिका (–शुभाशुभ कर्मके त्यागकी रीतिका) कथन है ।

बाह्य–अभ्यन्तर परित्यागरूप लक्षण से लक्षित परमजिनयोगीश्वरोंका चरण-कमलप्रक्षालन, [1]चरणकमलसंवाहन आदि वैयावृत्य करनेसे उत्पन्न होनेवाली शुभपरिणतिविशेषसे (विशिष्ट शुभ परिणतिसे उपार्जित पुण्यकर्मको तथा हिंसा, असत्य, चौर्य, अब्रह्म और परिग्रहके परिणामसे उत्पन्न होनेवाले अशुभकर्मको, वे दोनों कर्म संसाररूपी स्त्रीके [2]विलासविभ्रमका जन्मभूमिस्थान होनेसे, जो सहज वैराग्यरूपी महलके शिखरका शिखामणि (–जो परम सहज वैराग्यवन्त मुनि) छोड़ता है, उसे नित्य केवलीमतसिद्ध (केवलियोंके मतमें निश्चित हुआ) सामायिकव्रत है ।

१–चरणकमलसंवाहन=पाँव दबाना; पगचंपी करना ।
२–विलासविभ्रम=विलासयुक्त हावभाव; क्रीड़ा ।

जो पुण्य–पाप विभावभावोंका सदा वर्जन करे ।
स्थायी समायिक है उसे, यों केवली शासन कहे ॥१३०॥

(मंदाक्रांता)

त्यक्त्वा सर्वं सुकृतदुरितं संसृतेर्मूलभूतं
नित्यानंदं व्रजति सहजं शुद्धचैतन्यरूपम् ।
तस्मिन् सद्दृग् विहरति सदा शुद्धजीवास्तिकाये
पश्चादुच्चैः त्रिभुवनजनैरर्चितः सन् जिनःस्यात् ॥२१५॥

(शिखरिणी)

स्वतःसिद्धं ज्ञानं दुरघसुकृतारण्यदहनं
महामोहध्वान्तप्रबलतरतेजोमयमिदम् ।
विनिर्मुक्तेर्मूलं निरुपधिमहानंदसुखदं
यजाम्येतन्नित्यं भवपरिभवध्वंसनिपुणम् ॥२१६॥

(शिखरिणी)

अयं जीवो जीवत्यघकुलवशात् संसृतिवधू-
धवत्वं संप्राप्य स्मरजनितसौख्याकुलमतिः ।
क्वचिद् भव्यत्वेन व्रजति तरसा निर्वृतिसुखं
तदेकं संत्यक्त्वा पुनरपि स सिद्धो न चलति ॥२१७॥

[अब इस १३० वीं गाथाकी टीका पूर्ण करते हुए टीकाकार मुनिराज तीन श्लोक कहते हैं :]

[श्लोकार्थः—] सम्यग्दृष्टि जीव संसारके मूलभूत सर्व पुण्यपापको छोड़कर, नित्यानन्दमय, सहज, शुद्धचैतन्यरूप जीवास्तिकायको प्राप्त करता है; वह शुद्ध जीवास्तिकायमें सदा विहरता है और फिर त्रिभुवनजनोंसे (तीन लोकके जीवोंसे) अत्यन्त पूजित ऐसा जिन होता है ।२१५।

[श्लोकार्थः—] यह स्वतःसिद्ध ज्ञान पापपुण्यरूपी वनको जलानेवाली अग्नि है, महामोहांधकारनाशक अतिप्रबल तेजमय है, विमुक्तिका मूल है और *निरुपधि महा आनन्दसुखका दायक है । भवभवका ध्वंस करनेमें निपुण ऐसे इस ज्ञानको मैं नित्य पूजता हूँ ।२१६।

[श्लोकार्थः—] यह जीव अघसमूहके वश संसृतिवधूका पतिपना प्राप्त करके (अर्थात् शुभाशुभ कर्मोंके वश संसाररूपी स्त्रीका पति बनकर) कामजनित सुखके

---

* निरुपधि=छलरहित; सच्चे; वास्तविक ।

जो दु हस्सं रई सोगं अरतिं वज्जेदि णिच्चसो ।
तस्स सामाइगं ठाइ इदि केवलिसासणे ॥१३१॥

जो दुगंछा भयं वेदं सव्वं वज्जेदि णिच्चसो ।
तस्स सामाइगं ठाइ इदि केवलिसासणे ॥१३२॥

यस्तु हास्यं रतिं शोकं अरतिं वर्जयति नित्यशः ।
तस्य सामायिकं स्थायि इति केवलिशासने ॥१३१॥

यः जुगुप्सां भयं वेदं सर्वं वर्जयति नित्यशः ।
तस्य सामायिकं स्थायि इति केवलिशासने ॥१३२॥

लिये आकुल मतिवाला होकर जी रहा है । कभी भव्यत्व द्वारा शीघ्र मुक्तिमुखको प्राप्त करता है, उसके पश्चात् फिर उस एकको छोड़कर वह सिद्ध चलित नहीं होता (अर्थात् एक मुक्तिसुख ही ऐसा अनन्य, अनुपम तथा परिपूर्ण है कि उसे प्राप्त करके उसमें आत्मा सदाकाल तृप्त–तृप्त रहता है, उसमेंसे कभी च्युत होकर अन्य सुख प्राप्त करनेके लिये आकुल नहीं होता) ।२१७।

गाथा १३१–१३२

अन्वयार्थः—[यः तु] जो [हास्यं] हास्य, [रतिं] रति, [शोकं] शोक और [अरतिं] अरतिको [नित्यशः] नित्य [वर्जयति] वर्जता है, [तस्य] उसे [सामायिकं] सामायिक [स्थायि] स्थायी है [इति केवलिशासने] ऐसा केवलीके शासनमे कहा है ।

[यः] जो [जुगुप्सां] जुगुप्सा, [भयं] भय और [सर्वं वेदं] सर्व वेदको [नित्यशः] नित्य [वर्जयति] वर्जता है, [तस्य] उसे [सामायिकं] सामायिक [स्थायि] स्थायी है [इति केवलिशासने] ऐसा केवलीके शासनमें कहा है।

जो–नित्य वर्जे हास्य, अरु रति, अरति, शोकविरत रहे ।
स्थायी समायिक है उसे, यों केवली शासन कहे ॥१३१॥

जो नित्य वर्जे भय जुगुप्सा सर्व वेद समूह रे ।
स्थायी समायिक है उसे, यों केवली शासन कहे ॥१३२॥

नवनोकषायविजयेन समासादितसामायिकचारित्रस्वरूपाख्यानमेतत् ।

मोहनीयकर्मसमुपजनितस्त्रीपुंनपुंसकवेदहास्यरत्यरतिशोकभयजुगुप्साभिधाननवनोकषायकलितकलंकपंकात्मकसमस्तविकारजालकं परमसमाधिबलेन यस्तु निश्चयरत्नत्रयात्मकपरमतपोधनः संत्यजति, तस्य खलु केवलिभट्टारकशासनसिद्धपरमसामायिकाभिधानव्रतं शाश्वतरूपमनेन सूत्रद्वयेन कथितं भवतीति ।

(शिखरिणी)

त्यजाम्येतत्सर्वं ननु नवकषायात्मकमहं
मुदा संसारस्त्रीजनितसुखदुःखावलिकरम् ।
महामोहान्धानां सततसुलभं दुर्लभतरं
समाधौ निष्ठानामनवरतमानन्दमनसाम् ।।२१८।।

टीकाः—यह, नौ नोकषायकी विजय द्वारा प्राप्त होनेवाले सामायिकचारित्रके स्वरूपका कथन है ।

मोहनीयकर्मजनित स्त्रीवेद, पुरुषवेद, नपुंसकवेद, हास्य, रति, अरति, शोक, भय और जुगुप्सा नामके नौ नोकषायसे होनेवाले कलंकपंकस्वरूप (मल–कीचड़स्वरूप) समस्त विकारसमूहको परम समाधिके बलसे जो निश्चयरत्नत्रयात्मक परम तपोधन छोड़ता है, उसे वास्तवमें केवलीभट्टारकके शासनसे सिद्ध हुआ परम सामायिक नामका व्रत शाश्वतरूप है ऐसा इन दो सूत्रोंसे कहा है ।

[अब इन १३१–१३२ वीं गाथाओंकी टीका पूर्ण करते हुए टीकाकार मुनिराज श्लोक कहते हैं :]

[श्लोकार्थः—] संसारस्त्रीजनित *सुखदुःखावलिका करनेवाला नौ कषायात्मक यह सब (–नौ नोकषायस्वरूप सर्व विकार) मैं वास्तवमें प्रमोदसे छोड़ता हूँ— कि जो नौ नोकषायात्मक विकार महामोहांध जीवोंको निरन्तर सुलभ है तथा निरन्तर आनन्दित मनवाले समाधिनिष्ठ (समाधिमें लीन) जीवोंको अति दुर्लभ है ।२१८।

---

* सुखदुःखावलि=सुख–दुःखकी आवलि; सुखदुःखकी पंक्ति—श्रेणी । (नौ नोकषायात्मक विकार संसाररूपी स्त्रीसे उत्पन्न सुखदुःखकी श्रेणीका करनेवाला है ।)

जो दु धम्मं च सुक्कं च झाणं झाएदि णिच्चसो ।
तस्स सामाइगं ठाइ इदि केवलिसासणे ॥१३३॥

यस्तु धर्मं च शुक्लं च ध्यानं ध्यायति नित्यशः ।
तस्य सामायिकं स्थायि इति केवलिशासने ॥१३३॥

परमसमाध्यधिकारोपसंहारोपन्यासोऽयम् ।

यस्तु सकलविमलकेवलज्ञानदर्शनलोलुपः परमजिनयोगीश्वरः स्वात्माश्रयनिश्चयधर्मध्यानेन निखिलविकल्पजालनिर्मुक्तनिश्चयशुक्लध्यानेन च अनवरतमखण्डाद्वैतसहजचिद्विलासलक्षणमक्षयानन्दाम्भोधिमज्जंतं सकलबाह्यक्रियापराङ्मुखं शश्वदंतःक्रियाधिकरणं स्वात्मनिष्ठनिर्विकल्पपरमसमाधिसंपत्तिकारणाभ्यां ताभ्यां धर्मशुक्लध्यानाभ्यां सदाशिवात्मकमात्मानं

गाथा १३३

अन्वयार्थः—[यः तु] जो [धर्मं च] धर्मध्यान [शुक्लं च ध्यानं] और शुक्लध्यानको [नित्यशः] नित्य [ध्यायति] ध्याता है, [तस्य] उसे [सामायिकं] सामायिक [स्थायि] स्थायी है [इति केवलिशासने] ऐसा केवलीके शासनमें कहा है ।

टीकाः—यह, परम–समाधि अधिकारके उपसंहारका कथन है ।

जो सकल–विमल केवलज्ञानदर्शनका लोलुप (सर्वथा निर्मल केवलज्ञान और केवलदर्शनकी तीव्र अभिलाषावाला–भावनावाला) परम जिनयोगीश्वर स्वात्माश्रित निश्चय–धर्मध्यान द्वारा और समस्त विकल्पजाल रहित निश्चय–शुक्लध्यान द्वारा—स्वात्मनिष्ठ (निज आत्मामें लीन ऐसी) निर्विकल्प परम समाधिरूप सम्पत्तिके कारणभूत ऐसे उन धर्म–शुक्ल ध्यानों द्वारा, अखण्ड अद्वैत–सहज–चिद्विलासलक्षण (अर्थात् अखण्ड अद्वैत स्वाभाविक चैतन्यविलास जिसका लक्षण है ऐसे), अक्षय आनन्दसागरमें मग्न होनेवाले (डूबनेवाले), सकल बाह्यक्रियासे पराङ्मुख, शाश्वतरूपसे (सदा) अन्तःक्रियाके अधिकरणभूत, सदाशिवस्वरूप आत्माको निरन्तर ध्याता है, उसे वास्तवमें

जो नित्य उत्तम धर्म–शुक्ल सुध्यानमें ही रत रहे ।
स्थायी समायिक है उसे यों केवली शासन कहे ॥१३३॥

ध्यायति हि तस्य खलु जिनेश्वरशासननिष्पन्नं नित्यं शुद्धं त्रिगुप्तिगुप्तपरमसमाधिलक्षणं शाश्वतं सामायिकव्रतं भवतीति ।

(मंदाक्रांता)

शुक्लध्याने परिणतमतिः शुद्धरत्नत्रयात्मा
धर्मध्यानेऽप्यनघपरमानन्दतत्त्वाश्रितेऽस्मिन् ।
प्राप्नोत्युच्चैरपगतमहद्दुःखजालं विशालं
भेदाभावात् किमपि भविनां वाङ्मनोमार्गदूरम् ॥२१९॥

इति सुकविजनपयोजमित्रपंचेन्द्रियप्रसरवर्जितगात्रमात्रपरिग्रहश्रीपद्मप्रभमलधारिदेव-विरचितायां नियमसारव्याख्यायां तात्पर्यवृत्तौ परमसमाध्यधिकारो नवमः श्रुतस्कन्धः ॥

जिनेश्वरके शासनसे निष्पन्न हुआ, नित्यशुद्ध, त्रिगुप्ति द्वारा गुप्त ऐसी परम समाधि जिसका लक्षण है ऐसा, शाश्वत सामायिकव्रत है ।

[अब इस परम–समाधि अधिकारकी अन्तिम गाथाकी टीका पूर्ण करते हुए टीकाकार मुनिराज श्री पद्मप्रभमलधारिदेव श्लोक कहते हैं :]

[श्लोकार्थः—] इस अनघ (निर्दोष) परमानन्दमय तत्त्वके आश्रित धर्मध्यानमें और शुक्लध्यानमें जिसकी बुद्धि परिणमित हुई है ऐसा शुद्धरत्नत्रयात्मक जीव ऐसे किसी विशाल तत्त्वको अत्यन्त प्राप्त करता है कि जिसमेंसे (–जिस तत्त्वमेंसे) महा दुःखसमूह नष्ट हुआ है और जो (तत्त्व) भेदोंके अभावके कारण जीवोंको वचन तथा मनके मार्गसे दूर है ।२१९।

इसप्रकार, सुकविजनरूपी कमलोंके लिये जो सूर्य समान हैं और पाँच इन्द्रियोंके विस्तार रहित देहमात्र जिन्हें परिग्रह था ऐसे श्री पद्मप्रभमलधारिदेव द्वारा रचित नियमसारकी तात्पर्यवृत्ति नामक टीकामें (अर्थात् श्रीमद्भगवत्कुन्दकुन्दाचार्यदेवप्रणीत श्री नियमसार परमागमकी निर्ग्रन्थ मुनिराज श्री पद्मप्रभमलधारिदेवविरचित तात्पर्यवृत्ति नामकी टीकामें) परमसमाध्यधिकार नामका नववाँ श्रुतस्कन्ध समाप्त हुआ ।



– १० –

परमभक्त्यधिकारः

अथ संप्रति हि भक्त्यधिकार उच्यते ।

सम्मत्तणाणचरणे जो भत्तिं कुणइ सावगो समणो ।
तस्स दु णिव्वुदिभत्ती होदि त्ति जिणेहि पण्णत्तं ॥१३४॥

सम्यक्त्वज्ञानचरणेषु यो भक्तिं करोति श्रावकः श्रमणः ।
तस्य तु निर्वृत्तिभक्तिर्भवतीति जिनैः प्रज्ञप्तम् ॥१३४॥

रत्नत्रयस्वरूपाख्यानमेतत् ।

चतुर्गतिसंसारपरिभ्रमणकारणतीव्रमिथ्यात्वकर्मप्रकृतिप्रतिपक्षनिजपरमात्मतत्त्वसम्यक्-श्रद्धानावबोधाचरणात्मकेषु शुद्धरत्नत्रयपरिणामेषु भजनं भक्तिराराधनेत्यर्थः । एकादशपदेषु

अब भक्ति अधिकार कहा जाता है ।

गाथा १३४

अन्वयार्थः—[यः श्रावकः श्रमणः] जो श्रावक अथवा श्रमण [सम्यक्त्वज्ञानचरणेषु] सम्यग्दर्शन, सम्यग्ज्ञान और सम्यक्चारित्रकी [भक्तिं] भक्ति [करोति] करता है, [तस्य तु] उसे [निर्वृत्तिभक्तिः भवति] निर्वृत्तिभक्ति (निर्वाणकी भक्ति) है [इति] ऐसा [जिनैः प्रज्ञप्तम्] जिनोंने कहा है ।

टीकाः—यह, रत्नत्रयके स्वरूपका कथन है ।

चतुर्गति संसारमें परिभ्रमणके कारणभूत तीव्र मिथ्यात्वकर्मकी प्रकृतिसे प्रतिपक्ष

सम्यक्त्व, ज्ञान चारित्रकी श्रावक श्रमण भक्ति करे ।
उसको कहें निर्वाण–भक्ति परम जिनवर देव रे ॥१३४॥

श्रावकेषु जघन्याः षट्, मध्यमास्त्रयः, उत्तमौ द्वौ च, एते सर्वे शुद्धरत्नत्रयभक्तिं कुर्वन्ति । अथ भवभयभीरवः परमनैष्कर्म्यवृत्तयः परमतपोधनाश्च रत्नत्रयभक्तिं कुर्वन्ति । तेषां परमश्रावकाणां परमतपोधनानां च जिनोत्तमैः प्रज्ञप्ता निर्वृतिभक्तिरपुनर्भवपुरंध्रिकासेवा भवतीति ।

(मंदाक्रांता)

सम्यक्त्वेऽस्मिन् भवभयहरे शुद्धबोधे चरित्रे
भक्तिं कुर्यादनिशमतुलां यो भवच्छेददक्षाम् ।
कामक्रोधाद्यखिलदुरघव्रातनिर्मुक्तचेताः
भक्तो भक्तो भवति सततं श्रावकः संयमी वा ।।२२०।।

(विरुद्ध) निज परमात्मतत्त्वके सम्यक् श्रद्धान–अवबोध–आचरणस्वरूपशुद्ध-रत्नत्रय–परिणामोंका जो भजन वह भक्ति है; आराधना ऐसा उसका अर्थ है। *एकादशपदी श्रावकोंमें जघन्य छह हैं, मध्यम तीन हैं तथा उत्तम दो हैं।—यह सब शुद्धरत्नत्रयकी भक्ति करते हैं। तथा भवभयभीरु, परमनैष्कर्म्यवृत्तिवाले (परम निष्कर्म परिणतिवाले) परम तपोधन भी (शुद्ध) रत्नत्रयको भक्ति करते हैं। उन परम श्रावकों तथा परम तपोधनोंको जिनवरोंकी कही हुई निर्वाणभक्ति—अपुनर्भवरूपी स्त्रीकी सेवा—वर्तती है।

[अब इस १३४ वीं गाथाकी टीका पूर्ण करते हुए टीकाकार मुनिराज श्री पद्मप्रभमलधारिदेव श्लोक कहते हैं :]

[श्लोकार्थ:—] जो जीव भवभयके हरनेवाले इस सम्यक्त्वकी, शुद्ध ज्ञानकी और चारित्रकी भवछेदक अतुल भक्ति निरन्तर करता है, वह कामक्रोधादि समस्त दुष्ट पापसमूहसे मुक्त चित्तवाला जीव–श्रावक हो अथवा संयमी हो—निरन्तर भक्त है, भक्त है।२२०।

---

* एकादशपदी=जिनके ग्यारह पद (गुणानुसार भूमिकाएँ) हैं ऐसे। [श्रावकोंके निम्नानुसार ग्यारह पद हैं : (१) दर्शन, (२) व्रत, (३) सामायिक, (४) प्रोषधोपवास, (५) सचित्तत्याग, (६) रात्रि-भोजनत्याग, (७) ब्रह्मचर्य, (८) आरम्भत्याग, (९) परिग्रहत्याग, (१०) अनुमतित्याग और (११) उद्दिष्टाहारत्याग। उनमें छठवें पद तक (छठवीं प्रतिमा तक) जघन्य श्रावक हैं, नौवें पद तक मध्यम श्रावक हैं और दसवें तथा ग्यारहवें पद पर हों वे उत्तम श्रावक हैं। यह सब पद सम्यक्त्वपूर्वक, हठ रहित सहज दशाके हैं यह ध्यानमें रखने योग्य हैं।]

मोक्खंगयपुरिसाणं गुणभेदं जाणिऊण तेसिं पि ।
जो कुणदि परमभत्तिं ववहारणयेण परिकहियं ॥१३५॥

मोक्षगतपुरुषाणां गुणभेदं ज्ञात्वा तेषामपि ।
यः करोति परमभक्तिं व्यवहारनयेन परिकथितम् ॥१३५॥

व्यवहारनयप्रधानसिद्धभक्तिस्वरूपाख्यानमेतत् ।

ये पुराणपुरुषाः समस्तकर्मक्षयोपायहेतुभूतं कारणपरमात्मानमभेदानुपचाररत्नत्रयपरिणत्या सम्यगाराध्य सिद्धा जातास्तेषां केवलज्ञानादिशुद्धगुणभेदं ज्ञात्वा निर्वाणपरंपराहेतुभूतां परमभक्तिमासन्नभव्यः करोति, तस्य मुमुक्षोर्व्यवहारनयेन निर्वृतिभक्तिर्भवतीति ।

गाथा १३५

अन्वयार्थः—[यः] जो जीव [मोक्षगतपुरुषाणाम्] मोक्षगत पुरुषोंका [गुणभेदं] गुणभेद [ज्ञात्वा] जानकर [तेषाम् अपि] उनकी भी [परमभक्तिं] परम भक्ति [करोति] करता है, [व्यवहारनयेन] उस जीवको व्यवहारनयसे [परिकथितम्] निर्वाणभक्ति कही है ।

टीकाः—यह, व्यवहारनयप्रधान सिद्धभक्तिके स्वरूपका कथन है ।

जो पुराण पुरुष समस्तकर्मक्षयके उपायके हेतुभूत कारणपरमात्माकी अभेद-अनुपचार–रत्नत्रयपरिणतिसे सम्यक्‌रूपसे आराधना करके सिद्ध हुए उनके केवलज्ञानादि शुद्ध गुणोंके भेदको जानकर निर्वाणकी परम्पराहेतुभूत ऐसी परम भक्ति जो आसन्नभव्य जीव करता है, उस मुमुक्षुको व्यवहारनयसे निर्वाणभक्ति है ।

[अब इस १३५ वीं गाथाकी टीका पूर्ण करते हुए टीकाकार मुनिराज छह श्लोक कहते हैं :]

जो मुक्तिगत हैं उन पुरुषकी भक्ति जो गुणभेदसे–
करता, वही व्यवहारसे निर्वाणभक्ति वेद रे ॥१३५॥

(अनुष्टुभ्)

उद्धूतकर्मसंदोहान् सिद्धान् सिद्धिवधूधवान् ।
सम्प्राप्ताष्टगुणैश्वर्यान् नित्यं वन्दे शिवालयान् ॥२२१॥

(आर्या)

व्यवहारनयस्येत्थं निर्वृतिभक्तिर्जिनोत्तमैः प्रोक्ता ।
निश्चयनिर्वृतिभक्ती रत्नत्रयभक्तिरित्युक्ता ॥२२२॥

(आर्या)

निःशेषदोषदूरं केवलबोधादिशुद्धगुणनिलयं ।
शुद्धोपयोगफलमिति सिद्धत्वं प्राहुराचार्याः ॥२२३॥

(शार्दूलविक्रीडित)

ये लोकाग्रनिवासिनो भवभवक्लेशार्णवान्तं गता
ये निर्वाणवधूटिकास्तनभराश्लेषोत्थसौख्याकराः ।
ये शुद्धात्मविभावनोद्भवमहाकैवल्यसंपद्गुणाः
तान् सिद्धानभिनौम्यहं प्रतिदिनं पापाटवीपावकान् ॥२२४॥

[श्लोकार्थः—] जिन्होंने कर्मसमूहको खिरा दिया है, जो सिद्धिवधूके (मुक्तिरूपी स्त्रीके) पति हैं, जिन्होंने अष्ट गुणरूप ऐश्वर्यको संप्राप्त किया है तथा जो कल्याणके धाम हैं, उन सिद्धोंको मैं नित्य वंदन करता हूँ ।२२१।

[श्लोकार्थः—] इसप्रकार (सिद्धभगवन्तोंकी भक्तिको) व्यवहारनयसे निर्वाणभक्ति जिनवरोंने कहा है; निश्चय–निर्वाणभक्ति रत्नत्रयभक्तिको कहा है ।२२२।

[श्लोकार्थः—] आचार्योंने सिद्धत्वको निःशेष (समस्त) दोषसे दूर, केवलज्ञानादि शुद्ध गुणोंका धाम और शुद्धोपयोगका फल कहा है ।२२३।

[श्लोकार्थः—] जो लोकाग्रमें वास करते हैं, जो भवभवके क्लेशरूपी समुद्रके पारको प्राप्त हुए हैं, जो निर्वाणवधूके पुष्ट स्तनके आलिंगनसे उत्पन्न सौख्यकी खान हैं तथा जो शुद्धात्माकी भावनासे उत्पन्न कैवल्यसम्पदाके (–मोक्षसम्पदाके) महा गुणोंवाले हैं, उन पापाटवीपावक (–पापरूपी वनको जलानेमें अग्नि समान) सिद्धोंको मैं प्रतिदिन नमन करता हूँ ।२२४।

(शार्दूलविक्रीडित)

त्रैलोक्याग्रनिकेतनान् गुणगुरून् ज्ञेयाब्धिपारंगतान्
मुक्तिश्रीवनितामुखाम्बुजरवीन् स्वाधीनसौख्यार्णवान्।
सिद्धान् सिद्धगुणाष्टकान् भवहरान् नष्टाष्टकर्मोत्करान्
नित्यान् तान् शरणं व्रजामि सततं पापाटवीपावकान् ॥२२५॥

(वसन्ततिलका)

ये मर्त्यदैवनिकुरम्बपरोक्षभक्ति-
योग्याः सदा शिवमयाः प्रवराः प्रसिद्धाः ।
सिद्धाः सुसिद्धिरमणीरमणीयवक्त्र-
पंकेरुहोरुमकरंदमधुव्रताः स्युः ॥२२६॥

मोक्खपहे अप्पाणं ठविऊण य कुणदि णिव्वुदी भत्ती ।
तेण दु जीवो पावइ असहायगुणं णियप्पाणं ॥१३६॥

[श्लोकार्थः—] जो तीन लोकके अग्रभागमें निवास करते हैं, जो गुणमें भारी हैं, जो ज्ञेयरूपी महासागरके पारको प्राप्त हुए हैं, जो मुक्तिलक्ष्मीरूपी स्त्रीके मुखकमलके सूर्य हैं, जो स्वाधीन सुखके सागर हैं, जिन्होंने अष्ट गुणोंको सिद्ध (–प्राप्त) किया है, जो भवका नाश करनेवाले हैं तथा जिन्होंने आठ कर्मोंके समूहको नष्ट किया है, उन पापाटवीपावक (–पापरूपी अटवीको जलानेमें अग्नि समान) नित्य (अविनाशी) सिद्धभगवन्तोंकी मैं निरन्तर शरण लेता हूँ ।२२५।

[श्लोकार्थः—] जो मनुष्योंके तथा देवोंके समूहकी परोक्ष भक्तिके योग्य हैं, जो सदा शिवमय हैं, जो श्रेष्ठ हैं तथा जो प्रसिद्ध हैं, वे सिद्धभगवन्त सुसिद्धिरूपी रमणीके रमणीय मुखकमलके महा *मकरन्दके भ्रमर हैं (अर्थात् अनुपम मुक्तिसुखका निरन्तर अनुभव करते हैं ।२२६।

---

* मकरन्द=फूलका पराग, फूलका रस, फूलका केसर ।

रे ! जोड़ निजको मुक्ति पथमें भक्ति निर्वृतिकी करे ।
अतएव वह असहाय–गुण–सम्पन्न निज आत्मा वरे ॥१३६॥

मोक्षपथे आत्मानं संस्थाप्य च करोति निर्वृत्तेर्भक्तिम् ।
तेन तु जीवः प्राप्नोत्यसहायगुणं निजात्मानम् ॥१३६॥

निजपरमात्मभक्तिस्वरूपाख्यानमेतत् ।

भेदकल्पनानिरपेक्षनिरुपचाररत्नत्रयात्मके निरुपरागमोक्षमार्गे निरंजननिजपरमात्मानंदपीयूषपानाभिमुखो जीवः स्वात्मानं संस्थाप्यापि च करोति निर्वृतेर्मुक्त्यंगनायाः चरणनलिने परमां भक्तिं, तेन कारणेन स भव्यो भक्तिगुणेन निरावरणसहजज्ञानगुणत्वादसहायगुणात्मकं निजात्मानं प्राप्नोति ।

(स्रग्धरा)

आत्मा ह्यात्मानमात्मन्यविचलितमहाशुद्धरत्नत्रयेऽस्मिन्
नित्ये निर्मुक्तिहेतौ निरुपमसहजज्ञानदृक्शीलरूपे ।
संस्थाप्यानंदभास्वन्निरतिशयगृहं चिच्चमत्कारभक्त्या
प्राप्नोत्युच्चैरयं यं विगलितविपदं सिद्धिसीमन्तिनीशः ॥२२७॥

गाथा १३६

अन्वयार्थः—[मोक्षपथे] मोक्षमार्गमें [आत्मानं] (अपने) आत्माको [संस्थाप्य च] सम्यक् प्रकारसे स्थापित करके [निर्वृत्तेः] निर्वृत्तिकी (निर्वाणकी) [भक्तिम्] भक्ति [करोति] करता है, [तेन तु] उससे [जीवः] जीव [असहायगुणं] [1]असहाय-गुणवाले [निजात्मानम्] निज आत्माको [प्राप्नोति] प्राप्त करता है ।

टीकाः—यह, निज परमात्माकी भक्तिके स्वरूपका कथन है ।

निरंजन निज परमात्माका आनन्दामृत पान करनेमें अभिमुख जीव भेद-कल्पनानिरपेक्ष निरुपचार-रत्नत्रयात्मक [2]निरुपराग मोक्षमार्गमें अपने आत्माको सम्यक् प्रकारसे स्थापित करके निर्वृत्तिके—मुक्तिरूपी स्त्रीके—चरणकमलकी परम भक्ति करता है, उस कारणसे वह भव्य जीव भक्तिगुण द्वारा निज आत्माको—कि जो निरावरण सहज ज्ञानगुणवाला होनेसे असहायगुणात्मक है उसे—प्राप्त करता है ।

१–असहायगुणवाला=जिसे किसीकी सहायता नहीं है ऐसे गुणवाला । [आत्मा स्वतःसिद्ध सहज स्वतंत्र गुणवाला होनेसे असहायगुणवाला है ।]

२–निरुपराग=उपराग रहित; निर्विकार; निर्मल; शुद्ध ।

रायादीपरिहारे अप्पाणं जो दु जुंजदे साहू ।
सो जोगभत्तिजुत्तो इदरस्स य किह हवे जोगो ॥१३७॥

रागादिपरिहारे आत्मानं यस्तु युनक्ति साधुः ।
स योगभक्तियुक्तः इतरस्य च कथं भवेद्योगः ॥१३७॥

निश्चययोगभक्तिस्वरूपाख्यानमेतत् ।

निरवशेषेणान्तर्मुखाकारपरमसमाधिना निखिलमोहरागद्वेषादिपरभावानां परिहारे

[अब इस १३६ वीं गाथाकी टीका पूर्ण करते हुए टीकाकार मुनिराज श्लोक कहते हैं :]

[श्लोकार्थः—] इस अविचलित–महाशुद्ध–रत्नत्रयवाले, मुक्तिके हेतुभूत निरुपम–सहज–ज्ञानदर्शनचारित्ररूप, नित्य आत्मामें आत्माको वास्तवमें सम्यक् प्रकारसे स्थापित करके, यह आत्मा चैतन्यचमत्कारकी भक्ति द्वारा *निरतिशय घरको—कि जिसमेंसे विपदाएँ दूर हुई हैं तथा जो आनन्दसे भव्य (शोभायमान) है उसे—अत्यन्त प्राप्त करता है अर्थात् सिद्धरूपी स्त्रीका स्वामी होता है ।२२७।

गाथा १३७

अन्वयार्थः—[यः साधु तु] जो साधु [रागादिपरिहारे आत्मानं युनक्ति] रागादिके परिहारमें आत्माको लगाता है (अर्थात् आत्मामें आत्माको लगाकर रागादिका त्याग करता है), [सः] वह [योगभक्तियुक्तः] योगभक्तियुक्त (योगकी भक्तिवाला) है; [इतरस्य च] दूसरेको [योगः] योग [कथम्] किसप्रकार [भवेत्] हो सकता है ?

टीकाः—यह, निश्चययोगभक्तिके स्वरूपका कथन है ।

निरवशेषरूपसे अन्तर्मुखाकार (–सर्वथा अन्तर्मुख जिसका स्वरूप है ऐसी) परम समाधि द्वारा समस्त मोहरागद्वेषादि परभावोंका परिहार होने पर, जो साधु—आसन्नभव्य जीव—निज अखण्ड अद्वैत परमानन्दस्वरूपके साथ निज कारणपरमात्माको

---

* निरतिशय=जिससे कोई बढ़कर नहीं है ऐसे; अनुत्तम; श्रेष्ठ; अद्वितीय ।

रागादिके परिहारमें जो साधु जोड़े आतमा ।
है योगकी भक्ति उसे, नहिं अन्यको सम्भावना ॥१३७॥

सति यस्तु साधुरासन्नभव्यजीवः निजेनाखंडाद्वैतपरमानन्दस्वरूपेण निजकारणपरमात्मानं युनक्ति, स परमतपोधन एव शुद्धनिश्चयोपयोगभक्तियुक्तः। इतरस्य बाह्यप्रपंचसुखस्य कथं योगभक्तिर्भवति।

तथा चोक्तम्

(अनुष्टुभ्)

"आत्मप्रयत्नसापेक्षा विशिष्टा या मनोगतिः ।
तस्या ब्रह्मणि संयोगो योग इत्यभिधीयते ॥"

तथा हि—

(अनुष्टुभ्)

आत्मानमात्मनात्मायं युनक्त्येव निरन्तरम् ।
स योगभक्तियुक्तः स्यान्निश्चयेन मुनीश्वरः ॥२२८॥

सव्ववियप्पाभावे अप्पाणं जो दु जुंजदे साहू ।
सो जोगभत्तिजुत्तो इदरस्स य किह हवे जोगो ॥१३८॥

युक्त करता है, वह परम तपोधन ही शुद्धनिश्चय–उपयोगभक्तिवाला है; दूसरेको—बाह्य प्रपंचमें सुखी हो उसे—योगभक्ति किसप्रकार हो सकती है ?

इसीप्रकार (अन्यत्र श्लोक द्वारा) कहा है किः—

"[श्लोकार्थः—] आत्मप्रयत्नसापेक्ष विशिष्ट जो मनोगति उसका ब्रह्ममें संयोग होना (–आत्मप्रयत्नकी अपेक्षावाली विशेष प्रकारकी चित्तपरिणतिका आत्मामें लगना) उसे योग कहा जाता है ।"

और (इस १३७ वीं गाथाकी टीका पूर्ण करते हुए टीकाकार मुनिराज श्लोक कहते हैं) :—

[श्लोकार्थः—] जो यह आत्मा आत्माको आत्माके साथ निरन्तर जोड़ता है, वह मुनीश्वर निश्चयसे योगभक्तिवाला है ।२२८।

सब ही विकल्प अभावमें जो साधु जोड़े आतमा ।
है योगकी भक्ति उसे, नहिं अन्यको सम्भावना ॥१३८॥

सर्वविकल्पाभावे आत्मानं यस्तु युनक्ति साधुः ।
स योगभक्तियुक्तः इतरस्य च कथंभवेद्योगः ॥१३८॥

अत्रापि पूर्वसूत्रवन्निश्चययोगभक्तिस्वरूपमुक्तम् ।

अत्यपूर्वनिरुपरागरत्नत्रयात्मकनिजचिद्विलासलक्षणनिर्विकल्पपरमसमाधिना निखिलमोहरागद्वेषादिविविधविकल्पाभावे परमसमरसीभावेन निःशेषतोऽन्तर्मुखनिजकारणसमयसारस्वरूपमत्यासन्नभव्यजीवः सदा युनक्त्यैव, तस्य खलु निश्चययोगभक्तिर्नान्येषाम् इति ।

(अनुष्टुभ्)

भेदाभावे सतीयं स्याद्योगभक्तिरनुत्तमा ।
तयात्मलब्धिरूपा सा मुक्तिर्भवति योगिनाम् ॥२२९॥

गाथा १३८

अन्वयार्थः—[यः साधु तु] जो साधु [सर्वविकल्पाभावे आत्मानं युनक्ति] सर्व विकल्पोंके अभावमें आत्माको लगाता है (अर्थात् आत्मामें आत्माको जोड़कर सर्व विकल्पोंका अभाव करता है), [सः] वह [योगभक्तियुक्तः] योगभक्तिवाला है; [इतरस्य च] दूसरेको [योगः] योग [कथम्] किसप्रकार [भवेत्] हो सकता है ?

टीकाः—यहाँ भी पूर्व सूत्रकी भाँति निश्चय–योगभक्तिका स्वरूप कहा है ।

अति–अपूर्व [1]निरुपराग रत्नत्रयात्मक, [2]निजचिद्विलासलक्षण निर्विकल्प परमसमाधि द्वारा समस्त मोहरागद्वेषादि विविध विकल्पोंका अभाव होने पर, परमसमरसीभावके साथ [3]निरवशेषरूपसे अन्तर्मुख निज कारणसमयसारस्वरूपको जो अति–आसन्नभव्य जीव सदा जोड़ता ही है, उसे वास्तवमें निश्चययोगभक्ति है; दूसरोंको नहीं ।

[अब इस १३८ वीं गाथाकी टीका पूर्ण करते हुए टीकाकार मुनिराज श्लोक कहते हैं :]

[श्लोकार्थः—] भेदका अभाव होने पर यह [4]अनुत्तम योगभक्ति होती है; उसके द्वारा योगियोंको आत्मलब्धिरूप ऐसी वह (–प्रसिद्ध) मुक्ति होती है ।२२९।

१–निरुपराग=निर्विकार; शुद्ध । [परम समाधि अति–अपूर्व शुद्ध रत्नत्रयस्वरूप है ।]

२–परम समाधिका लक्षण निज चैतन्यका विलास है ।

३–निरवशेष=परिपूर्ण । [कारणसमयसारस्वरूप परिपूर्ण अन्तर्मुख है ।]

४–अनुत्तम=जिससे दूसरा कुछ उत्तम नहीं है ऐसी; सर्वश्रेष्ठ ।

विवरीयाभिणिवेसं परिचत्ता जोण्हकहियतच्चेसु ।
जो जुंजदि अप्पाणं णियभावो सो हवे जोगो ॥१३९॥

विपरीताभिनिवेशं परित्यक्त्वा जैनकथिततत्त्वेषु ।
यो युनक्ति आत्मानं निजभावः स भवेद्योगः ॥१३९॥

इह हि निखिलगुणधरगणधरदेवप्रभृतिजिनमुनिनाथकथिततत्त्वेषु विपरीताभिनिवेशविवर्जितात्मभाव एव निश्चयपरमयोग इत्युक्तः ।

अपरसमयतीर्थनाथाभिहिते विपरीते पदार्थे ह्यभिनिवेशो दुराग्रह एव विपरीताभिनिवेशः । अमुं परित्यज्य जैनकथिततत्त्वानि निश्चयव्यवहारनयाभ्यां बोद्धव्यानि । सकलजिनस्य भगवतस्तीर्थाधिनाथस्य पादपद्मोपजीविनो जैनाः, परमार्थतो गणधरदेवादय इत्यर्थः । तैरभि-

---

गाथा १३९

अन्वयार्थः—[विपरीताभिनिवेशं परित्यक्त्वा] विपरीत अभिनिवेशका परित्याग करके [यः] जो [जैनकथिततत्त्वेषु] जैनकथित तत्त्वोंमें [आत्मानं] आत्माको [युनक्ति] लगाता है, [निजभावः] उसका निज भाव [सः योगः भवेत्] वह योग है ।

टीकाः—यहाँ, समस्त गुणोंके धारण करनेवाले गणधरदेव आदि जिनमुनिनाथों द्वारा कहे हुए तत्त्वोंमें विपरीत अभिनिवेश रहित आत्मभाव ही निश्चय-परमयोग है ऐसा कहा है ।

अन्य समयके तीर्थनाथ द्वारा कहे हुए (-जैन दर्शनके अतिरिक्त अन्य दर्शनके तीर्थप्रवर्तक द्वारा कहे हुए) विपरीत पदार्थमें अभिनिवेश-दुराग्रह ही विपरीत अभिनिवेश है । उसका परित्याग करके जैनों द्वारा कहे हुए तत्त्व निश्चयव्यवहारसे जानने योग्य हैं, [1]सकलजिन ऐसे भगवान तीर्थाधिनाथके चरणकमलके [2]उपजीवक वे जैन हैं;

१-देह सहित होने पर भी तीर्थंकरदेवने रागद्वेष और अज्ञानको सम्पूर्णरूपसे जीता है इसलिये वे सकलजिन हैं ।

२-उपजीवक=सेवा करनेवाले; सेवक; आश्रित; दास ।

विपरीत आग्रह छोड़कर श्री जिन कथित जो तत्त्व हैं—
जोड़े वहाँ निज आतमा, निजभाव उसका योग है ॥१३९॥

हितानि निखिलजीवादितत्त्वानि तेषु यः परमजिनयोगीश्वरः स्वात्मानं युनक्ति, तस्य च निजभाव एव परमयोग इति ।

(वसंततिलका)

तत्त्वेषु जैनमुनिनाथमुखारविंद-
व्यक्तेषु भव्यजनताभवघातकेषु ।
त्यक्त्वा दुराग्रहममुं जिनयोगिनाथः
साक्षाद्युनक्ति निजभावमयं स योगः ॥२३०॥

उसहादिजिणवरिंदा एवं काऊण जोगवरभत्तिं ।
णिव्वुदिसुहमावण्णा तम्हा धरु जोगवरभत्तिं ॥१४०॥

वृषभादिजिनवरेन्द्रा एवं कृत्वा योगवरभक्तिम् ।
निर्वृतिसुखमापन्नास्तस्माद्धारय योगवरभक्तिम् ॥१४०॥

परमार्थसे गणधरदेव आदि ऐसा उसका अर्थ है । उन्होंने (—गणधरदेव आदि जैनोंने) कहे हुए जो समस्त जीवादि तत्त्व उनमें जो परम जिनयोगीश्वर निज आत्माको लगाता है, उसका निजभाव ही परम योग है ।

[अब इस १३९ वीं गाथाकी टीका पूर्ण करते हुए टीकाकार मुनिराज श्लोक कहते हैं :]

[श्लोकार्थः—] इस दुराग्रहको (—उपरोक्त विपरीत अभिनिवेशको) छोड़कर, जैनमुनिनाथोंके (—गणधरदेवादिक जैन मुनिनाथोंके) मुखारविन्दसे प्रगट हुए, भव्य जनोंके भवोंका नाश करनेवाले तत्त्वोंमें जो जिनयोगीनाथ (जैन मुनिवर) निज भावको साक्षात् लगाता है, उसका वह निजभाव सो योग है ।२३०।

गाथा १४०

अन्वयार्थः—[**वृषभादिजिनवरेन्द्राः**] वृषभादि जिनवरेन्द्र [**एवम्**] इसप्रकार [**योगवरभक्तिम्**] योगकी उत्तम भक्ति [**कृत्वा**] करके [**निर्वृतिसुखम्**] निर्वृतिसुखको [**आपन्नाः**] प्राप्त हुए; [**तस्मात्**] इसलिये [**योगवरभक्तिम्**] योगकी उत्तम भक्तिको [**धारय**] तू धारण कर ।

वृषभादि जिनवर भक्ति उत्तम इस तरह कर योगकी ।
निर्वृति सुख पाया अतः कर भक्ति उत्तम योगकी ॥१४०॥

भक्त्यधिकारोपसंहारोपन्यासोयम् ।

अस्मिन् भारते वर्षे पुरा किल श्रीनाभेयादिश्रीवर्द्धमानचरमाः चतुर्विंशतितीर्थंकर-परमदेवाः सर्वज्ञवीतरागाः त्रिभुवनवर्तिकीर्तयो महादेवाधिदेवाः परमेश्वराः सर्वे एवमुक्तप्रकार-स्वात्मसंबन्धिनीं शुद्धनिश्चययोगवरभक्तिं कृत्वा परमनिर्वाणवधूटिकापीवरस्तनभरगाढोपगूढ-निर्भरानन्दपरमसुधारसपूरपरितृप्तसर्वात्मप्रदेशा जाताः, ततो यूयं महाजनाः स्फुटितभव्यत्व-गुणास्तां स्वात्मार्थपरमवीतरागसुखप्रदां योगभक्तिं कुरुतेति ।

(शार्दूलविक्रीडित)

नाभेयादिजिनेश्वरान् गुणगुरून् त्रैलोक्यपुण्योत्करान्
श्रीदेवेन्द्रकिरीटकोटिविलसन्माणिक्यमालार्चितान् ।
पौलोमीप्रभृतिप्रसिद्धदिविजाधीशांगनासंहतेः
शक्रेणोद्भवभोगहासविमलान् श्रीकीर्तिनाथान् स्तुवे ॥२३१॥

टीकाः—यह, भक्ति अधिकारके उपसंहारका कथन है ।

इस भारतवर्षमें पहले श्री नाभिपुत्रसे लेकर श्री वर्द्धमान तकके चौवीस तीर्थंकर–परमदेव–सर्वज्ञवीतराग, त्रिलोकवर्ती कीर्तिवाले महादेवाधिदेव परमेश्वर—सब, यथोक्त प्रकारसे निज आत्माके साथ सम्बन्ध रखनेवाली शुद्धनिश्चययोगकी उत्तम भक्ति करके, परमनिर्वाणवधूके अति पुष्ट स्तनके गाढ़ आलिंगनसे सर्व आत्मप्रदेशमें अत्यन्त–आनन्दरूपी परमसुधारसके पूरसे परितृप्त हुए; इसलिये *स्फुटित–भव्यत्वगुण-वाले हे महाजनो ! तुम निज आत्माको परम वीतराग सुखकी देनेवाली ऐसी वह योगभक्ति करो ।

[अब इस परम–भक्ति अधिकारकी अन्तिम गाथाकी टीका पूर्ण करते हुए टीकाकार मुनिराज श्री पद्मप्रभमलधारिदेव सात श्लोक कहते हैं :]

[श्लोकार्थः—] गुणमें जो बड़े हैं, जो त्रिलोकके पुण्यकी राशि हैं (अर्थात् जिनमें मानों कि तीन लोकके पुण्य एकत्रित हुए हैं), देवेन्द्रोंके मुकुटकी किनारी पर प्रकाशमान माणिकपंक्तिसे जो पूजित हैं (अर्थात् जिनके चरणारविन्दमें देवेन्द्रोंके मुकुट

---

* स्फुटित=प्रकटित; प्रगट हुए; प्रगट ।

(आर्या)

वृषभादिवीरपश्चिमजिनपतयोऽप्येवमुक्तमार्गेण ।
कृत्वा तु योगभक्तिं निर्वाणवधूटिकासुखं यान्ति ॥२३२॥

(आर्या)

अपुनर्भवसुखसिद्धयै कुर्वेऽहं शुद्धयोगवरभक्तिम् ।
संसारघोरभीत्या सर्वे कुर्वन्तु जन्तवो नित्यम् ॥२३३॥

(शार्दूलविक्रीडित)

रागद्वेषपरंपरापरिणतं चेतो विहायाधुना
शुद्धध्यानसमाहितेन मनसानंदात्मतत्त्वस्थितः ।
धर्मं निर्मलशर्मकारिणमहं लब्ध्वा गुरोः सन्निधौ
ज्ञानापास्तसमस्तमोहमहिमा लीये परब्रह्मणि ॥२३४॥

झुकते हैं), (जिनके आगे) शची आदि प्रसिद्ध इन्द्राणियोंके साथमें शक्रेन्द्र द्वारा किये जानेवाले नृत्य, गान तथा आनन्दसे जो सुशोभित हैं, और *श्री तथा कीर्तिके जो स्वामी हैं, उन श्री नाभिपुत्रादि जिनेश्वरोंका मैं स्तवन करता हूँ ।२३१।

[श्लोकार्थः—] श्री वृषभसे लेकर श्री वीर तकके जिनपति भी यथोक्त मार्गसे (पूर्वोक्त प्रकारसे) योगभक्ति करके निर्वाणवधूके सुखको प्राप्त हुए हैं ।२३२।

[श्लोकार्थः—] अपुनर्भवसुखकी (मुक्तिसुखकी) सिद्धिके हेतु मैं शुद्ध योगकी उत्तम भक्ति करता हूँ; संसारकी घोर भीतिसे जीव नित्य वह उत्तम भक्ति करो ।२३३।

[श्लोकार्थः—] गुरुके सान्निध्यमें निर्मलसुखकारी धर्मको प्राप्त करके, ज्ञान द्वारा जिसने समस्त मोहकी महिमा नष्ट की है ऐसा मैं, अब रागद्वेषकी परम्परारूपसे परिणत चित्तको छोड़कर, शुद्ध ध्यान द्वारा समाहित (–एकाग्र, शान्त) किये हुए मनसे आनन्दात्मक तत्त्वमें स्थित रहता हुआ, परब्रह्ममें (परमात्मामें) लीन होता हूँ ।२३४।

---

* श्री=शोभा; सौन्दर्य; भव्यता ।

(अनुष्टुभ्)

निर्वृतेन्द्रियलौल्यानां तत्त्वलोलुपचेतसाम् ।
सुन्दरानन्दनिष्यन्दं जायते तत्त्वमुत्तमम् ॥२३५॥

(अनुष्टुभ्)

अत्यपूर्वनिजात्मोत्थभावनाजातशर्मणे ।
यतन्ते यतयो ये ते जीवन्मुक्ता हि नापरे ॥२३६॥

(वसंततिलका)

अद्वन्द्वनिष्ठमनघं परमात्मतत्त्वं
संभावयामि तदहं पुनरेकमेकम् ।
किं तैश्च मे फलमिहान्यपदार्थसार्थैः
मुक्तिस्पृहस्य भवशर्मणि निःस्पृहस्य ॥२३७॥

इति सुकविजनपयोजमित्रपंचेन्द्रियप्रसरवर्जितगात्रमात्रपरिग्रहश्रीपद्मप्रभमलधारिदेवविरचितायां नियमसारव्याख्यायां तात्पर्यवृत्तौ परमभक्त्यधिकारो दशमः श्रुतस्कन्धः ॥

[श्लोकार्थः—] इन्द्रियलोलुपता जिनको निवृत्त हुई है और तत्त्वलोलुप (तत्त्वप्राप्तिके लिये अत्यन्त उत्सुक) जिनका चित्त है, उन्हें सुन्दर–आनन्दझरता उत्तम तत्त्व प्रगट होता है ।२३५।

[श्लोकार्थः—] अति अपूर्व निजात्मजनित भावनासे उत्पन्न होनेवाले सुखके लिये जो यति यत्न करते हैं, वे वास्तवमें जीवन्मुक्त होते हैं, दूसरे नहीं ।२३६।

[श्लोकार्थः—] जो परमात्मतत्त्व (रागद्वेषादि) द्वंद्वमें स्थित नहीं है और अनघ (निर्दोष, मल रहित) है, उस केवल एककी मैं पुनः पुनः सम्भावना (सम्यक् भावना) करता हूँ । मुक्तिकी स्पृहावाले तथा भवसुखके प्रति निःस्पृह ऐसे मुझे इस लोकमें उन अन्यपदार्थसमूहोंसे क्या फल है ? ।२३७।

इसप्रकार, सुकविजनरूपी कमलोंके लिये जो सूर्य समान हैं और पाँच इन्द्रियोंके विस्तार रहित देहमात्र जिन्हें परिग्रह था ऐसे श्री पद्मप्रभमलधारिदेव द्वारा रचित नियमसारकी तात्पर्यवृत्ति नामक टीकामें (अर्थात् श्रीमद्भगवत्कुन्दकुन्दाचार्यदेवप्रणीत श्री नियमसार परमागमकी निर्ग्रन्थ मुनिराज श्री पद्मप्रभमलधारिदेवविरचित तात्पर्यवृत्ति नामकी टीकामें) परमभक्त्यधिकार नामका दशवाँ श्रुतस्कन्ध समाप्त हुआ ।

– ११ –

निश्चयपरमावश्यकाधिकारः

अथ सांप्रतं व्यवहारषडावश्यकप्रतिपक्षशुद्धनिश्चयाधिकार उच्यते ।

जो ण हवदि अण्णवसो तस्स दु कम्मं भणंति आवासं ।
कम्मविणासणजोगो णिव्वुदिमग्गो त्ति पिज्जुत्तो ॥१४१॥

यो न भवत्यन्यवशः तस्य तु कर्म भणन्त्यावश्यकम् ।
कर्मविनाशनयोगो निर्वृत्तिमार्ग इति प्ररूपितः ॥१४१॥

अत्रानवरतस्ववशस्य निश्चयावश्यककर्म भवतीत्युक्तम् ।

अब व्यवहार छह आवश्यकोंसे प्रतिपक्ष शुद्धनिश्चयका (शुद्धनिश्चय–आवश्यकका) अधिकार कहा जाता है ।

गाथा १४१

अन्वयार्थः—[यः अन्यवशः न भवति] जो अन्यवश नहीं है (अर्थात् जो जीव अन्यके वश नही है) [तस्य तु आवश्यकम् कर्म भणन्ति] उसे आवश्यक कम कहते हैं (अर्थात् उस जीवको आवश्यक कर्म है ऐसा परम योगीश्वर कहते हैं) । [कर्मविनाशनयोगः] कर्मका विनाश करनेवाला योग (–ऐसा जो यह आवश्यक कर्म) [निर्वृत्तिमार्गः] वह निर्वाणका मार्ग है [इति प्ररूपितः] ऐसा कहा है ।

टीकाः—यहाँ (इस गाथामें), निरन्तर स्ववशको निश्चय–आवश्यक–कर्म है ऐसा कहा है ।

नहिं अन्यवश जो जीव आवश्यक करम होता उसे ।
यह कर्म–नाशक योग ही निर्वाणमार्ग प्रसिद्ध रे ॥१४१॥

यः खलु यथाविधि परमजिनमार्गाचरणकुशलः सर्वदैवान्तर्मुखत्वादनन्यवशो भवति किन्तु साक्षात्स्ववश इत्यर्थः। तस्य किल व्यावहारिकक्रियाप्रपंचपराङ्मुखस्य स्वात्माश्रयनिश्चय-धर्मध्यानप्रधानपरमावश्यककर्मास्तीत्यनवरतं परमतपश्चरणनिरतपरमजिनयोगीश्वरा वदन्ति। किं च यस्त्रिगुप्तिगुप्तपरमसमाधिलक्षणपरमयोगः सकलकर्मविनाशहेतुः स एव साक्षान्मोक्षकारण-त्वान्निर्वृतिमार्ग इति निरुक्तिर्व्युत्पत्तिरिति।

तथा चोक्तं श्रीमदमृतचन्द्रसूरिभिः—

(मंदाक्रांता)

"आत्मा धर्मः स्वयमिति भवन् प्राप्य शुद्धोपयोगं
नित्यानन्दप्रसरसरसे ज्ञानतत्त्वे निलीय।
प्राप्स्यत्युच्चैरविचलतया निःप्रकम्पप्रकाशां
स्फूर्जज्ज्योतिः सहजविलसद्रत्नदीपस्य लक्ष्मीम्॥"

विधि अनुसार परमजिनमार्गके आचरणमें कुशल ऐसा जो जीव सदैव अंतर्मुखताके कारण अन्यवश नहीं है परन्तु साक्षात् स्ववश है [1]ऐसा अर्थ है, उस व्यावहारिक क्रियाप्रपंचसे पराङ्मुख जीवको [2]स्वात्माश्रित-निश्चयधर्मध्यानप्रधान परम आवश्यक कर्म है ऐसा निरन्तर परमतपश्चरणमें लीन परमजिनयोगीश्वर कहते हैं। और, सकल कर्मके विनाशका हेतु ऐसा जो [3]त्रिगुप्तिगुप्त-परमसमाधिलक्षण परम योग वही साक्षात् मोक्षका कारण होनेसे निर्वाणका मार्ग है। ऐसी निरुक्ति अर्थात् व्युत्पत्ति है।

इसीप्रकार (आचार्यदेव) श्रीमद् अमृतचन्द्रसूरिने (श्री प्रवचनसारकी तत्त्व-दीपिका नामक टीकामें पाँचवें श्लोक द्वारा) कहा है किः—

"[श्लोकार्थः—] इसप्रकार शुद्धोपयोगको प्राप्त करके आत्मा स्वयं धर्म होता हुआ अर्थात् स्वयं धर्मरूपसे परिणमित होता हुआ नित्य आनन्दके विस्तारसे सरस (अर्थात् जो शाश्वत आनन्दके विस्तारसे रसंयुक्त हैं) ऐसे ज्ञानतत्त्वमें लीन होकर,

---

१—"अन्यवश नहीं है" इस कथनका "साक्षात् स्ववश है" ऐसा अर्थ है।

२—निज आत्मा जिसका आश्रय है ऐसा निश्चयधर्मध्यान परम आवश्यक कर्ममें प्रधान है।

३—परम योगका लक्षण तीन गुप्ति द्वारा गुप्त (—अन्तर्मुख) ऐसी परम समाधि है। [परम आवश्यक कर्म ही परम योग है और परम योग वह निर्वाणका मार्ग है।]

तथा हि—

(मंदाक्रांता)

आत्मन्युच्चैर्भवति नियतं सच्चिदानन्दमूर्तौ
धर्मः साक्षात् स्ववशजनितावश्यकर्मात्मकोऽयम् ।
सोऽयं कर्मक्षयकरपटुर्निर्वृतेरेकमार्गः
तेनैवाहं किमपि तरसा यामि शं निर्विकल्पम् ॥२३८॥

ण वसो अवसो अवसस्स कम्म वावस्सयं ति बोद्धव्वा ।
जुत्ति त्ति उवाअं ति य णिरवयवो होदि णिज्जुत्ती ॥१४२॥

न वशो अवशः अवशस्य कर्म वाऽवश्यकमिति बोद्धव्यम् ।
युक्तिरिति उपाय इति च निरवयवो भवति निरुक्तिः ॥१४२॥

अत्यन्त अविचलपनेके कारण, देदीप्यमान ज्योतिवाले और सहजरूपसे विलसित (—स्वभावसे ही प्रकाशित) रत्नदीपककी निष्कंप-प्रकाशवाली शोभाको प्राप्त होता है (अर्थात् रत्नदीपककी भाँति स्वभावसे ही निष्कंपरूपसे अत्यन्त प्रकाशित होता रहता है—जानता रहता है) ।"

और (इस १४१ वीं गाथाकी टीका पूर्ण करते हुए टीकाकार मुनिराज श्री पद्मप्रभमलधारिदेव श्लोक कहते हैं) :—

[श्लोकार्थ:—] स्ववशतासे उत्पन्न आवश्यक-कर्मस्वरूप यह साक्षात् धर्म नियमसे (निश्चित) सच्चिदानन्दमूर्ति आत्मामें (सत्-चिद्-आनन्दस्वरूप आत्मामें) अतिशयरूपसे होता है। ऐसा यह (आत्मस्थित धर्म), कर्मक्षय करनेमें कुशल ऐसा निर्वाणका एक मार्ग है। उसीसे मैं शीघ्र किसी (—अद्भुत) निर्विकल्प सुखको प्राप्त करता हूँ।२३८।

गाथा १४२

अन्वयार्थ:—[न वशः अवशः] जो (अन्यके) वश नहीं है वह "अवश" है [वा] और [अवशस्य कर्म] अवशका कर्म वह [आवश्यकम्] "आवश्यक" है

जो वश नहीं वह 'अवश' आवश्यक अवशका कर्म है ।
वह युक्ति है वह यत्न है, निरवयव कर्ता धर्म है ॥१४२॥

अवशस्य परमजिनयोगीश्वरस्य परमावश्यककर्मावश्यं भवतीत्यत्रोक्तम् ।

यो हि योगी स्वात्मपरिग्रहादन्येषां पदार्थानां वशं न गतः, अत एव अवश इत्युक्तः, अवशस्य तस्य परमजिनयोगीश्वरस्य निश्चयधर्मध्यानात्मकपरमावश्यककर्मावश्यं भवतीति बोद्धव्यम् । निरवयवस्योपायो युक्तिः । अवयवः कायः, अस्याभावात् अवयवाभावः । अवशः परद्रव्याणां निरवयवो भवतीति निरुक्तिः व्युत्पत्तिश्चेति ।

(मंदाक्रांता)

योगी कश्चित्स्वहितनिरतः शुद्धजीवास्तिकायाद्
अन्येषां यो न वश इति या संस्थितिः सा निरुक्तिः ।
तस्मादस्य प्रहतदुरितध्वान्तपुंजस्य नित्यं
स्फूर्जज्ज्योतिःस्फुटितसहजावस्थयाऽमूर्तता स्यात् ।।२३९।।

[इति बोद्धव्यम्] ऐसा जानना; [युक्तिः इति] वह (अशरीरी होनेकी) युक्ति है, [उपायः इति च] वह (अशरीर होनेका) उपाय है, [निरवयवः भवति] उससे जीव निरवयव (अर्थात् अशरीर) होता है । [निरुक्तिः] ऐसी निरुक्ति है ।

टीकाः—यहां, *अवश परमजिनयोगीश्वरको परम आवश्यक कर्म अवश्य है ऐसा कहा है ।

जो योगी निज आत्माके परिग्रहके अतिरिक्त अन्य पदार्थोंके वश नहीं होता और इसीलिये जिसे "अवश" कहा जाता है, उस अवश परमजिनयोगीश्वरको निश्चयधर्म-ध्यानस्वरूप परम–आवश्यक–कर्म अवश्य है ऐसा जानना । (वह परम–आवश्यक कर्म) निरवयवपनेका उपाय है, युक्ति है । अवयव अर्थात् काय; उसका (कायका) अभाव वह अवयवका अभाव (अर्थात् निरवयवपना) । परद्रव्योंको अवश जीव निरवयव होता है (अर्थात् जो जीव परद्रव्योंको वश नहीं होता वह अकाय होता है) । इसप्रकार निरुक्ति–व्युत्पत्ति है ।

[अब इस १४२ वीं गाथाकी टीका पूर्ण करते हुए टीकाकार मुनिराज श्लोक कहते हैं :]

[श्लोकार्थः—] कोई योगी स्वहितमें लीन रहता हुआ शुद्धजीवास्तिकायके अतिरिक्त अन्य पदार्थोंके वश नहीं होता । इसप्रकार जो सुस्थित रहना सो निरुक्ति

---

* अवश=परके वश न हों ऐसे; स्ववश; स्वाधीन; स्वतंत्र ।

वट्टदि जो सो समणो अण्णवसो होदि असुहभावेण।
तम्हा तस्स दु कम्मं आवस्सयलक्खणं ण हवे ॥१४३॥

वर्तते यः स श्रमणोऽन्यवशो भवत्यशुभभावेन।
तस्मात्तस्य तु कर्मावश्यकलक्षणं न भवेत् ॥१४३॥

इह हि भेदोपचाररत्नत्रयपरिणतेर्जीवस्यावशत्वं न समस्तीत्युक्तम्।

अप्रशस्तरागाद्यशुभभावेन यः श्रमणाभासो द्रव्यलिंगी वर्तते स्वस्वरूपादन्येषां परद्रव्याणां वशो भूत्वा, ततस्तस्य जघन्यरत्नत्रयपरिणतेर्जीवस्य स्वात्माश्रयनिश्चयधर्मध्यानलक्षणपरमावश्यककर्म न भवेदिति अशनार्थं द्रव्यलिंगं गृहीत्वा स्वात्मकार्यविमुखः सन् परम-

---

(अर्थात् अवशपनेका व्युत्पत्ति–अर्थ) है। ऐसा करनेसे (–अपनेमें लीन रहकर परको वश न होनेसे) *दुरितरूपी तिमिरपुंजका जिसने नाश किया है ऐसे उस योगीको सदा प्रकाशमान ज्योति द्वारा सहज अवस्था प्रगट होनेसे अमूर्तपना होता है।२३९।

गाथा १४३

अन्वयार्थः—[यः] जो [अशुभभावेन] अशुभ भाव सहित [वर्तते] वर्तता है, [सः श्रमणः] वह श्रमण [अन्यवशः भवति] अन्यवश है; [तस्मात्] इसलिये [तस्य तु] उसे [आवश्यकलक्षणं कर्म] आवश्यकस्वरूप कर्म [न भवेत्] नहीं है।

टीकाः—यहां, भेदोपचार–रत्नत्रयपरिणतिवाले जीवको अवशपना नहीं है ऐसा कहा है।

जो श्रमणाभास—द्रव्यलिंगी अप्रशस्त रागादिरूप अशुभभाव सहित वर्तता है, वह निज स्वरूपसे अन्य (–भिन्न) ऐसे परद्रव्योंके वश है; इसलिये उस जघन्य रत्नत्रय-परिणतिवाले जीवको स्वात्माश्रित निश्चय–धर्मध्यानस्वरूप परम–आवश्यक–कर्म नहीं है। (वह श्रमणाभास) भोजन हेतु द्रव्यलिंग ग्रहण करके स्वात्मकार्यसे विमुख रहता

---

* दुरित=दुष्कृत; दुष्कर्म। (पाप तथा पुण्य दोनों वास्तवमें दुरित हैं।)

वर्ते अशुभ परिणाममें वह श्रमण है वश अन्यके।
अतएव आवश्यक—स्वरूप न कर्म होता है उसे ॥१४३॥

तपश्चरणादिकमप्युदास्य जिनेन्द्रमंदिरं वा तत्क्षेत्रवास्तुधनधान्यादिकं वा सर्वमस्मदीयमिति मनश्चकारेति ।

(मालिनी)

अभिनवमिदमुच्चैर्मोहनीयं मुनीनां
त्रिभुवनभुवनान्तर्ध्वांतपुंजायमानम् ।
तृणगृहमपि मुक्त्वा तीव्रवैराग्यभावाद्
वसतिमनुपमां तामस्मदीयां स्मरन्ति ॥२४०॥

(शार्दूलविक्रीडित)

कोपि क्वापि मुनिर्बभूव सुकृती काले कलावप्यलं
मिथ्यात्वादिकलंकपंकरहितः सद्धर्मरक्षामणिः ।
सोऽयं संप्रति भूतले दिवि पुनर्देवैश्च संपूज्यते
मुक्तानेकपरिग्रहव्यतिकरः पापाटवीपावकः ॥२४१॥

हुआ परम तपश्चरणादिके प्रति भी उदासीन (लापरवाह) रहकर जिनेन्द्रमन्दिर अथवा उसका क्षेत्र, मकान, धन, धान्यादिक सब हमारा है ऐसी बुद्धि करता है ।

[अब इस १४३ वी गाथाकी टीका पूर्ण करते हुए टीकाकार मुनिराज पाँच श्लोक कहते हैं :]

[श्लोकार्थ:—] त्रिलोकरूपी मकानमें रहे हुए (महा) तिमिरपुंज जैसा मुनिओंका यह (कोई) नवीन तीव्र मोहनीय है कि (पहले) वे तीव्र वैराग्यभावसे घासके घरको भी छोड़कर (फिर) "हमारा वह अनुपम घर !" ऐसा स्मरण करते हैं ! ।२४०।

[श्लोकार्थ:—] कलिकालमें भी कहीं कोई भाग्यशाली जीव मिथ्यात्वादिरूप मलकीचड़से रहित और *सद्धर्मरक्षामणि ऐसा समर्थ मुनि होता है । जिसने अनेक परिग्रहोंके विस्तारको छोड़ा है और जो पापरूपी अटवीको जलानेवाली अग्नि है ऐसा यह मुनि इस काल भूतलमें तथा देवलोकमें देवोंसे भी भलीभाँति पुजता है ।२४१।

---

* सद्धर्मरक्षामणि=सद्धर्मकी रक्षा करनेवाला मणि । (रक्षामणि=आपत्तियोंसे अथवा पिशाच आदिसे अपनेको बचानेके लिये पहिना जानेवाला मणि ।)

(शिखरिणी)

तपस्या लोकेस्मिन्निखिलसुधियां प्राणदयिता ।
नमस्या सा योग्या शतमखशतस्यापि सततम्
परिप्राप्यैतां यः स्मरतिमिरसंसारजनितं
सुखं रेमे कश्चिद्बत कलिहतोऽसौ जडमतिः ॥२४२॥

(आर्या)

अन्यवशः संसारी मुनिवेषधरोपि दुःखभाङनित्यम् ।
स्ववशो जीवन्मुक्तः किंचिन्न्यूनो जिनेश्वरादेषः ॥२४३॥

(आर्या)

अत एव भाति नित्यं स्ववशो जिननाथमार्गमुनिवर्गे ।
अन्यवशो भात्येवं भृत्यप्रकरेषु राजवल्लभवत् ॥२४४॥

जो चरदि संजदो खलु सुहभावे सो हवेइ अण्णवसो ।
तम्हा तस्स दु कम्मं आवासयलक्खणं ण हवे ॥१४४॥

[श्लोकार्थः—] इस लोकमें तपश्चर्या समस्त सुबुद्धियोंको प्राणप्यारी है; वह योग्य तपश्चर्या सो इन्द्रोंको भी सतत वंदनीय है । उसे प्राप्त करके जो कोई जीव कामान्धकारयुक्त संसारजनित सुखमें रमता है, वह जड़मति अरेरे ! कलिसे हना हुआ है (–कलिकालसे घायल हुआ है) ।२४२।

[श्लोकार्थः—] जो जीव अन्यवश है वह भले मुनिवेषधारी हो तथापि संसारी है, नित्य दुःखका भोगनेवाला है; जो जीव स्ववश है वह जीवन्मुक्त है, जिनेश्वरसे किंचित् न्यून है (अर्थात् उसमें जिनेश्वरदेवकी अपेक्षा थोड़ी-सी कमी है) ।२४३।

[श्लोकार्थः—] ऐसा होनेसे ही जिननाथके मार्गमें मुनिवर्गमें स्ववश मुनि सदा शोभा देता है; और अन्यवश मुनि नौकरके समूहोंमें *राजवल्लभ नौकर समान शोभा देता है (अर्थात् जिसप्रकार योग्यता रहित, खुशामदी नौकर शोभा नहीं देता उसीप्रकार अन्यवश मुनि शोभा नहीं देता) ।२४४।

---

* राजवल्लभ=जो (खुशामदसे) राजाका मानीता (माना हुआ) बन गया हो ।

संयत चरे शुभभावमें वह श्रमण है वश अन्यके ।
अतएव आवश्यक–स्वरूप न कर्म होता है उसे ॥१४४॥

यश्चरति संयतः खलु शुभभावे स भवेदन्यवशः ।
तस्मात्तस्य तु कर्मावश्यकलक्षणं न भवेत् ॥१४४॥

अत्राप्यन्यवशस्याशुद्धान्तरात्मजीवस्य लक्षणमभिहितम् ।

यः खलु जिनेन्द्रवदनारविन्दविनिर्गतपरमाचारशास्त्रक्रमेण सदा संयतः सन् शुभोपयोगे चरति, व्यावहारिकधर्मध्यानपरिणतः अत एव चरणकरणप्रधानः, स्वाध्यायकालमवलोकयन् स्वाध्यायक्रियां करोति, दैनं दैनं भुक्त्वा भुक्त्वा चतुर्विधाहारप्रत्याख्यानं च करोति, तिसृषु संध्यासु भगवदर्हत्परमेश्वरस्तुतिशतसहस्रमुखरमुखारविन्दो भवति, त्रिकालेषु च नियमपरायणः इत्यहोरात्रेऽप्येकादशक्रियातत्परः, पाक्षिकमासिकचातुर्मासिकसांवत्सरिकप्रतिक्रमणा-

---

गाथा १४४

अन्वयार्थः—[यः] जो (जीव) [संयतः] संयत रहता हुआ [खलु] वास्तवमें [शुभभावे] शुभ भावमें [चरति] चरता—प्रवर्तता है, [सः] वह [अन्यवशः भवेत्] अन्यवश है; [तस्मात्] इसलिये [तस्य तु] उसे [आवश्यकलक्षणं कर्म] आवश्यकस्वरूप कर्म [न भवेत्] नहीं है ।

टीकाः—यहाँ भी (इस गाथामें भी), अन्यवश ऐसे अशुद्धअन्तरात्मजीवका लक्षण कहा है ।

जो (श्रमण) वास्तवमें जिनेन्द्रके मुखारविन्दसे निकले हुए परम-आचार-शास्त्रके क्रमसे (रीतिसे) सदा संयत रहता हुआ शुभोपयोगमें चरता—प्रवर्तता है; व्यावहारिक धर्मध्यानमें परिणत रहता है इसीलिये *चरणकरणप्रधान है; स्वाध्याय-कालका अवलोकन करता हुआ (–स्वाध्याययोग्य कालका ध्यान रखकर) स्वाध्याय-क्रिया करता है, प्रतिदिन भोजन करके चतुर्विध आहारका प्रत्याख्यान करता है, तीन संध्याओंके समय (–प्रातः, मध्याह्न तथा सायंकाल) भगवान अर्हत् परमेश्वरकी लाखों स्तुति मुखकमलसे बोलता है, तीनों काल नियमपरायण रहता है (अर्थात् तीनों समयके नियमोंमें तत्पर रहता है),—इसप्रकार अहर्निश (दिन–रात मिलकर) ग्यारह क्रियाओंमें तत्पर रहता है; पाक्षिक, मासिक, चातुर्मासिक तथा सांवत्सरिक प्रतिक्रमण सुननेसे उत्पन्न हुए सन्तोषसे जिसका धर्मशरीर रोमांचसे छा जाता है;

---

* चरणकरणप्रधान=शुभ आचरणके परिणाम जिसे मुख्य हैं ऐसा ।

कर्णनसमुपजनितपरितोषरोमांचकंचुकितधर्मशरीरः, अनशनावमौदर्यरसपरित्यागवृत्तिपरिसंख्यानविविक्तशयनासनकायक्लेशाभिधानेषु षट्सु बाह्यतपस्सु च संततोत्साहपरायणः, स्वाध्यायध्यानशुभाचरणप्रच्युतप्रत्यवस्थापनात्मकप्रायश्चित्तविनयवैयावृत्त्यव्युत्सर्गनामधेयेषु चाभ्यंतरतपोनुष्ठानेषु च कुशलबुद्धिः, किन्तु स निरपेक्षतपोधनः साक्षान्मोक्षकारणं स्वात्माश्रयावश्यककर्म निश्चयतः परमात्मतत्त्वविश्रान्तिरूपं निश्चयधर्मध्यानं शुक्लध्यानं च न जानीते, अतः परद्रव्यगतत्वादन्यवश इत्युक्तः। अस्य हि तपश्चरणनिरतचित्तस्यान्यवशस्य नाकलोकादिक्लेशपरंपरया शुभोपयोगफलात्मभिः प्रशस्तरागांगारैः पच्यमानः सन्नासन्नभव्यतागुणोदये सति परमगुरुप्रसादासादितपरमतत्त्वश्रद्धानपरिज्ञानानुष्ठानात्मकशुद्धनिश्चयरत्नत्रयपरिणत्या निर्वाणमुपयातीति।

(हरिणी)

त्यजतु सुरलोकादिक्लेशे रतिं मुनिपुंगवो
भजतु परमानन्दं निर्वाणकारणकारणम्।
सकलविमलज्ञानावासं　निरावरणात्मकं
सहजपरमात्मानं दूरं नयानयसंहतेः ॥२४५॥

अनशन, अवमौदर्य, रसपरित्याग, वृत्तिपरिसंख्यान, विविक्त शय्यासन और कायक्लेश नामके छह बाह्य तपमें जो सतत उत्साहपरायण रहता है; स्वाध्याय, ध्यान, शुभ आचरणसे च्युत होनेपर पुनः उनमें स्थापनस्वरूप प्रायश्चित्त, विनय, वैयावृत्य और व्युत्सर्ग नामक अभ्यन्तर तपोंके अनुष्ठानमें (आचरणमें) जो कुशलबुद्धिवाला है; परन्तु वह निरपेक्ष तपोधन साक्षात् मोक्षके कारणभूत स्वात्माश्रित आवश्यक–कर्मको —निश्चयसे परमात्मतत्त्वमें विश्रान्तिरूप निश्चयधर्मध्यानको तथा शुक्लध्यानको—नहीं जानता; इसलिये परद्रव्यमें परिणत होनेसे उसे अन्यवश कहा गया है। जिसका चित्त तपश्चरणमें लीन है ऐसा यह अन्यवश श्रमण देवलोकादिके क्लेशकी परम्परा प्राप्त होनेसे शुभोपयोगके फलस्वरूप प्रशस्त रागरूपी अंगारोंसे सिकता हुआ, आसन्नभव्यतारूपी गुणका उदय होने पर परमगुरुके प्रसादसे प्राप्त परमतत्त्वके श्रद्धान–ज्ञान–अनुष्ठानस्वरूप शुद्ध–निश्चय–रत्नत्रयपरिणति द्वारा निर्वाणको प्राप्त होता है (अर्थात् कभी शुद्ध–निश्चयरत्नत्रयपरिणतिको प्राप्त कर ले तो ही और तभी निर्वाणको प्राप्त करता है)।

[अब इस १४४ वीं गाथाकी टीका पूर्ण करते हुए टीकाकार मुनिराज श्लोक कहते हैं :]

दव्वगुणपज्जयाणं चित्तं जो कुणइ सो वि अण्णवसो ।
मोहंधयारववगयसमणा कहयंति एरिसयं ॥१४५॥

द्रव्यगुणपर्यायाणां चित्तं यः करोति सोऽप्यन्यवशः ।
मोहान्धकारव्यपगतश्रमणाः कथयन्तीदृशम् ॥१४५॥

अत्राप्यन्यवशस्य स्वरूपमुक्तम् ।

यः कश्चिद् द्रव्यलिंगधारी भगवदर्हन्मुखारविन्दविनिर्गतमूलोत्तरपदार्थसार्थप्रतिपादन-समर्थः क्वचित् षण्णां द्रव्याणां मध्ये चित्तं धत्ते, क्वचित्तेषां मूर्तामूर्तचेतनाचेतनगुणानां मध्ये

[श्लोकार्थः—] मुनिवर देवलोकादिके क्लेशके प्रति रति छोड़ो और *निर्वाणके कारणका कारण ऐसे सहजपरमात्माको भजो— कि जो सहजपरमात्मा परमानन्दमय है, सर्वथा निर्मल ज्ञानका आवास है, निरावरणस्वरूप है तथा नय-अनयके समूहसे (सुनयों तथा कुनयोंके समूहसे) दूर है ।२४५।

गाथा १४५

अन्वयार्थः—[यः] जो [द्रव्यगुणपर्यायाणां] द्रव्य-गुण-पर्यायोंमें (अर्थात् उनके विकल्पोंमें) [चित्तं करोति] मन लगाता है, [सः अपि] वह भी [अन्यवशः] अन्यवश है; [मोहान्धकारव्यपगतश्रमणाः] मोहान्धकार रहित श्रमण [ईदृशम्] ऐसा [कथयन्ति] कहते हैं ।

टीकाः—यहाँ भी अन्यवशका स्वरूप कहा है ।

भगवान अर्हंत्के मुखारविन्दसे निकले हुए (कहे गये) मूल और उत्तर पदार्थोंका सार्थ (-अर्थ सहित) प्रतिपादन करनेमें समर्थ ऐसा जो कोई द्रव्यलिंगधारी (मुनि) कभी छह द्रव्योंमें चित्त लगाता है, कभी उनके मूर्त-अमूर्त चेतन-अचेतन गुणोंमें मन लगाता है और फिर कभी उनकी अर्थपर्यायों तथा व्यंजनपर्यायोंमें बुद्धि लगाता है परन्तु त्रिकाल-निरावरण, नित्यानन्द जिसका लक्षण है ऐसे निजकारण-

---

* निर्वाणका कारण परमशुद्धोपयोग है और परमशुद्धोपयोगका कारण सहजपरमात्मा है ।

जो जोड़ता चित द्रव्य-गुण-पर्याय-चिन्तनमें अरे !
रे मोह-विरहित-श्रमण कहते अन्यके वश ही उसे ॥१४५॥

मनश्चकार, पुनस्तेषामर्थव्यंजनपर्यायाणां मध्ये बुद्धिं करोति, अपि तु त्रिकालनिरावरणनित्यानंदलक्षणनिजकारणसमयसारस्वरूपनिरतसहजज्ञानादिशुद्धगुणपर्यायाणामाधारभूतनिजात्मतत्त्वे चित्तं कदाचिदपि न योजयति, अत एव स तपोधनोऽप्यन्यवश इत्युक्तः ।

प्रध्वस्तदर्शनचारित्रमोहनीयकर्मध्वांतसंघाताः परमात्मतत्त्वभावनोत्पन्नवीतरागसुखामृतपानोन्मुखाः श्रवणा हि महाश्रवणाः परमश्रुतकेवलिनः, ते खलु कथयन्तीदृशम् अन्यवशस्य स्वरूपमिति ।

तथा चोक्तम्—

(अनुष्टुभ्)

"आत्मकार्यं परित्यज्य दृष्टादृष्टविरुद्धया ।
यतीनां ब्रह्मनिष्ठानां किं तया परिचिन्तया ।।"

तथा हि—

(अनुष्टुभ्)

यावच्चिन्तास्ति जन्तूनां तावद्भवति संसृतिः ।
यथेंधनसनाथस्य स्वाहानाथस्य वर्धनम् ।।२४६।।

समयसारके स्वरूपमें लीन सहजज्ञानादि शुद्धगुणपर्यायोंके आधारभूत निज आत्मतत्त्वमें कभी भी चित्त नहीं लगाता, उस तपोधनको भी उस कारणसे ही (अर्थात् पर विकल्पोंके वश होनेके कारणसे ही) अन्यवश कहा गया है ।

जिन्होंने दर्शनमोहनीय और चारित्रमोहनीय कर्मरूपी तिमिरसमूहका नाश किया है और परमात्मतत्त्वकी भावनासे उत्पन्न वीतरागसुखामृतके पानमें जो उन्मुख (तत्पर) हैं ऐसे श्रमण वास्तवमें महाश्रमण हैं; परम श्रुतकेवली हैं; वे वास्तवमें अन्यवशका ऐसा (उपरोक्तानुसार) स्वरूप कहते हैं ।

इसीप्रकार (अन्यत्र श्लोक द्वारा) कहा है किः—

"[श्लोकार्थः—] आत्मकार्यको छोड़कर दृष्ट तथा अदृष्टसे विरुद्ध ऐसी उस चिन्तासे (–प्रत्यक्ष तथा परोक्षसे विरुद्ध ऐसे विकल्पोंसे) ब्रह्मनिष्ठ यतियोंको क्या प्रयोजन है ?"

और (इस १४५ वीं गाथाकी टीका पूर्ण करते हुए टीकाकार मुनिराज श्लोक कहते हैं) :—

[श्लोकार्थः—] जिसप्रकार ईन्धनयुक्त अग्नि वृद्धिको प्राप्त होती है (अर्थात्

परिचत्ता परभावं अप्पाणं झादि णिम्मलसहावं ।
अप्पवसो सो होदि हु तस्स दु कम्मं भणंति आवासं ॥१४६॥

परित्यक्त्वा परभावं आत्मानं ध्यायति निर्मलस्वभावम् ।
आत्मवशः स भवति खलु तस्य तु कर्म भणन्त्यावश्यम् ॥१४६॥

अत्र हि साक्षात् स्ववशस्य परमजिनयोगीश्वरस्य स्वरूपमुक्तम् ।

यस्तु निरुपरागनिरंजनस्वभावत्वादौदयिकादिपरभावानां समुदयं परित्यज्य कायकरणवाचामगोचरं सदा निरावरणत्वान्निर्मलस्वभावं निखिलदुरघवीरवैरिवाहिनीपताकालुण्टाकं

जब तक ईन्धन है तब तक अग्निकी वृद्धि होती है), उसीप्रकार जब तक जीवोंको चिन्ता (विकल्प) है तब तक संसार है ।२४६।

गाथा १४६

अन्वयार्थः—[परभावं परित्यक्त्वा] जो परभावको परित्याग कर [निर्मलस्वभावम्] निर्मल स्वभाववाले [आत्मानं] आत्माको [ध्यायति] ध्याता है, [सः खलु] वह वास्तवमें [आत्मवशः भवति] आत्मवश है [तस्य तु] और उसे [आवश्यम् कर्म] आवश्यक कर्म [भणन्ति] (जिन) कहते हैं ।

टीकाः—यहाँ वास्तवमें साक्षात् स्ववश परमजिनयोगीश्वरका स्वरूप कहा है ।

जो (श्रमण) निरुपराग निरंजन स्वभाववाला होनेके कारण औदयिकादि परभावोंके समुदायको परित्याग कर, निज कारणपरमात्माको—कि जो (कारणपरमात्मा) काया, इन्द्रिय और वाणीको अगोचर है, सदा निरावरण होनेसे निर्मल स्वभाववाला है और समस्त *दुरघरूपी वीर शत्रुओंकी सेनाके ध्वजको लूटनेवाला है उसे—ध्याता है, उसीको (—उस श्रमणको ही) आत्मवश कहा गया है । उस अभेद-अनुपचार-रत्नत्रयात्मक श्रमणको समस्त बाह्यक्रियाकांड-आडम्बरके विविध विकल्पोंके महा

---

* दुरघ=दुष्ट अघ; दुष्ट पाप । (अशुभ तथा शुभ कर्म दोनों दुरघ हैं ।)

जो छोड़कर परभाव ध्यावे शुद्ध निर्मल आतम रे ।
वह आत्मवश है श्रमण, आवश्यक करम होता उसे ॥१४६॥

निजकारणपरमात्मानं ध्यायति स एवात्मवश इत्युक्तः । तस्याभेदानुपचाररत्नत्रयात्मकस्य निखिल-बाह्यक्रियाकांडाडंबरविविधविकल्पमहाकोलाहलप्रतिपक्षमहानंदानंदप्रद निश्चयधर्मशुक्लध्यानात्म-कपरमावश्यककर्म भवतीति ।

(पृथ्वी)

जयत्ययमुदारधीः स्ववशयोगिवृन्दारकः
प्रनष्टभवकारणः प्रहतपूर्वकर्मावलिः ।
स्फुटोत्कटविवेकतः स्फुटितशुद्धबोधात्मिकां
सदाशिवमयां मुदा व्रजति सर्वथा निर्वृतिम् ॥२४७॥

(अनुष्टुभ्)

प्रध्वस्तपंचबाणस्य पंचाचारांचिताकृतेः ।
अवंचकगुरोर्वाक्यं कारणं मुक्तिसंपदः ॥२४८॥

(अनुष्टुभ्)

इत्थं बुद्ध्वा जिनेन्द्रस्य मार्गं निर्वाणकारणम् ।
निर्वाणसंपदं याति यस्तं वंदे पुनः पुनः ॥२४९॥

कोलाहलसे प्रतिपक्ष *महा–आनन्दानन्दप्रद निश्चयधर्मध्यान तथा निश्चयशुक्लध्यान-स्वरूप परमावश्यक–कर्म है ।

[अब इस १४६ वीं गाथाकी टीका पूर्ण करते हुए टीकाकार मुनिराज आठ श्लोक कहते हैं :—]

[श्लोकार्थः—] उदार जिसकी बुद्धि है, भवका कारण जिसने नष्ट किया है, पूर्व कर्मावलिका जिसने हनन कर दिया है और स्पष्ट उत्कट विवेक द्वारा प्रगट-शुद्धबोधस्वरूप सदाशिवमय सम्पूर्ण मुक्तिको जो प्रमोदसे प्राप्त करता है, ऐसा वह स्ववश मुनिश्रेष्ठ जयवन्त है ।२४७।

[श्लोकार्थः—] कामदेवका जिन्होंने नाश किया है और (ज्ञान–दर्शन–चारित्र–तप–वीर्यात्मक) पंचाचारसे सुशोभित जिनकी आकृति है—ऐसे अवंचक (मायाचार रहित) गुरुका वाक्य मुक्तिसम्पदाका कारण है ।२४८।

---

* परम आवश्यक कर्म निश्चयधर्मध्यान तथा निश्चयशुक्लध्यानस्वरूप है—कि जो ध्यान महा आनन्द-आनन्दके देनेवाले हैं । यह महा आनन्द–आनन्द विकल्पोंके महा कोलाहलसे विरुद्ध है ।

(द्रुतविलंबित)
स्ववशयोगिनिकायविशेषक
प्रहतचारुवधूकनकस्पृह ।
त्वमसि नश्शरणं भवकानने
स्मरकिरातशरक्षतचेतसाम् ॥२५०॥

(द्रुतविलंबित)
अनशनादितपश्चरणैः फलं
तनुविशोषणमेव न चापरम् ।
तव पदांबुरुहद्वयचिंतया
स्ववश जन्म सदा सफलं मम ॥२५१॥

(मालिनी)
जयति सहजतेजोराशिनिर्मग्नलोकः
स्वरसविसरपूरक्षालितांहः समंतात् ।
सहजसमरसेनापूर्णपुण्यः पुराणः
स्ववशमनसि नित्यं संस्थितः शुद्धसिद्धः ॥२५२॥

[श्लोकार्थः—] निर्वाणका कारण ऐसा जो जिनेन्द्रका मार्ग उसे इसप्रकार जानकर जो निर्वाणसम्पदाको प्राप्त करता है, उसे मैं पुनः पुनः वन्दन करता हूँ ।२४९।

[श्लोकार्थः—] जिसने सुन्दर स्त्री और सुवर्णकी स्पृहाको नष्ट किया है ऐसे हे योगीसमूहमें श्रेष्ठ स्ववश योगी ! तू हमारा—कामदेवरूपी भीलके तीरसे घायल चित्तवालेका—भवरूपी अरण्यमें शरण है ।२५०।

[श्लोकार्थः—] अनशनादि तपश्चरणोंका फल शरीरका शोषण (-सूखना) ही है, दूसरा नहीं । (परन्तु) हे स्ववश ! (हे आत्मवश मुनि !) तेरे चरणकमल-युगलके चिंतनसे मेरा जन्म सदा सफल है ।२५१।

[श्लोकार्थः—] जिसने निज रसके विस्ताररूपी पूर द्वारा पापोंको सर्व ओरसे धो डाला है, जो सहज समतारससे पूर्ण भरा होनेसे पवित्र है, जो पुराण (सनातन) है, जो स्ववश मनमें सदा सुस्थित है (अर्थात् जो सदा मनको—भावको स्ववश करके विराजमान है) और जो शुद्ध सिद्ध है (अर्थात् जो शुद्ध सिद्धभगवान समान है)—ऐसा सहज तेजराशिमें मग्न जीव जयवन्त है ।२५२।

(अनुष्टुभ्)

सर्वज्ञवीतरागस्य स्ववशस्यास्य योगिनः ।
न कामपि भिदां क्वापि तां विद्मो हा जडा वयम् ।।२५३।।

(अनुष्टुभ्)

एक एव सदा धन्यो जन्मन्यस्मिन्महामुनिः ।
स्ववशः सर्वकर्मभ्यो बहिस्तिष्ठत्यनन्यधीः ।।२५४।।

आवासं जइ इच्छसि अप्पसहावेसु कुणदि थिरभावं ।
तेण दु सामण्णगुणं संपुण्णं होदि जीवस्स ॥१४७॥

आवश्यकं यदीच्छसि आत्मस्वभावेषु करोषि स्थिरभावम् ।
तेन तु सामायिकगुणं सम्पूर्णं भवति जीवस्य ।।१४७।।

शुद्धनिश्चयावश्यकप्राप्त्युपायस्वरूपाख्यानमेतत् ।

[श्लोकार्थः—] सर्वज्ञ–वीतरागमें और इस स्ववश योगीमें कभी कुछ भी भेद नहीं है; तथापि अरेरे ! हम जड़ हैं कि उसमें भेद मानते हैं ।२५३।

[श्लोकार्थः—] इस जन्ममें स्ववश महामुनि एक ही सदा धन्य है कि जो अनन्यबुद्धिवाला रहता हुआ (–निजात्माके अतिरिक्त अन्यके प्रति लीन न होता हुआ) सर्व कर्मोंसे बाहर रहता है ।२५४।

गाथा १४७

अन्वयार्थः—[यदि] यदि तू [आवश्यकम् इच्छसि] आवश्यकको चाहता है तो तू [आत्मस्वभावेषु] आत्मस्वभावोंमें [स्थिरभावम्] स्थिरभाव [करोषि] करता है; [तेन तु] उससे [जीवस्य] जीवको [सामायिकगुणं] सामायिकगुण [सम्पूर्णं भवति] सम्पूर्ण होता है ।

टीकाः—यह, शुद्धनिश्चय–आवश्यककी प्राप्तिका जो उपाय उसके स्वरूपका कथन है ।

आवश्यका कांक्षी हुआ तू स्थैर्य स्वात्मामें करे ।
होता इसीसे जीव सामायिक सुगुण सम्पूर्ण रे ।।१४७।।

इह हि बाह्यषडावश्यकप्रपंचकल्लोलिनीकलकलध्वानश्रवणपराङ्मुख हे शिष्य शुद्धनिश्चयधर्मशुक्लध्यानात्मकस्वात्माश्रयावश्यकं संसारव्रततिमूललवित्रं यदीच्छसि, समस्तविकल्पजालविनिर्मुक्तनिरंजननिजपरमात्मभावेषु सहजज्ञानसहजदर्शनसहजचारित्रसहजसुखप्रमुखेषु सततनिश्चलस्थिरभावं करोषि, तेन हेतुना निश्चयसामायिकगुणे जाते मुमुक्षोर्जीवस्य बाह्यषडावश्यकक्रियाभिः किं जातम्, अप्यनुपादेयं फलमित्यर्थः । अतः परमावश्यकेन निष्क्रियेण अपुनर्भवपुरन्ध्रिकासंभोगहासप्रवीणेन जीवस्य सामायिकचारित्रं सम्पूर्णं भवतीति ।

तथा चोक्तं श्रीयोगीन्द्रदेवैः—

(मालिनी)

"यदि चलति कथंचिन्मानसं स्वस्वरूपाद्
भ्रमति बहिरतस्ते सर्वदोषप्रसंगः ।
तदनवरतमंतर्मग्नसंविग्नचित्तो
भव भवसि भवान्तस्थायिधामाधिपस्त्वम् ॥"

बाह्य षट्–आवश्यकप्रपंचरूपी नदीके कोलाहलके श्रवणसे (–व्यवहार छह आवश्यकके विस्ताररूपी नदीकी कलकलाहटके श्रवणसे) पराङ्मुख हे शिष्य ! शुद्ध-निश्चय–धर्मध्यान तथा शुद्धनिश्चय–शुक्लध्यानस्वरूप स्वात्माश्रित आवश्यकको—कि जो संसाररूपी लताके मूलको छेदनेका कुठार है उसे—यदि तू चाहता है, तो तू समस्त विकल्पजाल रहित निरंजन निज परमात्माके भावोंमें—सहज ज्ञान, सहज दर्शन, सहज चारित्र और सहज सुख आदिमें—सतत–निश्चल स्थिरभाव करता है; उस हेतुसे (अर्थात् उस कारण द्वारा) निश्चयसामायिकगुण उत्पन्न होनेपर, मुमुक्षु जीवको बाह्य छह आवश्यकक्रियाओंसे क्या उत्पन्न हुआ ? *अनुपादेय फल उत्पन्न हुआ ऐसा अर्थ है। इसलिये अपुनर्भवरूपी (मुक्तिरूपी) स्त्रीके संभोग और हास्य प्राप्त करनेमें प्रवीण ऐसे निष्क्रिय परम–आवश्यकसे जीवको सामायिकचारित्र सम्पूर्ण होता है ।

इसीप्रकार (आचार्यवर) श्री योगीन्द्रदेवने (अमृताशीतिमें ६४ वें श्लोक द्वारा) कहा है कि:—

"[श्लोकार्थः—] यदि किसी प्रकार मन निज स्वरूपसे चलित हो और उससे बाहर भटके तो तुझे सर्व दोषका प्रसंग आता है, इसलिये तू सतत अन्तर्मग्न और

---

* अनुपादेय=हेय; पसन्द न करने योग्य; प्रसंशा न करने योग्य ।

तथा हि—

(शार्दूलविक्रीडित)

यद्येवं चरणं निजात्मनियतं संसारदुःखापहं
मुक्तिश्रीललनासमुद्भवसुखस्योच्चैरिदं कारणम् ।
बुद्धवेत्थं समयस्य सारमनघं जानाति यः सर्वदा
सोयं त्यक्तबहिःक्रियो मुनिपतिः पापाटवीपावकः ॥२५५॥

आवासएण हीणो पब्भट्ठो होदि चरणदो समणो ।
पुव्वुत्तकमेण पुणो तम्हा आवासयं कुज्जा ॥१४८॥

आवश्यकेन हीनः प्रभ्रष्टो भवति चरणतः श्रमणः ।
पूर्वोक्तक्रमेण पुनः तस्मादावश्यकं कुर्यात् ॥१४८॥

---

[1]संविग्न चित्तवाला हो कि जिससे तू मोक्षरूपी स्थायी धामका अधिपति बनेगा ।"

और (इस १४७ वीं गाथाकी टीका पूर्ण करते हुए टीकाकार मुनिराज श्लोक कहते हैं) :—

[श्लोकार्थः—] यदि इसप्रकार (जीवको) संसारदुःखनाशक [2]निजात्मनियत चारित्र हो, तो वह चारित्र मुक्तिश्रीरूपी (मुक्तिलक्ष्मीरूपी) सुन्दरीसे उत्पन्न होनेवाले सुखका अतिशयरूपसे कारण होता है;—ऐसा जानकर जो (मुनिवर) निर्दोष समयके सारको सर्वदा जानता है, ऐसा वह मुनिपति—कि जिसने बाह्य क्रिया छोड़ दी है वह—पापरूपी अटवीको जलानेवाली अग्नि है ।२५५।

गाथा १४८

अन्वयार्थः—[आवश्यकेन हीनः] आवश्यक रहित [श्रमणः] श्रमण [चरणतः] चरणसे [प्रभ्रष्टः भवति] प्रभ्रष्ट (अति भ्रष्ट) है; [तस्मात् पुनः] और

१–संविग्न=संवेगी; वैरागी; विरक्त ।

२–निजात्मनियत=निज आत्मामें लगा हुआ; निज आत्माका अवलम्बन लेता हुआ; निजात्माश्रित; निज आत्मामें एकाग्र ।

रे श्रमण आवश्यक-रहित चारित्रसे प्रभ्रष्ट है ।
अतएव आवश्यक करम पूर्वोक्त विधिसे इष्ट है ॥१४८॥

अत्र शुद्धोपयोगाभिमुखस्य शिक्षणमुक्तम् ।

अत्र व्यवहारनयेनापि समतास्तुतिवंदनाप्रत्याख्यानादिषडावश्यकपरिहीणः श्रमणश्चारित्रपरिभ्रष्ट इति यावत्, शुद्धनिश्चयेन परमाध्यात्मभाषयोक्तनिर्विकल्पसमाधिस्वरूपपरमावश्यकक्रियापरिहीणश्रमणो निश्चयचारित्रभ्रष्ट इत्यर्थः । पूर्वोक्तस्ववशस्य परमजिनयोगीश्वरस्य निश्चयावश्यकक्रमेण स्वात्माश्रयनिश्चयधर्मशुक्लध्यानस्वरूपेण सदावश्यकं करोतु परममुनिरिति ।

(मंदाक्रांता)

आत्मावश्यं सहजपरमावश्यकं चैकमेकं
कुर्यादुच्चैरघकुलहरं निर्वृतेर्मूलभूतम् ।
सोऽयं नित्यं स्वरसविसरापूर्णपुण्यः पुराणः
वाचां दूरं किमपि सहजं शाश्वतं शं प्रयाति ।।२५६।।

इसलिये [पूर्वोक्तक्रमेण] पूर्वोक्त क्रमसे (पहले कही हुई विधिसे) [आवश्यक कुर्यात्] आवश्यक करना चाहिये ।

टीकाः—यहाँ (इस गाथामें) शुद्धोपयोगसम्मुख जीवको शिक्षा कही है ।

यहाँ (इस लोकमें) व्यवहारनयसे भी, समता, स्तुति, वन्दना, प्रत्याख्यान आदि छह आवश्यकसे रहित श्रमण चारित्रपरिभ्रष्ट (चारित्रसे सर्वथा भ्रष्ट) है; शुद्धनिश्चयसे, परम–अध्यात्मभाषासे जिसे निर्विकल्प–समाधिस्वरूप कहा जाता है ऐसी परम आवश्यक क्रियासे रहित श्रमण निश्चयचारित्रभ्रष्ट है;—ऐसा अर्थ है । (इसलिये) स्ववश परमजिनयोगीश्वरके निश्चय–आवश्यकका जो क्रम पहले कहा गया है उस क्रमसे (–उस विधिसे), स्वात्माश्रित ऐसे निश्चय–धर्मध्यान तथा निश्चय–शुक्लध्यानस्वरूपसे, परम मुनि सदा आवश्यक करो ।

[अब इस १४८ वीं गाथाकी टीका पूर्ण करते हुए टीकाकार मुनिराज दो श्लोक कहते हैं :]

[श्लोकार्थः—] आत्माको अवश्य मात्र सहज–परम–आवश्यक एकको ही—कि जो *अघसमूहका नाशक है और मुक्तिका मूल (–कारण) है उसीको—अतिशय-

---

* अघ=दोष; पाप । (अशुभ तथा शुभ दोनों अघ हैं ।)

(अनुष्टुभ्)

स्ववशस्य मुनीन्द्रस्य स्वात्मचिन्तनमुत्तमम् ।
इदं चावश्यकं कर्म स्यान्मूलं मुक्तिशर्मणः ॥२५७॥

आवासएण जुत्तो समणो सो होदि अंतरंगप्पा ।
आवासयपरिहीणो समणो सो होदि बहिरप्पा ॥१४९॥

आवश्यकेन युक्तः श्रमणः स भवत्यंतरंगात्मा ।
आवश्यकपरिहीणः श्रमणः स भवति बहिरात्मा ॥१४९॥

अत्रावश्यककर्माभावे तपोधनो बहिरात्मा भवतीत्युक्तः ।

अभेदानुपचाररत्नत्रयात्मकस्वात्मानुष्ठाननियतपरमावश्यककर्मणानवरतसंयुक्तः स्व-

---

रूपसे करना चाहिये । (ऐसा करनेसे,) सदा निज रसके विस्तारसे पूर्ण भरा होनेके कारण पवित्र और पुराण (सनातन) ऐसा वह आत्मा वाणीसे दूर (वचन-अगोचर) ऐसे किसी सहज शाश्वत सुखको प्राप्त करता है ।२५६।

[श्लोकार्थः—] स्ववश मुनीन्द्रको उत्तम स्वात्मचिंतन (निजात्मानुभवन) होता है; और यह (निजात्मानुभवनरूप) आवश्यक कर्म (उसे) मुक्तिसौख्यका कारण होता है ।२५७।

गाथा १४९

अन्वयार्थः—[आवश्यकेन युक्तः] आवश्यक सहित [श्रमणः] श्रमण [सः] वह [अंतरंगात्मा] अन्तरात्मा [भवति] है; [आवश्यकपरिहीणः] आवश्यक रहित [श्रमणः] श्रमण [सः] वह [बहिरात्मा] बहिरात्मा [भवति] है ।

टीकाः—यहाँ, आवश्यक कर्मके अभावमें तपोधन बहिरात्मा होता है ऐसा कहा है ।

अभेद-अनुपचार-रत्नत्रयात्मक *स्वात्मानुष्ठानमें नियत परमावश्यक-कर्मसे

---

* स्वात्मानुष्ठान=निज आत्माका आचरण । (परम आवश्यक कर्म अभेद-अनुपचाररत्नत्रयस्वरूप स्वात्माचरणमें नियमसे विद्यमान है अर्थात् वह स्वात्माचरण ही परम आवश्यक कर्म है ।

रे साधु आवश्यक-सहित वह अन्तरात्मा जानिये ।
इससे रहित हो साधु जो बहिरातमा पहिचानिये ॥१४९॥

वशाभिधानपरमश्रमणः सर्वोत्कृष्टोऽन्तरात्मा, षोडशकषायाणामभावादयं क्षीणमोहपदवीं परिप्राप्य स्थितो महात्मा। असंयतसम्यग्दृष्टिर्जघन्यांतरात्मा। अनयोर्मध्यमाः सर्वे मध्यमान्तरात्मानः। निश्चयव्यवहारनयद्वयप्रणीतपरमावश्यकक्रियाविहीनो बहिरात्मेति।

उक्तं च मार्गप्रकाशे—

(अनुष्टुभ्)

"बहिरात्मान्तरात्मेति स्यादन्यसमयो द्विधा।
बहिरात्मानयोर्देहकरणाद्युदितात्मधीः ॥"

(अनुष्टुभ्)

"जघन्यमध्यमोत्कृष्टभेदादविरतः सुदृक्।
प्रथमः क्षीणमोहोन्त्यो मध्यमो मध्यमस्तयोः ॥"

तथा हि—

निरन्तर संयुक्त ऐसा जो "स्ववश" नामका परम श्रमण वह सर्वोत्कृष्ट अन्तरात्मा है; यह महात्मा सोलह कषायोंके अभाव द्वारा क्षीणमोहपदवीको प्राप्त करके स्थित है। असंयत सम्यग्दृष्टि जघन्य अन्तरात्मा है। इन दोके मध्यमें स्थित सर्व मध्यम अन्तरात्मा हैं। निश्चय और व्यवहार इन दो नयोंसे प्रणीत जो परम आवश्यक क्रिया उससे जो रहित हो वह बहिरात्मा है।

श्री मार्गप्रकाशमें भी (दो श्लोकों द्वारा) कहा है कि:—

"[श्लोकार्थ:—] अन्यसमय (अर्थात् परमात्माके अतिरिक्त जीव) बहिरात्मा और अन्तरात्मा ऐसे दो प्रकारके हैं; उनमें बहिरात्मा देह–इन्द्रिय आदिमें आत्मबुद्धिवाला होता है।"

"[श्लोकार्थ:—] अन्तरात्माके जघन्य, मध्यम और उत्कृष्ट ऐसे (तीन) भेद हैं; अविरत सम्यग्दृष्टि वह प्रथम (जघन्य) अन्तरात्मा है, क्षीणमोह वह अन्तिम (उत्कृष्ट) अन्तरात्मा है और उन दोके मध्यमें स्थित वह मध्यम अन्तरात्मा है।"

और (इस १४९ वीं गाथाकी टीका पूर्ण करते हुए टीकाकार मुनिराज श्लोक कहते हैं):—

(मंदाक्रांता)

योगी नित्यं सहजपरमावश्यकर्मप्रयुक्तः
संसारोत्थप्रबलसुखदुःखाटवीदूरवर्ती ।
तस्मात्सोऽयं भवति नितरामन्तरात्मात्मनिष्ठः
स्वात्मभ्रष्टो भवति बहिरात्मा बहिस्तत्त्वनिष्ठः ॥२५८॥

अंतरबाहिरजप्पे जो वट्टइ सो हवेइ बहिरप्पा ।
जप्पेसु जो ण वट्टइ सो उच्चइ अंतरंगप्पा ॥१५०॥

अन्तरबाह्यजल्पे यो वर्तते स भवति बहिरात्मा ।
जल्पेषु यो न वर्तते स उच्यतेऽन्तरंगात्मा ॥१५०॥

बाह्याभ्यन्तरजल्पनिरासोऽयम् ।

यस्तु जिनलिंगधारी तपोधनाभासः पुण्यकर्मकांक्षया स्वाध्यायप्रत्याख्यानस्तवनादि-

---

[श्लोकार्थः—] योगी सदा सहज परम आवश्यक कर्मसे युक्त रहता हुआ संसारजनित प्रबल सुखदुःखरूपी अटवीसे दूरवर्ती होता है इसलिये वह योगी अत्यन्त आत्मनिष्ठ अन्तरात्मा है; जो स्वात्मासे भ्रष्ट हो वह बहिःतत्त्वनिष्ठ (बाह्यतत्त्वमें लीन) बहिरात्मा है ।२५८।

गाथा १५०

अन्वयार्थः—[यः] जो [अन्तरबाह्यजल्पे] अन्तर्बाह्य जल्पमें [वर्तते] वर्तता है, [सः] वह [बहिरात्मा] बहिरात्मा [भवति] है; [यः] जो [जल्पेषु] जल्पोंमें [न वर्तते] नहीं वर्तता, [सः] वह [अन्तरंगात्मा] अन्तरात्मा [उच्यते] कहलाता है ।

टीकाः—यह, बाह्य तथा अन्तर जल्पका निरास (निराकरण, खण्डन) है ।

जो जिनलिंगधारी तपोधनाभास पुण्यकर्मकी काँक्षासे स्वाध्याय, प्रत्याख्यान, स्तवन आदि बहिर्जल्प करता है और अशन, शयन, गमन, स्थिति आदिमें (—खाना,

---

जो बाह्य अन्तर जल्पमें वर्ते वही बहिरातमा ।
जो जल्पमें वर्ते नहिं वह जीव अन्तरआतमा ॥१५०॥

बहिर्जल्पं करोति, अशनशयनयानस्थानादिषु सत्कारादिलाभलोभस्सन्नन्तर्जल्पे मनश्चकारेति स बहिरात्मा जीव इति । स्वात्मध्यानपरायणस्सन् निरवशेषेणान्तर्मुखः प्रशस्ताप्रशस्तसमस्तविकल्पजालकेषु कदाचिदपि न वर्तते अत एव परमतपोधनः साक्षादंतरात्मेति ।

तथा चोक्तं श्रीमदमृतचन्द्रसूरिभिः—

(वसंततिलका)

"स्वेच्छासमुच्छलदनल्पविकल्पजाला-
मेवं व्यतीत्य महतीं नयपक्षकक्षाम् ।
अन्तर्बहिः समरसैकरसस्वभावं
स्वं भावमेकमुपयात्यनुभूतिमात्रम् ॥"

तथा हि—

(मंदाक्रांता)

मुक्त्वा जल्पं भवभयकरं बाह्यमाभ्यन्तरं च
स्मृत्वा नित्यं समरसमयं चिच्चमत्कारमेकम् ।
ज्ञानज्योतिःप्रकटितनिजाभ्यन्तरांगान्तरात्मा
क्षीणे मोहे किमपि परमं तत्त्वमन्तर्ददर्श ॥२५९॥

सोना, गमन करना, स्थिर रहना इत्यादि कार्योंमें) सत्कारादिकी प्राप्तिका लोभी वर्तता हुआ अन्तर्जल्पमें मनको लगाता है, वह बहिरात्मा जीव है । निज आत्माके ध्यानमें परायण वर्तता हुआ निरवशेषरूपसे (सम्पूर्णरूपसे) अन्तर्मुख रहकर (परम तपोधन) प्रशस्त-अप्रशस्त समस्त विकल्पजालोंमें कभी भी नहीं वर्तता इसीलिये परम तपोधन साक्षात् अन्तरात्मा है ।

इसीप्रकार (आचार्यदेव) श्रीमद् अमृतचन्द्रसूरिने (श्रीसमयसारकी आत्मख्याति नामक टीकामें ९० वें श्लोक द्वारा) कहा है कि :—

"[श्लोकार्थ:—] इसप्रकार जिसमें बहु विकल्पोंके जाल अपनेआप उठते हैं ऐसी विशाल नयपक्षकक्षाको (नयपक्षकी भूमिको) लाँघकर (तत्त्ववेदी) भीतर और बाहर समता-रसरूपी एक रस ही जिसका स्वभाव है ऐसे अनुभूतिमात्र एक अपने भावको (-स्वरूपको) प्राप्त होता है ।"

और (इस १५० वीं गाथाकी टीका पूर्ण करते हुए टीकाकार मुनिराज श्लोक कहते हैं) :—

[श्लोकार्थ:—] भवभयके करनेवाले, बाह्य तथा अभ्यन्तर जल्पको छोड़कर,

जो धम्मसुक्कझाणम्हि परिणदो सो वि अंतरंगप्पा।
झाणविहीणो समणो बहिरप्पा इदि विजाणीहि ॥१५१॥

यो धर्मशुक्लध्यानयोः परिणतः सोप्यन्तरंगात्मा ।
ध्यानविहीनः श्रमणो बहिरात्मेति विजानीहि ॥१५१॥

अत्र स्वात्माश्रयनिश्चयधर्मशुक्लध्यानद्वितयमेवोपादेयमित्युक्तम् ।

इह हि साक्षादन्तरात्मा भगवान् क्षीणकषायः । तस्य खलु भगवतः क्षीणकषायस्य षोडशकषायाणामभावात् दर्शनचारित्रमोहनीयकर्मराजन्ये विलयं गते अत एव सहजचिद्विलासलक्षणमत्यपूर्वमात्मानं शुद्धनिश्चयधर्मशुक्लध्यानद्वयेन नित्यं ध्यायति । आभ्यां ध्यानाभ्यां

समरसमय (समतारसमय) एक चैतन्यचमत्कारका सदा स्मरण करके, ज्ञानज्योति द्वारा जिसने निज अभ्यन्तर अङ्ग प्रगट किया है ऐसा अन्तरात्मा, मोह क्षीण होने पर, किसी (अद्भुत) परमतत्त्वको अन्तरमें देखता है ।२५६।

गाथा १५१

अन्वयार्थः—[यः] जो [धर्मशुक्लध्यानयोः] धर्मध्यान और शुक्लध्यानमें [परिणतः] परिणत है [सः अपि] वह भी [अन्तरंगात्मा] अन्तरात्मा है; [ध्यानविहीनः] ध्यानविहीन [श्रमणः] श्रमण [बहिरात्मा] बहिरात्मा है [इति विजानीहि] ऐसा जान ।

टीकाः—यहाँ (इस गाथामें), स्वात्माश्रित निश्चय–धर्मध्यान और निश्चय-शुक्लध्यान यह दो ध्यान ही उपादेय हैं ऐसा कहा है ।

यहाँ (इस लोकमें) वास्तवमें साक्षात् अन्तरात्मा भगवान क्षीणकषाय हैं । वास्तवमें उन भगवान क्षीणकषायको सोलह कषायोंका अभाव होनेके कारण दर्शन-मोहनीय और चारित्रमोहनीय कर्मरूपी योद्धाओंके दल नष्ट हुए हैं इसलिये वे (भगवान क्षीणकषाय) *सहजचिद्विलासलक्षण अति–अपूर्व आत्माको शुद्धनिश्चय-धर्मध्यान और शुद्धनिश्चय–शुक्लध्यान इन दो ध्यानों द्वारा नित्य ध्याते हैं । इन दो

---

* सहजचिद्विलासलक्षण=जिसका लक्षण (–चिह्न अथवा स्वरूप) सहज चैतन्यका विलास है ऐसे।

रे धर्म शुक्ल सुध्यान परिणत अन्तरात्मा जानिये ।
अरु ध्यान विरहित श्रमणको बहिरातमा पहिचानिये ॥१५१॥

विहीनो द्रव्यलिंगधारी द्रव्यश्रमणो बहिरात्मेति हे शिष्य त्वं जानीहि ।

(वसंततिलका)

कश्चिन्मुनिः सततनिर्मलधर्मशुक्ल-
ध्यानामृते समरसे खलु वर्ततेऽसौ ।
ताभ्यां विहीनमुनिको बहिरात्मकोऽयं
पूर्वोक्तयोगिनमहं शरणं प्रपद्ये ॥२६०॥

किं च केवलं शुद्धनिश्चयनयस्वरूपमुच्यते—

(अनुष्टुभ्)

बहिरात्मान्तरात्मेति विकल्पः कुधियामयम् ।
सुधियां न समस्त्येष संसाररमणीप्रियः ॥२६१॥

पडिकमणपहुदिकिरियं कुव्वंतो णिच्छयस्स चारित्तं ।
तेण दु विरागचरिए समणो अब्भुट्ठिदो होदि ॥१५२॥

ध्यानों रहित द्रव्यलिंगधारी द्रव्यश्रमण बहिरात्मा है ऐसा हे शिष्य ! तू जान ।

[अब यहाँ टीकाकार मुनिराज श्लोक कहते हैं :]

[श्लोकार्थ:—] कोई मुनि सतत–निर्मल धर्मशुक्ल–ध्यानामृतरूपी समरसमें सचमुच वर्तता है; (वह अन्तरात्मा है;) इन दो ध्यानोंसे रहित तुच्छ मुनि बहिरात्मा है । मैं पूर्वोक्त (समरसी) योगीकी शरण लेता हूँ ।२६०।

और (इस १५१ वीं गाथाकी टीका पूर्ण करते हुए टीकाकार मुनिराज द्वारा श्लोक द्वारा) केवल शुद्धनिश्चयनयका स्वरूप कहा जाता है :—

[श्लोकार्थ:—] (शुद्ध आत्मतत्त्वमें) बहिरात्मा और अन्तरात्मा ऐसा यह विकल्प कुबुद्धियोंको होता है; संसाररूपी रमणीको प्रिय ऐसा यह विकल्प सुबुद्धियोंको नहीं होता ।२६१।

प्रतिक्रमण आदिक्रिया तथा चारित्रनिश्चय आचरे ।
अतएव मुनि वह वीतराग–चरित्रमें स्थिरता करे ॥१५२॥

प्रतिक्रमणप्रभृतिक्रियां कुर्वन् निश्चयस्य चारित्रम् ।
तेन तु विरागचरिते श्रमणोभ्युत्थितो भवति ॥१५२॥

परमवीतरागचारित्रस्थितस्य परमतपोधनस्य स्वरूपमत्रोक्तम् ।

यो हि विमुक्तैहिकव्यापारः साक्षादपुनर्भवकांक्षी महामुमुक्षुः परित्यक्तसकलेन्द्रियव्यापारत्वान्निश्चयप्रतिक्रमणादिसत्क्रियां कुर्वन्नास्ते, तेन कारणेन स्वस्वरूपविश्रान्तिलक्षणे परमवीतरागचारित्रे स परमतपोधनस्तिष्ठति इति ।

(मंदाक्रांता)

आत्मा तिष्ठत्यतुलमहिमा नष्टदृक्शीलमोहो
यः संसारोद्भवसुखकरं कर्म मुक्त्वा विमुक्तेः ।
मूले शीले मलविरहिते सोऽयमाचारराशिः
तं वंदेऽहं समरससुधासिन्धुराकाशशांकम् ॥२६२॥

गाथा १५२

अन्वयार्थः—[**प्रतिक्रमणप्रभृतिक्रियां**] प्रतिक्रमणादि क्रियाको—[**निश्चयस्य चारित्रम्**] निश्चयके चारित्रको—[**कुर्वन्**] (निरन्तर) करता रहता है [**तेन तु**] इसलिये [**श्रमणः**] वह श्रमण [**विरागचरिते**] वीतराग चारित्रमें [**अभ्युत्थितः भवति**] आरूढ़ है ।

टीकाः—यहाँ परम वीतराग चारित्रमें स्थित परम तपोधनका स्वरूप कहा है ।

जिसने ऐहिक व्यापार (सांसारिक कार्य) छोड़ दिया है ऐसा जो साक्षात् अपुनर्भवका (मोक्षका) अभिलाषी महामुमुक्षु सकल इन्द्रियव्यापारको छोड़ा होनेसे निश्चयप्रतिक्रमणादि सत्क्रियाको करता हुआ स्थित है (अर्थात् निरन्तर करता है), वह परम तपोधन उस कारणसे निजस्वरूपविश्रान्तिलक्षण परमवीतराग–चारित्रमें स्थित हैं (अर्थात् वह परम श्रमण, निश्चयप्रतिक्रमणादि निश्चयचारित्रमें स्थित होनेके कारण, जिसका लक्षण निज स्वरूपमें विश्रांति है ऐसे परमवीतराग चारित्रमें स्थित है) ।

[अब इस १५२ वीं गाथाकी टीका पूर्ण करते हुए टीकाकार मुनिराज श्लोक कहते हैं :]

[श्लोकार्थः—] दर्शनमोह और चारित्रमोह जिसके नष्ट हुए हैं ऐसा जो अतुल

वयणमयं पडिकमणं वयणमयं पच्चखाण णियमं च ।
आलोयण वयणमयं तं सव्वं जाण सज्झायं ॥१५३॥

वचनमयं प्रतिक्रमणं वचनमयं प्रत्याख्यानं नियमश्च ।
आलोचनं वचनमयं तत्सर्वं जानीहि स्वाध्यायम् ॥१५३॥

सकलवाग्विषयव्यापारनिरासोऽयम् ।

पाक्षिकादिप्रतिक्रमणक्रियाकारणं निर्यापकाचार्यमुखोद्गतं समस्तपापक्षयहेतुभूतं द्रव्यश्रुतमखिलं वाग्वर्गणायोग्यपुद्गलद्रव्यात्मकत्वान्न ग्राह्यं भवति, प्रत्याख्याननियमालोचनाश्च । पौद्गलिकवचनमयत्वात्तत्सर्वं स्वाध्यायमिति रे शिष्य त्वं जानीहि इति ।

महिमावाला आत्मा संसारजनित सुखके कारणभूत कर्मको छोड़कर मुक्तिका मूल ऐसे मलरहित चारित्रमें स्थित है, वह आत्मा चारित्रका पुंज है। समरसरूपी सुधाके सागरको उछालनेमें पूर्ण चन्द्र समान उस आत्माको मैं वन्दन करता हूँ ।२६२।

गाथा १५३

अन्वयार्थः—[वचनमयं प्रतिक्रमणं] वचनमय प्रतिक्रमण, [वचनमयं प्रत्याख्यानं] वचनमय प्रत्याख्यान, [नियमः] (वचनमय) नियम [च] और [वचनमयम् आलोचनं] वचनमय आलोचना—[तत् सर्वं] यह सब [स्वाध्यायम्] (प्रशस्त अध्यवसायरूप) स्वाध्याय [जानीहि] जान ।

टीकाः—यह, समस्त वचनसम्बन्धी व्यापारका निरास (निराकरण, खण्डन) है ।

पाक्षिक आदि प्रतिक्रमणक्रियाका कारण ऐसा जो निर्यापक आचार्यके मुखसे निकला हुआ, समस्त पापक्षयके हेतुभूत, सम्पूर्ण द्रव्यश्रुत वह वचनवर्गणायोग्य पुद्गलद्रव्यात्मक होनेसे ग्राह्य नहीं हैं । प्रत्याख्यान, नियम और आलोचना भी (पुद्गलद्रव्यात्मक होनेसे) ग्रहण करने योग्य नहीं हैं । वह सब पौद्गलिक वचनमय होनेसे स्वाध्याय है ऐसा हे शिष्य ! तू जान ।

[अब यहाँ टीकाकार मुनिराज श्लोक कहते हैं :—]

रे वचनमय प्रतिक्रमण, वाचिक नियम, प्रत्याख्यान ये ।
आलोचना वाचिक सभीको जान तू स्वाध्याय रे ॥१५३॥

(मंदाक्रांता)

मुक्त्वा भव्यो वचनरचनां सर्वदातः समस्तां
निर्वाणस्त्रीस्तनभरयुगाश्लेषसौख्यस्पृहाढ्यः ।
नित्यानंदाद्यतुलमहिमाधारके स्वस्वरूपे
स्थित्वा सर्वं तृणमिव जगज्जालमेको ददर्श ॥२६३॥

तथा चोक्तम्

"परियट्टणं च वायण पुच्छण अणुपेक्खणा य धम्मकहा ।
थुदिमंगलसंजुत्तो पंचविहो होदि सज्झाउ ॥"

जदि सक्कदि कादुं जे पडिकमणादिं करेज्ज झाणमयं ।
सत्तिविहीणो जा जइ सद्दहणं चेव कायव्वं ॥१५४॥

[श्लोकार्थः—] ऐसा होनेसे, मुक्तिरूपी स्त्रीके पुष्ट स्तनयुगलके आलिंगन-सौख्यकी स्पृहावाला भव्य जीव समस्त वचनरचनाको सर्वदा छोड़कर, नित्यानन्द आदि अतुल महिमाके धारक निजस्वरूपमें स्थित रहकर, अकेला (निरालम्बरूपसे) सर्व जगतजालको (समस्त लोकसमूहको) तृण समान (तुच्छ) देखता है ।२६३।

इसीप्रकार (श्रीमूलाचारमें पंचाचार अधिकारमें २१९ वीं गाथा द्वारा) कहा है कि:—

"[गाथार्थः—] परिवर्तन (पढ़े हुएको दुहरा लेना वह), वाचना (शास्त्र-व्याख्यान), पृच्छना (शास्त्रश्रवण), अनुप्रेक्षा (अनित्यत्वादि बारह अनुप्रेक्षा) और धर्मकथा (६३ शलाकापुरुषोंके चरित्र)—ऐसे पाँच प्रकारका, *स्तुति तथा मंगल सहित, स्वाध्याय है ।"

---

* स्तुति=देव और मुनिको वन्दन । (धर्मकथा, स्तुति और मंगल मिलकर स्वाध्यायका पाँचवाँ प्रकार माना जाता है ।)

जो कर सको तो ध्यानमय प्रतिक्रमण आदिक कीजिये ।
यदि शक्ति हो नहिं तो अरे श्रद्धान निश्चय कीजिये ॥१५४॥

यदि शक्यते कर्तुम् अहो प्रतिक्रमणादिकं करोषि ध्यानमयम् ।
शक्तिविहीनो यावद्यदि श्रद्धानं चैव कर्तव्यम् ॥१५४॥

अत्रशुद्धनिश्चयधर्मध्यानात्मकप्रतिक्रमणादिकमेव कर्तव्यमित्युक्तम् ।

मुक्तिसुन्दरीप्रथमदर्शनप्राभृतात्मकनिश्चयप्रतिक्रमणप्रायश्चित्तप्रत्याख्यानप्रमुखशुद्धनिश्चयक्रियाश्चैव कर्तव्याः संहननशक्तिप्रादुर्भावे सति हंहो मुनिशार्दूल परमागममकरंदनिष्यन्दिमुखपद्मप्रभ सहजवैराग्यप्रासादशिखरशिखामणे परद्रव्यपराङ्मुखस्वद्रव्यनिष्णातबुद्धे पंचेन्द्रियप्रसरवर्जितगात्रमात्रपरिग्रह । शक्तिहीनो यदि दग्धकालेऽकाले केवलं त्वया निजपरमात्मतत्त्वश्रद्धानमेव कर्तव्यमिति ।

गाथा १५४

अन्वयार्थः—[यदि] यदि [कर्तुम् शक्यते] किया जा सके तो [अहो] अहो ! [ध्यानमयम्] ध्यानमय [प्रतिक्रमणादिकं] प्रतिक्रमणादि [करोषि] कर; [यदि] यदि [शक्तिविहीनः] तू शक्तिविहीन हो तो [यावत्] तबतक [श्रद्धानं च एव] श्रद्धान ही [कर्तव्यम्] कर्तव्य है ।

टीकाः—यहाँ, शुद्धनिश्चयधर्मध्यानस्वरूप प्रतिक्रमणादि ही करने योग्य हैं ऐसा कहा है ।

सहज वैराग्यरूपी महलके शिखरके शिखामणि, परद्रव्यसे पराङ्मुख और स्वद्रव्यमें निष्णात बुद्धिवाले, पाँच इन्द्रियोंके विस्तार रहित देहमात्र परिग्रहके धारी, परमागमरूपी [1]मकरन्द झरते मुखकमलसे शोभायमान हे मुनिशार्दूल ! (अथवा परमागमरूपी मकरन्द झरते मुखवाले हे पद्मप्रभ मुनिशार्दूल !) संहनन और शक्तिका [2]प्रादुर्भाव हो तो मुक्तिसुन्दरीके प्रथम दर्शनकी भेंटस्वरूप निश्चयप्रतिक्रमण, निश्चयप्रायश्चित्त, निश्चयप्रत्याख्यान आदि शुद्धनिश्चयक्रियाएँ ही कर्तव्य है। यदि इस दग्धकालरूप (हीनकालरूप) अकालमें तू शक्तिहीन हो तो तुझे केवल निज परमात्मतत्त्वका श्रद्धान ही कर्तव्य है ।

[अब इस १५४ वीं गाथाकी टीका पूर्ण करते हुए टीकाकार मुनिराज श्लोक कहते हैं :]

१–मकरन्द=पुष्प-रस, पुष्प-पराग ।

२–प्रादुर्भाव=उत्पन्न होना वह; प्राकट्य; उत्पत्ति ।

(शिखरिणी)

असारे संसारे कलिविलसिते पापबहुले
न मुक्तिर्मार्गेऽस्मिन्ननघजिननाथस्य भवति ।
अतोऽध्यात्मं ध्यानं कथमिह भवेन्निर्मलधियां
निजात्मश्रद्धानं भवभयहरं स्वीकृतमिदम् ॥२६४॥

जिणकहियपरमसुत्ते पडिकमणादिय परीक्खऊण फुडं ।
मोणव्वएण जोई णियकज्जं साहए णिच्चं ॥१५५॥

जिनकथितपरमसूत्रे प्रतिक्रमणादिकं परीक्षयित्वा स्फुटम् ।
मौनव्रतेन योगी निजकार्यं साधयेन्नित्यम् ॥१५५॥

इह हि साक्षादन्तर्मुखस्य परमजिनयोगिनः शिक्षणमिदमुक्तम् ।

श्रीमदर्हन्मुखारविन्दविनिर्गतसमस्तपदार्थगर्भीकृतचतुरसन्दर्भे द्रव्यश्रुते शुद्धनिश्चयनयात्मकपरमात्मध्यानात्मकप्रतिक्रमणप्रभृतिसत्क्रियां बुद्ध्वा केवलं स्वकार्यपरः परमजिनयोगी-

---

[श्लोकार्थः—] असार संसारमें, पापसे भरपूर कलिकालका विलास होने पर, इस निर्दोष जिननाथके मार्गमें मुक्ति नहीं है । इसलिये इस कालमें अध्यात्मध्यान कैसे हो सकता है ? इसलिये निर्मलबुद्धिवाले भवभयका नाश करनेवाली ऐसी इस निजात्मश्रद्धाको अंगीकृत करते हैं ।२६४।

गाथा १५५

अन्वयार्थः—[जिनकथितपरमसूत्रे] जिनकथित परम सूत्रमें [प्रतिक्रमणादिकं स्फुटम् परीक्षयित्वा] प्रतिक्रमणादिककी स्पष्ट परीक्षा करके [मौनव्रतेन] मौनव्रत सहित [योगी] योगीको [निजकार्यम्] निज कार्य [नित्यम्] नित्य [साधयेत्] साधना चाहिये ।

टीकाः—यहाँ साक्षात् अन्तर्मुख परमजिनयोगीको यह शिक्षा दी गई है ।

श्रीमद् अर्हत्के मुखारविन्दसे निकले हुए समस्त पदार्थ जिसके भीतर समाये

पूरा परख प्रतिक्रमण आदिकको परम जिन सूत्रमें ।
रे साधिये निज कार्य अविरल साधु ! रत व्रत मौनमें ॥१५५॥

श्वरः प्रशस्ताप्रशस्तसमस्तवचनरचनां परित्यज्य निखिलसंगव्यासंगं मुक्त्वा चैकाकीभूय मौनव्रतेन सार्धं समस्तपशुजनैः निंद्यमानोऽप्यभिन्नः सन् निजकार्यं निर्वाणवामलोचनासंभोगसौख्यमूलम-नवरतं साधयेदिति ।

(मंदाक्रांता)

हित्वा भीतिं पशुजनकृतां लौकिकीमात्मवेदी
शस्ताशस्तां वचनरचनां घोरसंसारकर्त्रीम् ।
मुक्त्वा मोहं कनकरमणीगोचरं चात्मनात्मा
स्वात्मन्येव स्थितिमविचलां याति मुक्त्यै मुमुक्षुः ॥२६५॥

(वसन्ततिलका)

भीतिं विहाय पशुभिर्मनुजैः कृतां तं
मुक्त्वा मुनिः सकललौकिकजल्पजालम् ।
आत्मप्रवादकुशलः परमात्मवेदी
प्राप्नोति नित्यसुखदं निजतत्त्वमेकम् ॥२६६॥

हुए हैं ऐसी चतुरशब्दरचनारूप द्रव्यश्रुतमें शुद्धनिश्चयनयात्मक परमात्मध्यानस्वरूप प्रतिक्रमणादि सत्क्रियाको जानकर, केवल स्वकार्यमें परायण परमजिनयोगीश्वरको प्रशस्त–अप्रशस्त समस्त वचनरचनाको परित्यागकर, सर्व संगकी आसक्तिको छोड़कर अकेला होकर, मौनव्रत सहित, समस्त पशुजनों (पशु समान अज्ञानी मूर्ख मनुष्यों) द्वारा निन्दा किये जाने पर भी *अभिन्न रहकर, निजकार्यको—कि जो निजकार्य निर्वाणरूपी सुलोचनाके सम्भोगसौख्यका मूल है उसे—निरन्तर साधना चाहिये ।

[अब इस १५५ वीं गाथाकी टीका पूर्ण करते हुए टीकाकार मुनिराज दो श्लोक कहते हैं :]

[श्लोकार्थः—] आत्मज्ञानी मुमुक्षु जीव पशुजनकृत लौकिक भयको तथा घोर संसारकी करनेवाली प्रशस्त–अप्रशस्त वचनरचनाको छोड़कर और कनक–कामिनी सम्बन्धी मोहको तजकर, मुक्तिके लिये स्वयं अपनेसे अपनेमें ही अविचल स्थितिको प्राप्त होते हैं ।२६५।

[श्लोकार्थः—] आत्मप्रवादमें (आत्मप्रवाद नामक श्रुतमें) कुशल ऐसा

---

* अभिन्न=छिन्नभिन्न हुए बिना; अखण्डित; अच्युत ।

णाणाजीवा णाणाकम्मं णाणाविहं हवे लद्धी ।
तम्हा वयणविवादं सगपरसमएहिं वज्जिज्जो ॥१५६॥

नानाजीवा नानाकर्म नानाविधा भवेल्लब्धिः ।
तस्माद्वचनविवादः स्वपरसमयैर्वर्जनीयः ॥१५६॥

वाग्विषयव्यापारनिवृत्तिहेतूपन्यासोऽयम् ।

जीवा हि नानाविधाः मुक्ता अमुक्ताः भव्या अभव्याश्च, संसारिणः त्रसाः स्थावराः । द्वीन्द्रियत्रीन्द्रियचतुरिन्द्रियसंज्ञ्यसंज्ञिभेदात् पंच त्रसाः, पृथिव्यप्तेजोवायुवनस्पतयः स्थावराः ।

परमात्मज्ञानी मुनि पशुजनों द्वारा किये जानेवाले भयको छोड़कर और उस (प्रसिद्ध) सकल लौकिक जल्पजालको (वचनसमूहको) तजकर, शाश्वतसुखदायक एक निज तत्त्वको प्राप्त होता है ।२६६।

गाथा १५६

अन्वयार्थः—[**नानाजीवाः**] नाना प्रकारके जीव हैं, [**नानाकर्म**] नाना प्रकारका कर्म है, [**नानाविधा लब्धिः भवेत्**] नाना प्रकारकी लब्धि है; [**तस्मात्**] इसलिये [**स्वपरसमयैः**] स्वसमयों तथा परसमयोंके साथ (स्वधर्मियों तथा परधर्मियोंके साथ) [**वचनविवादः**] वचनविवाद [**वर्जनीयः**] वर्जनेयोग्य है ।

टीकाः—यह, वचनसम्बन्धी व्यापारकी निवृत्तिके हेतुका कथन है (अर्थात् वचनविवाद किसलिये छोड़नेयोग्य है उसका कारण यहाँ कहा है) ।

जीव नाना प्रकारके हैं : मुक्त हैं और अमुक्त, भव्य और अभव्य, संसारी—त्रस और स्थावर । द्वीन्द्रिय, त्रीन्द्रिय, चतुरिन्द्रिय तथा (पंचेन्द्रिय) संज्ञी तथा (पंचेन्द्रिय) असंज्ञी ऐसे भेदोंके कारण त्रस जीव पाँच प्रकारके हैं । पृथ्वी, जल, तेज, वायु और वनस्पति यह (पाँच प्रकारके) स्थावर जीव हैं । भविष्य कालमें स्वभाव-अनन्त-चतुष्टयात्मक सहजज्ञानादि गुणोंरूपसे *भवनके योग्य (जीव) वे भव्य हैं; उनसे विपरीत (जीव) वे वास्तवमें अभव्य हैं । द्रव्यकर्म, भावकर्म और नोकर्म ऐसे भेदोंके

---

* भवन=परिणमन; होना सो ।

हैं जीव नाना, कर्म नाना, लब्धि नाना विध कही ।
अतएव ही निज-पर समयके साथ वर्जित वाद भी ॥१५६॥

भाविकाले स्वभावानन्तचतुष्टयात्मसहजज्ञानादिगुणैः भवनयोग्या भव्याः, एतेषां विपरीता ह्यभव्याः । कर्म नानाविधं द्रव्यभावनोकर्मभेदात्, अथवा मूलोत्तरप्रकृतिभेदाच्च, अथ तीव्रतर-तीव्रमंदमंदतरोदयभेदाद्वा । जीवानां सुखादिप्राप्तेर्लब्धिः कालकरणोपदेशोपशमप्रायोग्यताभेदात् पञ्चधा । ततः परमार्थवेदिभिः स्वपरसमयेषु वादो न कर्तव्य इति ।

(शिखरिणी)

विकल्पो जीवानां भवति बहुधा संसृतिकरः
तथा कर्मानेकविधमपि सदा जन्मजनकम् ।
असौ लब्धिर्नाना विमलजिनमार्गे हि विदिता
ततः कर्तव्यं नो स्वपरसमयैर्वादवचनम् ॥२६७॥

लद्धूणं णिहि एक्को तस्स फलं अणुहवेइ सुजणत्ते ।
तह णाणी णाणणिहिं भुंजेइ चइत्तु परतत्तिं ॥१५७॥

कारण, अथवा (आठ) मूल प्रकृति और (एक सौ अड़तालीस) उत्तर प्रकृतिरूप भेदोंके कारण, अथवा तीव्रतर, तीव्र, मंद और मंदतर उदयभेदोंके कारण, कर्म नाना प्रकारका है । जीवोंको सुखादिकी प्राप्तिरूप लब्धि काल, करण, उपदेश, उपशम और प्रायोग्यतारूप भेदोके कारण पाँच प्रकारकी है । इसलिये परमार्थके जाननेवालोंको स्वसमयों तथा परसमयोंके साथ वाद करने योग्य नहीं है ।

[भावार्थः—] जगतमें जीव, उनके कर्म, उनकी लब्धियाँ आदि अनेक प्रकारके हैं; इसलिये सर्व जीव समान विचारोंके हों ऐसा होना असम्भव है । इसलिये पर जीवोंको समझा देनेकी आकुलता करना योग्य नहीं है । स्वात्मावलम्बनरूप निज हितमें प्रमाद न हो इसप्रकार रहना ही कर्तव्य है ।

[अब इस १५६ वीं गाथाकी टीका पूर्ण करते हुए टीकाकार मुनिराज श्लोक कहते हैं :]

[श्लोकार्थः—] जीवोंके, संसारके-कारणभूत ऐसे (त्रस, स्थावर आदि) बहुत प्रकारके भेद हैं; इसीप्रकार सदा जन्मका उत्पन्न करनेवाला कर्म भी अनेक प्रकारका है; यह लब्धि भी विमल जिनमार्गमें अनेक प्रकारकी प्रसिद्ध है; इसलिये स्वसमयों और परसमयोंके साथ वचनविवाद कर्तव्य नहीं है ।२६७।

निधि पा...मनुज तत्फल वतनमें गुप्त रह ज्यों भोगता ।
त्यों छोड़ परजन–संग ज्ञानी ज्ञान निधिको भोगता ।।१५७।।

लब्ध्वा निधिमेकस्तस्य फलमनुभवति सुजनत्वेन ।
तथा ज्ञानी ज्ञाननिधिं भुंक्ते त्यक्त्वा परततिम् ॥१५७॥

अत्र दृष्टान्तमुखेन सहजतत्त्वाराधनाविधिरुक्तः ।

कश्चिदेको दरिद्रः क्वचित् कदाचित् सुकृतोदयेन निधिं लब्ध्वा तस्य निधेः फलं हि सौजन्यं जन्मभूमिरिति रहस्ये स्थाने स्थित्वा अतिगूढवृत्त्यानुभवति इति दृष्टान्तपक्षः । दार्ष्टान्तपक्षेऽपि सहजपरमतत्त्वज्ञानी जीवः क्वचिदासन्नभव्यस्य गुणोदये सति सहजवैराग्यसम्पत्तौ सत्यां परमगुरुचरणनलिनयुगलनिरतिशयभक्त्या मुक्तिसुन्दरीमुखमकरन्दायमानं सहजज्ञाननिधिं परिप्राप्य परेषां जनानां स्वरूपविकलानां ततिं समूहं ध्यानप्रत्यूहकारणमिति त्यजति ।

गाथा १५७

अन्वयार्थः—[एकः] जैसे कोई एक (दरिद्र मनुष्य) [निधिम्] निधिको [लब्ध्वा] पाकर [सुजनत्वेन] अपने वतनमें (गुप्तरूपसे) रहकर [तस्य फलम्] उसके फलको [अनुभवति] भोगता है, [तथा] उसीप्रकार [ज्ञानी] ज्ञानी [परततिम्] पर जनोंके समूहको [त्यक्त्वा] छोड़कर [ज्ञाननिधिम्] ज्ञाननिधिको [भुंक्ते] भोगता है ।

टीकाः—यहाँ दृष्टान्त द्वारा सहजतत्त्वकी आराधनाकी विधि कही है ।

कोई एक दरिद्र मनुष्य क्वचित् कदाचित् पुण्योदयसे निधिको पाकर, उस निधिके फलको सौजन्य अर्थात् जन्मभूमि ऐसा जो गुप्त स्थान उसमें रहकर अति गुप्तरूपसे भोगता है; ऐसा दृष्टान्तपक्ष है । [1]दार्ष्टान्तपक्षसे भी (ऐसा है कि)—सहजपरमतत्त्वज्ञानी जीव क्वचित् आसन्नभव्यके (आसन्नभव्यतारूप) गुणका उदय होनेसे सहजवैराग्यसम्पत्ति होनेपर, परम गुरुके चरणकमलयुगलकी निरतिशय (उत्तम) भक्ति द्वारा मुक्तिसुन्दरीके मुखके [2]मकरन्द समान सहजज्ञाननिधिको पाकर [3]स्वरूपविकल ऐसे पर जनोंके समूहको ध्यानमें विघ्नका कारण समझकर छोड़ता है ।

[अब इस १५७ वीं गाथाकी टीका पूर्ण करते हुए टीकाकार मुनिराज दो श्लोक कहते हैं :]

१–दार्ष्टान्त=वह बात जो दृष्टान्त द्वारा समझाना हो; उपमेय ।

२–मकरन्द=पुष्प-रस; पुष्प-पराग ।

३–स्वरूपविकल=स्वरूपप्राप्ति रहित; अज्ञानी ।

(शालिनी)

अस्मिन् लोके लौकिकः कश्चिदेकः
लब्ध्वा पुण्यात्कांचनानां समूहम् ।
गूढो भूत्वा वर्तते त्यक्तसंगो
ज्ञानी तद्वत् ज्ञानरक्षां करोति ॥२६८॥

(मंदाक्रांता)

त्यक्त्वा संगं जननमरणातंकहेतुं समस्तं
कृत्वा बुद्ध्या हृदयकमले पूर्णवैराग्यभावम् ।
स्थित्वा शक्त्या सहजपरमानंदनिर्व्यग्ररूपे
क्षीणे मोहे तृणमिव सदा लोकमालोकयामः ॥२६९॥

सव्वे पुराणपुरिसा एवं आवासयं च काऊण ।
अपमत्तपहुदिठाणं पडिवज्ज य केवली जादा ॥१५८॥

सर्वे पुराणपुरुषा एवमावश्यकं च कृत्वा ।
अप्रमत्तप्रभृतिस्थानं प्रतिपद्य च केवलिनो जाताः ॥१५८॥

[श्लोकार्थः—] इस लोकमें कोई एक लौकिक जन पुण्यके कारण धनके समूहको पाकर, संगको छोड़कर गुप्त होकर रहता है; उसीकी भाँति ज्ञानी (परके संगको छोड़कर गुप्तरूपसे रहकर) ज्ञानकी रक्षा करता है।२६८।

[श्लोकार्थः—] जन्ममरणरूप रोगके हेतुभूत समस्त संगको छोड़कर, हृदयकमलमें [1]बुद्धिपूर्वक पूर्णवैराग्यभाव करके, सहज परमानन्द द्वारा जो अव्यग्र (अनाकुल) है ऐसे निज रूपमें (अपनी) [2]शक्तिसे स्थित रहकर, मोह क्षीण होने पर, हम लोकको सदा तृणवत् देखते हैं।२६९।

गाथा १५८

अन्वयार्थः—[सर्वे] सर्व [पुराणपुरुषाः] पुराण पुरुष [एवम्] इसप्रकार

१–बुद्धिपूर्वक=समझपूर्वक; विवेकपूर्वक; विचारपूर्वक।
२–शक्ति=सामर्थ्य; बल; वीर्य; पुरुषार्थ।

यों सर्व पौराणिक पुरुष आवश्यकोंकी विधि धरी।
पाकर अरे अप्रमत्त स्थान हुए नियत प्रभु केवली ॥१५८॥

परमावश्यकाधिकारोपसंहारोपन्यासोऽयम् ।

स्वात्माश्रयनिश्चयधर्मशुक्लध्यानस्वरूपं बाह्यावश्यकादिक्रियाप्रतिपक्षशुद्धनिश्चयपरमावश्यकं साक्षादपुनर्भववारांगनानङ्गसुखकारणं कृत्वा सर्वे पुराणपुरुषास्तीर्थंकरपरमदेवादयः स्वयंबुद्धाः केचिद् बोधितबुद्धाश्चाप्रमत्तादिसयोगिभट्टारकगुणस्थानपंक्तिमध्यारूढाः सन्तः केवलिनः सकलप्रत्यक्षज्ञानधराः परमावश्यकात्माराधनाप्रसादात् जाताश्चेति ।

(शार्दूलविक्रीडित)

स्वात्माराधनया पुराणपुरुषाः सर्वे पुरा योगिनः
प्रध्वस्ताखिलकर्मराक्षसगणा ये विष्णवो जिष्णवः ।
तान्नित्यं प्रणमत्यनन्यमनसा मुक्तिस्पृहो निस्पृहः
स स्यात् सर्वजनार्चितांघ्रिकमलः पापाटवीपावकः ॥२७०॥

[आवश्यकं च] आवश्यक [कृत्वा] करके, [अप्रमत्तप्रभृतिस्थानं] अप्रमत्तादि स्थानको [प्रतिपद्य च] प्राप्त करके [केवलिनः जाताः] केवली हुए ।

टीकाः—यह, परमावश्यक अधिकारके उपसंहारका कथन है ।

स्वात्माश्रित निश्चयधर्मध्यान और निश्चयशुक्लध्यानस्वरूप ऐसा जो बाह्य-आवश्यकादि क्रियासे प्रतिपक्ष शुद्धनिश्चय-परमावश्यक—साक्षात् अपुनर्भवरूपी (मुक्तिरूपी) स्त्रीके अनंग (अशरीरी) सुखका कारण—उसे करके, सर्व पुराण पुरुष—कि जिनमेंसे तीर्थंकर-परमदेव आदि स्वयंबुद्ध हुए और कुछ बोधितबुद्ध हुए वे—अप्रमत्तसे लेकर सयोगीभट्टारक तकके गुणस्थानोंकी पंक्तिमें आरूढ़ होते हुए, परमावश्यकरूप आत्माराधनाके प्रसादसे केवली—सकलप्रत्यक्षज्ञानधारी—हुए ।

[अब इस निश्चय-परमावश्यक अधिकारकी अन्तिम गाथाकी टीका पूर्ण करते हुए टीकाकार मुनिराज श्री पद्मप्रभमलधारिदेव दो श्लोक कहते हैं :]

[श्लोकार्थः—] पहले जो सर्व पुराण पुरुष—योगी—निज आत्माकी आराधनासे समस्त कर्मरूपी राक्षसोंके समूहका नाश करके *विष्णु और जयवन्त हुए (अर्थात् सर्वव्यापी ज्ञानवाले जिन हुए), उन्हें जो मुक्तिकी स्पृहावाला निःस्पृह जीव

---

* विष्णु=व्यापक । (केवली भगवानका ज्ञान सर्वको जानता है इसलिये उस अपेक्षासे उन्हें सर्वव्यापक कहा जाता है ।)

(मंदाक्रांता)

मुक्त्वा मोहं कनकरमणीगोचरं हेयरूपं
नित्यानन्दं निरुपमगुणालंकृतं दिव्यबोधम् ।
चेतः शीघ्रं प्रविश परमात्मानमव्यग्ररूपं
लब्ध्वा धर्मं परमगुरुतः शर्मणे निर्मलाय ॥२७१॥

इति सुकविजनपयोजमित्रपंचेन्द्रियप्रसरवर्जितगात्रमात्रपरिग्रहश्रीपद्मप्रभमलधारिदेव-विरचितायां नियमसारव्याख्यायां तात्पर्यवृत्तौ निश्चयपरमावश्यकाधिकार एकादशमः श्रुतस्कन्धः ॥

अनन्य मनसे नित्य नमन करता है, वह जीव पापरूपी अटवीको जलानेमें अग्नि समान है और उसके चरणकमलको सर्व जन पूजते हैं ।२७०।

[श्लोकार्थः—] हेयरूप ऐसा जो कनक और कामिनी सम्बन्धी मोह उसे छोड़कर, हे चित्त ! निर्मल सुखके हेतु परम गुरु द्वारा धर्मको प्राप्त करके तू अव्यग्ररूप (शांतस्वरूपी) परमात्मामें—कि जो (परमात्मा) नित्य आनन्दवाला है, निरुपम गुणोंसे अलंकृत है तथा दिव्य ज्ञानवाला है उसमें—शीघ्र प्रवेश कर ।२७१।

इसप्रकार, सुकविजनरूपी कमलोंके लिये जो सूर्य समान हैं और पाँच इन्द्रियोंके विस्तार रहित, देहमात्र जिन्हें परिग्रह था ऐसे श्री पद्मप्रभमलधारिदेव द्वारा रचित नियमसारकी तात्पर्यवृत्ति नामक टीकामें (अर्थात् श्रीमद्भगवत्कुन्दकुन्दाचार्यदेवप्रणीत श्री नियमसार परमागमकी निर्ग्रन्थ मुनिराज श्री पद्मप्रभमलधारिदेवविरचित तात्पर्यवृत्ति नामकी टीकामें) निश्चयपरमावश्यकाधिकार नामका ग्यारहवाँ श्रुतस्कन्ध समाप्त हुआ ।



- १२ -

शुद्धोपयोगाधिकारः

अथ सकलकर्मप्रलयहेतुभूतशुद्धोपयोगाधिकार उच्यते ।

जाणदि पस्सदि सव्वं ववहारणएण केवली भगवं ।
केवलणाणी जाणदि पस्सदि णियमेण अप्पाणं ॥१५६॥

जानाति पश्यति सर्वं व्यवहारनयेन केवली भगवान् ।
केवलज्ञानी जानाति पश्यति नियमेन आत्मानम् ॥१५९॥

अत्र ज्ञानिनः स्वपरस्वरूपप्रकाशकत्वं कथंचिदुक्तम् ।

आत्मगुणघातकघातिकर्मप्रध्वंसनेनासादितसकलविमलकेवलज्ञानकेवलदर्शनाभ्यां व्यव-

---

अब समस्त कर्मके प्रलयके हेतुभूत शुद्धोपयोगका अधिकार कहा जाता है ।

गाथा १५९

अन्वयार्थः—[व्यवहारनयेन] व्यवहारनयसे [केवली भगवान्] केवली भगवान [सर्वं] सब [जानाति पश्यति] जानते हैं और देखते हैं; [नियमेन] निश्चयसे [केवलज्ञानी] केवलज्ञानी [आत्मानम्] आत्माको (स्वयंको) [जानाति पश्यति] जानता है और देखता है ।

टीकाः—यहाँ, ज्ञानीको स्व–पर स्वरूपका प्रकाशकपना कथंचित् कहा है ।

''पराश्रितो व्यवहारः (व्यवहार पराश्रित है)'' ऐसा (शास्त्रका) वचन

व्यवहारसे प्रभु केवली सब जानते अरु देखते ।
निश्चय नयात्मक द्वारसे निज आतमको प्रभु पेखते ॥१५९॥

हारनयेन जगत्त्रयकालत्रयवर्तिसचराचरद्रव्यगुणपर्यायान् एकस्मिन् समये जानाति पश्यति च स भगवान् परमेश्वरः परमभट्टारकः, पराश्रितो व्यवहारः इति वचनात् । शुद्धनिश्चयतः परमेश्वरस्य महादेवाधिदेवस्य सर्वज्ञवीतरागस्य परद्रव्यग्राहकत्वदर्शकत्वज्ञायकत्वादिविविधविकल्पवाहिनी-समुद्भूतमूलध्यानाषादः* (?) स भगवान् त्रिकालनिरुपाधिनिरवधिनित्यशुद्धसहजज्ञानसहजद-र्शनाभ्यां निजकारणपरमात्मानं स्वयं कार्यपरमात्मापि जानाति पश्यति च । किं कृत्वा ? ज्ञानस्य धर्मोऽयं तावत् स्वपरप्रकाशकत्वं प्रदीपवत् । घटादिप्रमितेः प्रकाशो दीपस्तावद्भिन्नोऽपि स्वयं प्रकाशस्वरूपत्वात् स्वं परं च प्रकाशयति; आत्मापि व्यवहारेण जगत्त्रयं कालत्रयं च परं ज्योतिःस्वरूपत्वात् स्वयंप्रकाशात्मकमात्मानं च प्रकाशयति ।

उक्तं च पण्णवतिपापंडिविजयोपार्जितविशालकीर्तिभिर्महासेनपण्डितदेवैः—

होनेसे, व्यवहारनयसे वे भगवान परमेश्वर परमभट्टारक आत्मगुणोंका घात करनेवाले घातिकर्मोंके नाश द्वारा प्राप्त सकल–विमल केवलज्ञान और केवलदर्शन द्वारा त्रिलोकवर्ती तथा त्रिकालवर्ती सचराचर द्रव्यगुणपर्यायोंको एक समयमें जानते हैं और देखते हैं । शुद्धनिश्चयसे परमेश्वर महादेवाधिदेव सर्वज्ञवीतरागको, परद्रव्यके ग्राहकत्व, दर्शकत्व, ज्ञायकत्व आदिके विविध विकल्पोंकी सेनाकी उत्पत्ति मूलध्यानमें अभावरूप होनेसे (?), वे भगवान त्रिकाल–निरुपाधि, निरवधि (अमर्यादित), नित्यशुद्ध ऐसे सहजज्ञान और सहजदर्शन द्वारा निज कारणपरमात्माको, स्वयं कार्यपरमात्मा होने पर भी, जानते हैं और देखते हैं । किसप्रकार ? इस ज्ञानका धर्म तो, दीपककी भाँति, स्वपरप्रकाशकपना है । घटादिकी प्रमितिसे प्रकाश–दीपक (कथंचित्) भिन्न होने पर भी स्वयं प्रकाश-स्वरूप होनेसे स्व और परको प्रकाशित करता है; आत्मा भी ज्योतिस्वरूप होनेसे व्यवहारसे त्रिलोक और त्रिकालरूप परको तथा स्वयं प्रकाशस्वरूप आत्माको (स्वयंको) प्रकाशित करता है ।

९६ पाखण्डियों पर विजय प्राप्त करनेसे जिन्होंने विशाल कीर्ति प्राप्तकी है ऐसे महासेनपण्डितदेवने भी (श्लोक द्वारा) कहा है कि:—

---

* यहाँ संस्कृत टीकामें अशुद्धि मालूम होती है, इसलिये संस्कृत टीकामें तथा उसके अनुवादमें शंकाको सूचित करनेके लिये प्रश्नवाचक चिह्न दिया है ।

(अनुष्टुभ्)

"यथावद्वस्तुनिर्णीतिः सम्यग्ज्ञानं प्रदीपवत् ।
तत्स्वार्थव्यवसायात्म कथंचित् प्रमितेः पृथक् ॥"

अथ निश्चयपक्षेऽपि स्वपरप्रकाशकत्वमस्त्येवेति सततनिरुपरागनिरंजनस्वभावनिरतत्वात्, स्वाश्रितो निश्चयः इति वचनात् । सहजज्ञानं तावत् आत्मनः सकाशात् संज्ञालक्षणप्रयोजनेन भिन्नाभिधानलक्षणलक्षितमपि भिन्नं भवति न वस्तुवृत्त्या चेति, अतःकारणात् एतदात्मगतदर्शनसुखचारित्रादिकं जानाति स्वात्मानं कारणपरमात्मस्वरूपमपि जानातीति ।

तथा चोक्तं श्रीमदमृतचन्द्रसूरिभिः—

"[श्लोकार्थः—] वस्तुका यथार्थ निर्णय सो सम्यग्ज्ञान है । वह सम्यग्ज्ञान, दीपककी भाँति, स्वके और (पर) पदार्थोंके निर्णयात्मक है तथा प्रमितिसे (ज्ञप्तिसे) कथंचित् भिन्न है ।"

अब "स्वाश्रितो निश्चयः (निश्चय स्वाश्रित है)" ऐसा (शास्त्रका) वचन होनेसे, (ज्ञानको) सतत *निरुपराग निरंजन स्वभावमें लीनताके कारण निश्चयपक्षसे भी स्वपरप्रकाशकपना है ही । (वह इसप्रकार :) सहजज्ञान आत्मासे संज्ञा, लक्षण और प्रयोजनकी अपेक्षासे भिन्न नाम तथा भिन्न लक्षणसे (तथा भिन्न प्रयोजनसे) जाना जाता है तथापि वस्तुवृत्तिसे (अखण्ड वस्तुकी अपेक्षासे) भिन्न नहीं है; इस कारणसे यह (सहजज्ञान) आत्मगत (आत्मामें स्थित) दर्शन, सुख, चारित्र आदिको जानता है और स्वात्माको—कारणपरमात्माके स्वरूपको—भी जानता है ।

(सहजज्ञान स्वात्माको तो स्वाश्रित निश्चयनयसे जानता ही है और इसप्रकार स्वात्माको जानने पर उसके समस्त गुण भी ज्ञात हो ही जाते हैं । अब सहजज्ञानने जो यह जाना उसमें भेद-अपेक्षासे देखें तो सहजज्ञानके लिये ज्ञान ही स्व है और उसके अतिरिक्त अन्य सब—दर्शन, सुख आदि—पर है; इसलिये इस अपेक्षासे ऐसा सिद्ध हुआ कि निश्चयपक्षसे भी ज्ञान स्वको तथा परको जानता है ।)

इसीप्रकार (आचार्यदेव) श्रीमद् अमृतचन्द्रसूरिने (श्री समयसारकी आत्मख्याति नामक टीकामें १९२ वें श्लोक द्वारा) कहा है कि :—

---

* निरुपराग=उपराग रहित; निर्विकार ।

(मंदाक्रांता)

"बन्धच्छेदात्कलयदतुलं मोक्षमक्षय्यमेत-
न्नित्योद्योतस्फुटितसहजावस्थमेकान्तशुद्धम ।
एकाकारस्वरसभरतोत्यन्तगंभीरधीरं
पूर्णं ज्ञानं ज्वलितमचले स्वस्य लीनं महिम्नि ॥"

तथा हि—

(स्रग्धरा)

आत्मा जानाति विश्वं ह्यनवरतमयं केवलज्ञानमूर्तिः
मुक्तिश्रीकामिनीकोमलमुखकमले कामपीडां तनोति ।
शोभां सौभाग्यचिह्नां व्यवहरणनयाद्देवदेवो जिनेशः
तेनोच्चैर्निश्चयेन प्रहतमलकलिः स्वस्वरूपं स वेत्ति ॥२७२॥

जुगवं वट्टइ णाणं केवलणाणिस्स दंसणं च तहा ।
दिणयरपयासतावं जह वट्टइ तह मुणेयव्वं ॥१६०॥

"[श्लोकार्थः—] कर्मबन्धके छेदनसे अतुल अक्षय (अविनाशी) मोक्षका अनुभव करता हुआ, नित्य उद्योतवाली (जिसका प्रकाश नित्य है ऐसी) सहज अवस्था जिसकी विकसित होगई है ऐसा, एकान्तशुद्ध (–कर्मका मैल न रहनेसे जो अत्यन्त शुद्ध हुआ है ऐसा), तथा एकाकार (एक ज्ञानमात्र आकारसे परिणमित) निजरसकी अतिशयतासे जो अत्यन्त गम्भीर और धीर है ऐसा यह पूर्ण ज्ञान जगमगा उठा (–सर्वथा शुद्ध आत्मद्रव्य जाज्वल्यमान प्रगट हुआ), अपनी अचल महिमामें लीन हुआ ।"

और (इस १५९ वीं गाथाकी टीका पूर्ण करते हुए टीकाकार मुनिराज श्री पद्मप्रभमलधारिदेव श्लोक कहते हैं):—

[श्लोकार्थः—] व्यवहारनयसे यह केवलज्ञानमूर्ति आत्मा निरन्तर विश्वको वास्तवमें जानता है और मुक्तिलक्ष्मीरूपी कामिनीके कोमल मुखकमल पर कामपीड़ाको तथा सौभाग्यचिह्नवाली शोभाको फैलाता है । निश्चयसे तो, जिन्होंने मल और क्लेशको नष्ट किया है ऐसे वे देवाधिदेव जिनेश निज स्वरूपको अत्यन्त जानते हैं ।२७२।

ज्यों ताप और प्रकाश रविके एक सँग ही वर्तते ।
त्यों केवलीको ज्ञानदर्शन एक साथ प्रवर्तते ॥१६०॥

युगपद् वर्तते ज्ञानं केवलज्ञानिनो दर्शनं च तथा ।
दिनकरप्रकाशतापौ यथा वर्तेते तथा ज्ञातव्यम् ॥१६०॥

इह हि केवलज्ञानकेवलदर्शनयोर्युगपद्वर्तनं दृष्टान्तमुखेनोक्तम् ।

अत्र दृष्टान्तपक्षे क्वचित्काले बलाहकप्रक्षोभाभावे विद्यमाने नभस्स्थलस्य मध्यगतस्य सहस्रकिरणस्य प्रकाशतापौ यथा युगपद् वर्तेते, तथैव च भगवतः परमेश्वरस्य तीर्थाधिनाथस्य जगत्त्रयकालत्रयवर्तिषु स्थावरजंगमद्रव्यगुणपर्यायात्मकेषु ज्ञेयेषु सकलविमलकेवलज्ञानकेवलदर्शने च युगपद् वर्तेते । किं च संसारिणां दर्शनपूर्वमेव ज्ञानं भवति इति ।

तथा चोक्तं प्रवचनसारे—

"णाणं अत्थंतगयं लोयालोएसु वित्थडा दिट्ठी ।
णट्ठमणिट्ठं सव्वं इट्ठं पुण जं तु तं लद्धं ॥"

गाथा १६०

अन्वयार्थः—[केवलज्ञानिनः] केवलज्ञानीको [ज्ञानं] ज्ञान [तथा च] तथा [दर्शनं] दर्शन [युगपद्] युगपत् [वर्तते] वर्तते हैं । [दिनकरप्रकाशतापौ] सूर्यके प्रकाश और ताप [यथा] जिसप्रकार [वर्तेते] (युगपत्) वर्तते हैं [तथा ज्ञातव्यम्] उसीप्रकार जानना ।

टीकाः—यहाँ वास्तवमें केवलज्ञान और केवलदर्शनका युगपत् वर्तना दृष्टान्त द्वारा कहा है ।

यहाँ दृष्टान्तपक्षसे किसी समय बादलोंकी बाधा न हो तब आकाशके मध्यमें स्थित सूर्यके प्रकाश और ताप जिसप्रकार युगपत् वर्तते हैं, उसीप्रकार भगवान परमेश्वर तीर्थाधिनाथको त्रिलोकवर्ती और त्रिकालवर्ती, स्थावर–जंगम द्रव्यगुणपर्यायात्मक ज्ञेयोंमें सकल–विमल (सर्वथा निर्मल) केवलज्ञान और केवलदर्शन युगपत् वर्तते हैं । और (विशेष इतना समझना कि), संसारियोंको दर्शनपूर्वक ही ज्ञान होता है (अर्थात् प्रथम दर्शन और फिर ज्ञान होता है, युगपत् नहीं होते) ।

इसीप्रकार (श्रीमद्भगवत्कुन्दकुन्दाचार्यदेवप्रणीत) श्री प्रवचनसारमें (६१ वीं गाथा द्वारा) कहा है किः—

"[गाथार्थः—] ज्ञान पदार्थोंके पारको प्राप्त है और दर्शन लोकालोकमें विस्तृत है सर्व अनिष्ट नष्ट हुआ है और जो इष्ट है वह सब प्राप्त हुआ है ।"

अन्यच्च—

"दंसणपुव्वं णाणं छदमत्थाणं ण दोण्णि उवओग्गा ।
जुगवं जह्मा केवलिणाहे जुगवं तु ते दोवि ।।"

तथा हि—

(स्रग्धरा)

वर्तेते ज्ञानदृष्टी भगवति सततं धर्मतीर्थाधिनाथे
सर्वज्ञेऽस्मिन् समंतात् युगपदसदृशे विश्वलोकैकनाथे ।
एतावुष्णप्रकाशौ पुनरपि जगतां लोचनं जायतेऽस्मिन्
तेजोराशौ दिनेशे हतनिखिलतमस्तोमके ते तथैवम् ।।२७३।।

और दूसरा भी (श्री नेमिचन्द्रसिद्धान्तिदेवविरचित बृहद्द्रव्यसंग्रहमें ४४ वीं गाथा द्वारा) कहा है कि :—

"[गाथार्थः—] छद्मस्थोंको दर्शनपूर्वक ज्ञान होता है (अर्थात् पहले दर्शन और फिर ज्ञान होता है), क्योंकि उनको दोनों उपयोग युगपत् नहीं होते; केवली-नाथको वे दोनों युगपत् होते हैं ।"

और (इस १६० वीं गाथाकी टीका पूर्ण करते हुए टीकाकार मुनिराज चार श्लोक कहते हैं) :—

[श्लोकार्थः—] जो धर्मतीर्थके अधिनाथ (नायक) हैं, जो असदृश हैं (अर्थात् जिनके समान अन्य कोई नहीं है) और जो सकल लोकके एक नाथ हैं ऐसे इन सर्वज्ञ भगवानमें निरन्तर सर्वतः ज्ञान और दर्शन युगपत् वर्तते हैं । जिसने समस्त तिमिरसमूहका नाश किया है ऐसे इस तेजराशिरूप सूर्यमें जिसप्रकार यह उष्णता और प्रकाश (युगपत्) वर्तते हैं और जगतके जीवोंको नेत्र प्राप्त होते हैं (अर्थात् सूर्यके निमित्तसे जीवोंके नेत्र देखने लगते हैं), उसीप्रकार ज्ञान और दर्शन (युगपत्) होते हैं (अर्थात् उसीप्रकार सर्वज्ञ भगवानको ज्ञान और दर्शन एकसाथ होते हैं और सर्वज्ञ भगवानके निमित्तसे जगतके जीवोंको ज्ञान प्रगट होता है) ।२७३।

(वसंततिलका)

सद्बोधपोतमधिरुह्य भवाम्बुराशि-
मुल्लंघ्य शाश्वतपुरी सहसा त्वयाप्ता ।
तामेव तेन जिननाथपथाधुनाहं
याम्यन्यदस्ति शरणं किमिहोत्तमानाम् ॥२७४॥

(मंदाक्रांता)

एको देवः स जयति जिनः केवलज्ञानभानुः
कामं कान्तिं वदनकमले संतनोत्येव कांचित् ।
मुक्तेस्तस्याः समरसमयानंगसौख्यप्रदायाः
को नालं शं दिशतुमनिशं प्रेमभूमेः प्रियायाः ॥२७५॥

(अनुष्टुभ्)

जिनेन्द्रो मुक्तिकामिन्याः मुखपद्मे जगाम सः ।
अलिलीलां पुनः काममनङ्गसुखमद्वयम् ॥२७६॥

[श्लोकार्थः—] (हे जिननाथ !) सद्ज्ञानरूपी नौकामें आरोहण करके भवसागरको लाँघकर, तू शीघ्रतासे शाश्वतपुरीमें पहुँच गया । अब मैं जिननाथके उस मार्गसे (—जिस मार्गसे जिननाथ गये उसी मार्गसे) उसी शाश्वतपुरीमें जाता हूँ; (क्योंकि) इस लोकमें उत्तम पुरुषोंको (उस मार्गके अतिरिक्त) अन्य क्या शरण है ? ।२७४।

[श्लोकार्थः—] केवलज्ञानभानु (—केवलज्ञानरूपी प्रकाशको धारण करनेवाले सूर्य) ऐसे वे एक जिनदेव ही जयवन्त हैं । वे जिनदेव समरसमय अनंग (—अशरीरी, अतीन्द्रिय) सौख्यकी देनेवाली ऐसी उस मुक्तिके मुखकमल पर वास्तवमें किसी अवर्णनीय कान्तिको फैलाते हैं; (क्योंकि) कौन (अपनी) स्नेहमयी प्रियाको निरन्तर सुखोत्पत्तिका कारण नहीं होता ? ।२७५।

[श्लोकार्थः—] उन जिनेन्द्रदेवने मुक्तिकामिनीके मुखकमलके प्रति भ्रमरलीलाको धारण किया (अर्थात् वे उसमें भ्रमरकी भाँति लीन हुए) और वास्तवमें अद्वितीय अनंग (आत्मिक) सुखको प्राप्त किया ।२७६।

णाणं परप्पयासं दिट्ठी अप्पप्पयासया चेव ।
अप्पा सपरपयासो होदि त्ति हि मण्णसे जदि हि ॥१६१॥

ज्ञानं परप्रकाशं दृष्टिरात्मप्रकाशिका चैव ।
आत्मा स्वपरप्रकाशो भवतीति हि मन्यसे यदि खलु ॥१६१॥

आत्मनः स्वपर प्रकाशकत्वविरोधोपन्यासोऽयम् ।

इह हि तावदात्मनः स्वपरप्रकाशकत्वं कथमिति चेत् । ज्ञानदर्शनादिविशेषगुणसमृद्धो ह्यात्मा, तस्य ज्ञानं शुद्धात्मप्रकाशकासमर्थत्वात् परप्रकाशकमेव, यद्येवं दृष्टिर्निरंकुशा केवलमभ्यन्तरे ह्यात्मानं प्रकाशयति चेत् अनेन विधिना स्वपरप्रकाशको ह्यात्मेति हंहो जडमते प्राथमिकशिष्य, दर्शनशुद्धेरभावात् एवं मन्यसे, न खलु जडस्त्वत्तस्सकाशादपरः कश्चिज्जनः । अथ ह्यविरुद्धा स्याद्वादविद्यादेवता समभ्यर्चनीया सद्भिरनवरतम् । तत्रैकान्ततो ज्ञानस्य परप्रकाश-

---

गाथा १६१

अन्वयार्थः—[ज्ञानं परप्रकाशं] ज्ञान परप्रकाशक ही है [च] और [दृष्टिः आत्मप्रकाशिका एव] दर्शन स्वप्रकाशक ही है [आत्मा स्वपरप्रकाशः भवति] तथा आत्मा स्वपरप्रकाशक है [इति हि यदि खलु मन्यसे] ऐसा यदि वास्तवमें तू मानता हो तो उसमें विरोध आता है ।

टीकाः—यह, आत्माके स्वपरप्रकाशकपने सम्बन्धी विरोधकथन है ।

प्रथम तो, आत्माको स्वपरप्रकाशकपना किसप्रकार है ? (उस पर विचार किया जाता है ।) "आत्मा ज्ञानदर्शनादि विशेष गुणोसे समृद्ध है; उसका ज्ञान शुद्ध आत्माको प्रकाशित करनेमें असमर्थ होनेसे परप्रकाशक ही है; इसप्रकार निरंकुश दर्शन भी केवल अभ्यन्तरमें आत्माको प्रकाशित करता है (अर्थात् स्वप्रकाशक ही है ।) इस विधिसे आत्मा स्वपरप्रकाशक है ।"—इसप्रकार हे जड़मति प्राथमिक शिष्य ! यदि तू दर्शनशुद्धिके अभावके कारण मानता हो, तो वास्तवमें तुझसे अन्य कोई पुरुष जड़ (मूर्ख) नहीं है ।

दर्शन प्रकाशक आतमका परका प्रकाशक ज्ञान है ।
निज पर प्रकाशक आतमा, रे यह विरुद्ध विधान है ॥१६१॥

कत्वं न समस्ति; न केवलं स्यान्मते दर्शनमपि शुद्धात्मानं पश्यति । दर्शनज्ञानप्रभृत्यनेकधर्माणामाधारो ह्यात्मा । व्यवहारपक्षेऽपि केवलं परप्रकाशकस्य ज्ञानस्य न चात्मसंबन्धः सदा बहिरवस्थितत्वात्, आत्मप्रतिपत्तेरभावात् न सर्वगतत्वं; अतःकारणादिदं ज्ञानं न भवति, मृगतृष्णाजलवत् प्रतिभासमात्रमेव । दर्शनपक्षेऽपि तथा न केवलमभ्यन्तरप्रतिपत्तिकारणं दर्शनं भवति । सदैव सर्वं पश्यति हि चक्षुः, स्वस्याभ्यन्तरस्थितां कनीनिकां न पश्यत्येव । अतः स्वपरप्रकाशकत्वं ज्ञानदर्शनयोरविरुद्धमेव । ततः स्वपरप्रकाशको ह्यात्मा ज्ञानदर्शनलक्षण इति ।

तथा चोक्तं श्रीमदमृतचन्द्रसूरिभिः—

इसलिये अविरुद्ध ऐसी स्याद्वादविद्यारूपी देवी सज्जनों द्वारा सम्यक् प्रकारसे निरन्तर आराधना करने योग्य है । वहाँ (स्याद्वादमतमें), एकान्तसे ज्ञानको परप्रकाशकपना ही नहीं है; स्याद्वादमतमें दर्शन भी केवल शुद्धात्माको ही नहीं देखता (अर्थात् मात्र स्वप्रकाशक ही नहीं है) । आत्मा दर्शन, ज्ञान आदि अनेक धर्मोंका आधार है । (वहाँ) व्यवहारपक्षसे भी ज्ञान केवल परप्रकाशक हो तो, सदा बाह्यस्थितपनेके कारण, (ज्ञानको) आत्माके साथ सम्बन्ध नहीं रहेगा और (इसलिये) [1]आत्मप्रतिपत्तिके अभावके कारण सर्वगतपना (भी) नहीं बनेगा । इस कारणसे, यह ज्ञान होगा ही नहीं (अर्थात् ज्ञानका अस्तित्व ही नहीं होगा), मृगतृष्णाके जलकी भाँति आभासमात्र ही होगा । इसीप्रकार दर्शनपक्षसे भी, दर्शन केवल [2]अभ्यन्तरप्रतिपत्तिका ही कारण नहीं है, (सर्वप्रकाशनका कारण है); (क्योंकि) चक्षु सदैव सर्वको देखता है, अपने अभ्यन्तरमें स्थित कनीनिकाको नहीं देखता (इसलिये चक्षुकी बातसे ऐसा समझमें आता है कि दर्शन अभ्यन्तरको देखे और बाह्यस्थित पदार्थोंको न देखे ऐसा कोई नियम घटित नहीं होता) । इससे, ज्ञान और दर्शनको (दोनोंको) स्वपरप्रकाशकपना अविरुद्ध ही है । इसलिये (इसप्रकार) ज्ञानदर्शनलक्षणवाला आत्मा स्वपरप्रकाशक है ।

इसीप्रकार (आचार्यदेव) श्रीमद् अमृतचन्द्रसूरिने (श्री प्रवचनसारकी टीकामें चौथे श्लोक द्वारा) कहा है कि:—

१–आत्मप्रतिपत्ति=आत्माका ज्ञान; स्वको जानना सो ।

२–अभ्यन्तरप्रतिपत्ति=अन्तरंगका प्रकाशन; स्वको प्रकाशना सो ।

(स्रग्धरा)

"जानन्नप्येष विश्वं युगपदपि भवद्भाविभूतं समस्तं
मोहाभावाद्यदात्मा परिणमति परं नैव निर्लूनकर्मा ।
तेनास्ते मुक्त एव प्रसभविकसितज्ञप्तिविस्तारपीत-
ज्ञेयाकारां त्रिलोकीं पृथगपृथगथ द्योतयन् ज्ञानमूर्तिः ॥"

तथा हि—

(मंदाक्रांता)

ज्ञानं तावत् सहजपरमात्मानमेकं विदित्वा
लोकालोकौ प्रकटयति वा तद्गतं ज्ञेयजालम् ।
दृष्टिः साक्षात् स्वपरविषया क्षायिकी नित्यशुद्धा
ताभ्यां देवः स्वपरविषयं बोधति ज्ञेयराशिम् ॥२७७॥

णाणं परप्पयासं तइया णाणेण दंसणं भिण्णं ।
ण हवदि परदव्वगयं दंसणमिदि वण्णिदं तम्हा ॥१६२॥

"[श्लोकार्थः—] जिसने कर्मोंको छेद डाला है ऐसा यह आत्मा भूत, वर्तमान और भावी समस्त विश्वको (अर्थात् तीनों कालकी पर्यायों सहित समस्त पदार्थोंको) युगपत् जानता होने पर भी मोहके अभावके कारण पररूपसे परिणमित नहीं होता, इसलिये अब, जिसके समस्त ज्ञेयाकारोंको अत्यन्त विकसित ज्ञप्तिके विस्तार द्वारा स्वयं पी गया है ऐसे तीनों लोकके पदार्थोंको पृथक् और अपृथक् प्रकाशित करता हुआ वह ज्ञानमूर्ति मुक्त ही रहता है ।"

और (इस १६१ वीं गाथाकी टीका पूर्ण करते हुए टीकाकार मुनिराज श्लोक कहते हैं):—

[श्लोकार्थः—] ज्ञान एक सहजपरमात्माको जानकर लोकालोकको अर्थात् लोकालोकसम्बन्धी (समस्त) ज्ञेयसमूहको प्रगट करता है (—जानता है) । नित्यशुद्ध ऐसा क्षायिक दर्शन (भी) साक्षात् स्वपरविषयक है (अर्थात् वह भी स्वपरको साक्षात् प्रकाशित करता है) । उन दोनों (ज्ञान तथा दर्शन) द्वारा आत्मदेव स्वपरसम्बन्धी ज्ञेयराशिको जानता है (अर्थात् आत्मदेव स्वपर समस्त प्रकाश्य पदार्थोंको प्रकाशित करता है) ।२७७।

पर 'ही प्रकाशे ज्ञान तो हो ज्ञानसे दृग् भिन्न रे ।
'परद्रव्यगत नहिं दर्श !' वर्णित पूर्व तव मंतव्य रे ॥१६२॥

ज्ञानं परप्रकाशं तदा ज्ञानेन दर्शनं भिन्नम् ।
न भवति परद्रव्यगतं दर्शनमिति वर्णितं तस्मात् ।।१६२।।

पूर्वसूत्रोपात्तपूर्वपक्षस्य सिद्धान्तोक्तिरियम् ।

केवलं परप्रकाशकं यदि चेत् ज्ञानं तदा परप्रकाशकप्रधानेनानेन ज्ञानेन दर्शनं भिन्नमेव । परप्रकाशकस्य ज्ञानस्य चात्मप्रकाशकस्य दर्शनस्य च कथं सम्बन्ध इति चेत् सह्यविंध्ययोरिव अथवा भागीरथीश्रीपर्वतवत् । आत्मनिष्ठं यत् तद् दर्शनमस्त्येव, निराधारत्वात् तस्य ज्ञानस्य शून्यतापत्तिरेव, अथवा यत्र तत्र गतं ज्ञानं तत्तद्द्रव्यं सर्वं चेतनत्वमापद्यते, अतस्त्रिभुवने न कश्चिदचेतनः पदार्थः इति महतो दूषणस्यावतारः । तदेव ज्ञानं केवलं न परप्रकाशकम् इत्युच्यते हे शिष्य तर्हि दर्शनमपि न केवलमात्मगतमित्यभिहितम् । ततः खल्विदमेव समाधानं सिद्धान्त-हृदयं ज्ञानदर्शनयोः कथंचित् स्वपरप्रकाशत्वमस्त्येवेति ।

गाथा १६२

अन्वयार्थः—[ज्ञानं परप्रकाशं] यदि ज्ञान (केवल) परप्रकाशक हो [तदा] तो [ज्ञानेन] ज्ञानसे [दर्शनं] दर्शन [भिन्नम्] भिन्न सिद्ध होगा, [दर्शनम् पर-द्रव्यगतं न भवति इति वर्णितं तस्मात्] क्योंकि दर्शन परद्रव्यगत (परप्रकाशक) नहीं है ऐसा (पूर्व सूत्रमें) वर्णन किया गया है ।

टीकाः—यह, पूर्ण सूत्रमें (१६१ वीं गाथामें) कहे हुए पूर्वपक्षके सिद्धान्त सम्बन्धी कथन है ।

यदि ज्ञान केवल परप्रकाशक हो तो इस परप्रकाशनप्रधान (परप्रकाशक) ज्ञानसे दर्शन भिन्न ही सिद्ध होगा; (क्योंकि) सह्याचल और विंध्याचलकी भाँति अथवा गङ्गा और श्रीपर्वतकी भाँति, परप्रकाशक ज्ञानको और आत्मप्रकाशक दर्शनको सम्बन्ध किसप्रकार होगा ? जो आत्मनिष्ठ (-आत्मामें स्थित है वह तो दर्शन ही है ।), और उस ज्ञानको तो, निराधारपनेके कारण (अर्थात् आत्मारूपी आधार न रहनेसे), शून्यताकी आपत्ति ही आयेगी; अथवा तो जहाँ-जहाँ ज्ञान पहुँचेगा (अर्थात् जिस-जिस द्रव्यको ज्ञान पहुँचेगा) वे-वे सर्व द्रव्य चेतनाको प्राप्त होंगे, इसलिये तीन लोकमें कोई अचेतन पदार्थ सिद्ध नहीं होगा यह महान दोष प्राप्त होगा । इसीलिये (उपरोक्त दोषके भयसे), हे शिष्य ! ज्ञान केवल परप्रकाशक नहीं है ऐसा यदि तू कहे, तो दर्शन भी केवल आत्मगत (स्वप्रकाशक) नहीं है ऐसा भी (उसमें साथ ही) कहा जा

तथा चोक्तं श्रीमहासेनपंडितदेवैः—

"ज्ञानाद्भिन्नो न नाभिन्नो भिन्नाभिन्नः कथंचन।
ज्ञानं पूर्वापरीभूतं सोऽयमात्मेति कीर्तितः ॥"

तथा हि—

(मंदाक्रांता)

आत्मा ज्ञानं भवति न हि वा दर्शनं चैव तद्वत्
ताभ्यां युक्तः स्वपरविषयं वेत्ति पश्यत्यवश्यम्।
संज्ञाभेदादघकुलहरे चात्मनि ज्ञानदृष्ट्योः
भेदो जातो न खलु परमार्थेन बह्न्युष्णवत्सः ॥२७८॥

चुका है। इसलिये वास्तवमें सिद्धान्तके हार्दरूप ऐसा यही समाधान है कि ज्ञान और दर्शनको कथंचित् स्वपरप्रकाशकपना है ही।

इसीप्रकार श्री महासेनपण्डितदेवने (श्लोक द्वारा) कहा है कि:—

"[श्लोकार्थ:—] आत्मा ज्ञानसे (सर्वथा) भिन्न नहीं है, (सर्वथा) अभिन्न नहीं है, कथंचित् भिन्नाभिन्न है; *पूर्वापरभूत जो ज्ञान सो यह आत्मा है ऐसा कहा है।"

और (इस १६२ वीं गाथाकी टीका पूर्ण करते हुए टीकाकार मुनिराज श्लोक कहते हैं) :—

[श्लोकार्थ:—] आत्मा (सर्वथा) ज्ञान नहीं है, उसीप्रकार (सर्वथा) दर्शन भी नहीं ही है; वह उभययुक्त (ज्ञानदर्शनयुक्त) आत्मा स्वपर विषयको अवश्य जानता है और देखता है। अघसमूहके (पापसमूहके) नाशक आत्मामें और ज्ञानदर्शनमें संज्ञा भेदसे भेद उत्पन्न होता है (अर्थात् संज्ञा, संख्या, लक्षण और प्रयोजनकी अपेक्षासे उनमें उपरोक्तानुसार भेद है), परमार्थसे अग्नि और उष्णताकी भाँति उनमें (—आत्मामें और ज्ञानदर्शनमें) वास्तवमें भेद नहीं है (—अभेदता है) ।२७८।

---

* पूर्वापर=पूर्व और अपर; पहलेका और बादका।

अप्पा परप्पयासो तइया अप्पेण दंसणं भिण्णं ।
ण हवदि परदव्वगयं दंसणमिदि वणिणदं तम्हा ॥१६३॥

आत्मा परप्रकाशस्तदात्मना दर्शनं भिन्नम् ।
न भवति परद्रव्यगतं दर्शनमिति वर्णितं तस्मात् ॥१६३॥

एकान्तेनात्मनः परप्रकाशकत्वनिरासोऽयम् ।

यथैकान्तेन ज्ञानस्य परप्रकाशकत्वं पुरा निराकृतम्, इदानीमात्मा केवलं परप्रकाशश्चेत् तत्तथैव प्रत्यादिष्टं ÷भावभाववतोरेकास्तित्वनिर्वृत्तत्वात् । पुरा किल ज्ञानस्य परप्रकाशकत्वे सति तद्दर्शनस्य भिन्नत्वं ज्ञातम् । अत्रात्मनः परप्रकाशकत्वे सति तेनैव दर्शनं भिन्नमित्यवसेयम् । अपि चात्मा न परद्रव्यगत इति चेत् तद्दर्शनमप्यभिन्नमित्यवसेयम् । ततः खल्वात्मा

गाथा १६३

अन्वयार्थः—[आत्मा परप्रकाशः] यदि आत्मा (केवल) परप्रकाशक हो [तदा] तो [आत्मना] आत्मासे [दर्शनं] दर्शन [भिन्नम्] भिन्न सिद्ध होगा, [दर्शनं परद्रव्यगतं न भवति इति वर्णितं तस्मात्] क्योंकि दर्शन परद्रव्यगत (परप्रकाशक) नहीं है ऐसा (पहले तेरा मंतव्य) वर्णन किया गया है ।

टीकाः—यह, एकान्तसे आत्माको परप्रकाशकपना होनेकी बातका खण्डन है ।

जिसप्रकार पहले (१६२ वीं गाथामें) एकान्तसे ज्ञानको परप्रकाशकपना खण्डित किया गया है, उसीप्रकार अब यदि "आत्मा केवल परप्रकाशक है" ऐसा माना जाये तो वह बात भी उसीप्रकार खण्डन प्राप्त करती है, क्योंकि × भाव और भाववान एक अस्तित्वसे रचित होते हैं । पहले (१६२ वीं गाथामें) ऐसा बतलाया था कि यदि ज्ञान (केवल) परप्रकाशक हो तो ज्ञानसे दर्शन भिन्न सिद्ध होगा ! यहाँ (इस गाथामें) ऐसा समझना कि यदि आत्मा (केवल) परप्रकाशक हो तो आत्मासे ही दर्शन भिन्न सिद्ध होगा ! और यदि "आत्मा परद्रव्यगत नहीं है (अर्थात् आत्मा

÷ यहाँ कुछ अशुद्धि हो ऐसा लगता है ।

× ज्ञान भाव है और आत्मा भाववान है ।

पर ही प्रकाशे जीव तो हो आत्मसे दृग् भिन्न रे ।
'परद्रव्यगत नहिं दर्श', वर्णित पूर्व तव मंतव्य रे ॥१६३॥

स्वपरप्रकाशक इति यावत् । यथा कथंचित्स्वपरप्रकाशकत्वं ज्ञानस्य साधितम् अस्यापि तथा, धर्मधर्मिणोरेकस्वरूपत्वात् पावकोष्णवदिति ।

(मंदाक्रांता)

आत्मा धर्मी भवति सुतरां ज्ञानदृग्धर्मयुक्तः
तस्मिन्नेव स्थितिमविचलां तां परिप्राप्य नित्यम् ।
सम्यग्दृष्टिर्निखिलकरणग्रामनीहारभास्वान्
मुक्तिं याति स्फुटितसहजावस्थया संस्थितां ताम् ॥२७९॥

णाणं परप्पयासं ववहारणयेण दंसणं तम्हा ।
अप्पा परप्पयासो ववहारणयेण दंसणं तम्हा ॥१६४॥

ज्ञानं परप्रकाशं व्यवहारनयेन दर्शनं तस्मात् ।
आत्मा परप्रकाशो व्यवहारनयेन दर्शनं तस्मात् ॥१६४॥

केवल परप्रकाशक नहीं है, स्वप्रकाशक भी है)" ऐसा (अब) माना जाये तो आत्मासे दर्शनकी (सम्यक् प्रकारसे) अभिन्नता सिद्ध होगी ऐसा समझना । इसलिये वास्तवमें आत्मा स्वपरप्रकाशक है । जिसप्रकार (१६२ वीं गाथामें) ज्ञानका कथंचित् स्वपर-प्रकाशकपना सिद्ध हुआ उसीप्रकार आत्माका भी समझना, क्योंकि अग्नि और उष्णताकी भाँति धर्मी और धर्मका एक स्वरूप होता है ।

[अब इस १६३ वीं गाथाकी टीका पूर्ण करते हुए टीकाकार मुनिराज श्लोक कहते हैं :]

[श्लोकार्थः—] ज्ञानदर्शनधर्मोंसे युक्त होनेके कारण आत्मा वास्तवमें धर्मी है । सकल इन्द्रियसमूहरूपी हिमको (नष्ट करनेके लिये) सूर्य समान ऐसा सम्यग्दृष्टि जीव उसीमें (ज्ञानदर्शनधर्मयुक्त आत्मामें ही) सदा अविचल स्थिति प्राप्त करके मुक्तिको प्राप्त होता है—कि जो मुक्ति प्रगट हुई सहज दशारूपसे सुस्थित है ।२७९।

गाथा १६४

अन्वयार्थः—[व्यवहारनयेन] व्यवहारनयसे [ज्ञानं] ज्ञान [परप्रकाशं]

व्यवहारसे है ज्ञान पर-गत दर्श भी अतएव है ।
व्यवहारसे है जीव पर-गत दर्श भी अतएव है ॥१६४॥

व्यवहारनयस्य सफलत्वप्रद्योतनकथनमाह ।

इह सकलकर्मक्षयप्रादुर्भावासादितसकलविमलकेवलज्ञानस्य पुद्गलादिमूर्तामूर्तचेतनाचेतनपरद्रव्यगुणपर्यायप्रकरप्रकाशकत्वं कथमिति चेत्, पराश्रितो व्यवहारः इति वचनात् व्यवहारनयबलेनेति । ततो दर्शनमपि तादृशमेव । त्रैलोक्यप्रक्षोभहेतुभूततीर्थंकरपरमदेवस्य शतमखशतप्रत्यक्षवंदनायोग्यस्य कार्यपरमात्मनश्च तद्वदेव परप्रकाशकत्वम् । तेन व्यवहारनयबलेन च तस्य खलु भगवतः केवलदर्शनमपि तादृशमेवेति ।

तथा चोक्तं श्रुतबिन्दौ—

(मालिनी)

"जयति विजितदोषोऽमर्त्यमर्त्येन्द्रमौलि-
प्रविलसदुरुमालाभ्यर्चितांघ्रिर्जिनेन्द्रः ।
त्रिजगदजगती यस्येदृशौ व्यश्नुवाते
सममिव विषयेष्वन्योन्यवृत्तिं निषेद्धुम् ॥"

परप्रकाशक है; [तस्मात्] इसलिये [दर्शनम्] दर्शन परप्रकाशक है । [व्यवहारनयेन] व्यवहारनयसे [आत्मा] आत्मा [परप्रकाशः] परप्रकाशक है; [तस्मात्] इसलिये [दर्शनम्] दर्शन परप्रकाशक है ।

टीका:—यह, व्यवहारनयकी सफलता दर्शानेवाला कथन है ।

समस्त (ज्ञानावरणीय) कर्मका क्षय होनेसे प्राप्त होनेवाला सकल–विमल केवलज्ञान पुद्गलादि मूर्त–अमूर्त चेतन–अचेतन परद्रव्यगुणपर्यायसमूहका प्रकाशक किसप्रकार है—ऐसा यहाँ प्रश्न हो, तो उसका उत्तर यह है कि—"पराश्रितो व्यवहारः (व्यवहार पराश्रित है)" ऐसा (शास्त्रका) वचन होनेसे व्यवहारनयके बलसे ऐसा है (अर्थात् परप्रकाशक है); इसलिये दर्शन भी वैसा ही (–व्यवहारनयके बलसे परप्रकाशक) है । और तीन लोकके *प्रक्षोभके हेतुभूत तीर्थंकर–परमदेवको—कि जो सौ इन्द्रोंकी प्रत्यक्ष वंदनाके योग्य हैं और कार्यपरमात्मा हैं उन्हें—ज्ञानकी भाँति ही (व्यवहारनयके बलसे) परप्रकाशकपना है; इसलिये व्यवहारनयके बलसे उन भगवानका केवलदर्शन भी वैसा ही है ।

इसीप्रकार श्रुतबिन्दुमें (श्लोक द्वारा) कहा है कि:—

[श्लोकार्थ:—] जिन्होंने दोषोंको जीता है, जिनके चरण देवेन्द्रों तथा नरेन्द्रोंके

---

* प्रक्षोभके अर्थके लिये ८५ वें पृष्ठकी टिप्पणी देखो ।

तथा हि:—

(मालिनी)

व्यवहरणनयेन ज्ञानपुंजोऽयमात्मा
प्रकटतरसुदृष्टिः सर्वलोकप्रदर्शी ।
विदितसकलमूर्तामूर्ततत्त्वार्थसार्थः
स भवति परमश्रीकामिनीकामरूपः ॥२८०॥

णाणं अप्पपयासं णिच्छयणयएण दंसणं तम्हा ।
अप्पा अप्पपयासो णिच्छयणयएण दंसणं तम्हा ॥१६५॥

ज्ञानमात्मप्रकाशं निश्चयनयेन दर्शनं तस्मात् ।
आत्मा आत्मप्रकाशो निश्चयनयेन दर्शनं तस्मात् ॥१६५॥

मुकुटोंमें प्रकाशमान मूल्यवान मालाओंसे पुजते हैं (अर्थात् जिनके चरणोंमें इन्द्र तथा चक्रवर्तियोंके मणिमालायुक्त मुकुटवाले मस्तक अत्यन्त झुकते हैं), और (लोकालोकके समस्त) पदार्थ एक–दूसरेमें प्रवेशको प्राप्त न हों इसप्रकार तीन लोक और अलोक जिनमें एक साथ ही व्याप्त हैं (अर्थात् जो जिनेन्द्रको युगपत् ज्ञात होते हैं), वे जिनेन्द्र जयवन्त हैं ।"

और (इस १६४ वीं गाथाकी टीका पूर्ण करते हुए टीकाकार मुनिराज श्लोक कहते हैं) :—

[श्लोकार्थः—] ज्ञानपुंज ऐसा यह आत्मा अत्यन्त स्पष्ट दर्शन होने पर (अर्थात् केवलदर्शन प्रगट होने पर) व्यवहारनयसे सर्व लोकको देखता है तथा (साथमें वर्तते हुए केवलज्ञानके कारण) समस्त मूर्त–अमूर्त पदार्थसमूहको जानता है । वह (केवलदर्शनज्ञानयुक्त) आत्मा परमश्रीरूपी कामिनीका (मुक्तिसुन्दरीका) वल्लभ होता है ।२८०।

गाथा १६५

अन्वयार्थः—[निश्चयनयेन] निश्चयनयसे [ज्ञानम्] ज्ञान [आत्मप्रकाशं] स्वप्रकाशक है; [तस्मात्] इसलिये [दर्शनम्] दर्शन स्वप्रकाशक है । [निश्चयनयेन]

है ज्ञान निश्चय निज–प्रकाशक इसलिये त्यों दर्श है ।
है जीव निश्चय निज–प्रकाशक इसलिये त्यों दर्श है ॥१६५॥

निश्चयनयेन स्वरूपाख्यानमेतत् ।

निश्चयनयेन स्वप्रकाशकत्वलक्षणं शुद्धज्ञानमिहाभिहितं तथा सकलावरणप्रमुक्तशुद्ध-दर्शनमपि स्वप्रकाशकपरमेव । आत्मा हि विमुक्तसकलेन्द्रियव्यापारत्वात् स्वप्रकाशकत्वलक्षण-लक्षित इति यावत् । दर्शनमपि विमुक्तबहिर्विषयत्वात् स्वप्रकाशकत्वप्रधानमेव । इत्थं स्वरूप-प्रत्यक्षलक्षणलक्षिताक्षुण्णसहजशुद्धज्ञानदर्शनमयत्वात् निश्चयेन जगत्त्रयकालत्रयवर्तिस्थावरजंग-मात्मकसमस्तद्रव्यगुणपर्यायविषयेषु *आकाशप्रकाशकादिविकल्पविदूरस्सन् स्वस्वरूपे *संज्ञा-लक्षणप्रकाशतया निरवेशेषेणान्तर्मुखत्वादनवरतम् अखंडाद्वैतचिच्चमत्कारमूर्तिरात्मा तिष्ठतीति ।

(मंदाक्रांता)

आत्मा ज्ञानं भवति नियतं स्वप्रकाशात्मकं या
दृष्टिः साक्षात् प्रहतबहिरालंबना सापि चैषः ।
एकाकारस्वरसविसरापूर्णपुण्यः पुराणः
स्वस्मिन्नित्यं नियतवसतिर्निर्विकल्पे महिम्नि ।।२८१।।

निश्चयनयसे [आत्मा] आत्मा [आत्मप्रकाशः] स्वप्रकाशक है; [तस्मात्] इसलिये [दर्शनम्] दर्शन स्वप्रकाशक है ।

टीकाः—यह, निश्चयनयसे स्वरूपका कथन है ।

यहाँ निश्चयनयसे शुद्ध ज्ञानका लक्षण स्वप्रकाशकपना कहा है; उसीप्रकार सर्व आवरणसे मुक्त शुद्ध दर्शन भी स्वप्रकाशक ही है । आत्मा वास्तवमें, उसने सर्व इन्द्रिय-व्यापारको छोड़ा होनेसे, स्वप्रकाशकस्वरूप लक्षणसे लक्षित है; दर्शन भी, उसने बहिर्विषयपना छोड़ा होनेसे, स्वप्रकाशकत्वप्रधान ही है । इसप्रकार स्वरूपप्रत्यक्ष–लक्षणसे लक्षित अखण्ड–सहज–शुद्धज्ञानदर्शनमय होनेके कारण, निश्चयसे, त्रिलोक–त्रिकालवर्ती स्थावर–जंगमस्वरूप समस्त द्रव्यगुणपर्यायरूप विषयों सम्बन्धी प्रकाश्य–प्रकाशकादि विकल्पोंसे अति दूर वर्तता हुआ, स्वस्वरूपसंचेतन जिसका लक्षण है ऐसे प्रकाश द्वारा सर्वथा अन्तर्मुख होनेके कारण, आत्मा निरन्तर अखण्ड–अद्वैत–चैतन्यचमत्कारमूर्ति रहता है ।

[अब इस १६५ वीं गाथाकी टीका पूर्ण करते हुए टीकाकार मुनिराज श्लोक कहते हैं :]

[श्लोकार्थः—] निश्चयसे आत्मा स्वप्रकाशक ज्ञान है; जिसने बाह्य आलंबन

---

* प्रक्षाभके अर्थके हो ऐसा लगता है ।

अप्पसरूवं पेच्छदि लोयालोयं ण केवली भगवं ।
जइ कोइ भणइ एवं तस्स य किं दूसणं होइ ॥१६६॥

आत्मस्वरूपं पश्यति लोकालोकौ न केवली भगवान् ।
यदि कोपि भणत्येवं तस्य च किं दूषणं भवति ॥१६६॥

शुद्धनिश्चयनयविवक्षया परदर्शनत्वनिरासोऽयम् ।

व्यवहारेण पुद्गलादित्रिकालविषयद्रव्यगुणपर्यायैकसमयपरिच्छित्तिसमर्थसकलविमल-केवलावबोधमयत्वादिविविधमहिमाधारोऽपि स भगवान् केवलदर्शनतृतीयलोचनोऽपि परमनिर-पेक्षतया निःशेषतोऽन्तर्मुखत्वात् केवलस्वरूपप्रत्यक्षमात्रव्यापारनिरतनिरंजननिजसहजदर्शनेन सच्चिदानंदमयमात्मानं निश्चयतः पश्यतीति शुद्धनिश्चयनयविवक्षया यः कोपि शुद्धान्तस्तत्त्ववेदी परमजिनयोगीश्वरो वक्ति तस्य च न खलु दूषणं भवतीति ।

नष्ट किया है ऐसा (स्वप्रकाशक) जो साक्षात् दर्शन उस–रूप भी आत्मा है । एकाकार निजरसके विस्तारसे पूर्ण होनेके कारण जो पवित्र है तथा जो पुराण (सनातन) है ऐसा यह आत्मा सदा अपनी निर्विकल्प महिमामें निश्चितरूपसे वास करता है ।२८१।

गाथा १६६

अन्वयार्थः—[केवली भगवान्] (निश्चयसे) केवली भगवान [आत्मस्वरूपं] आत्मस्वरूपको [पश्यति] देखते हैं, [न लोकालोकौ] लोकालोकको नहीं—[एवं] ऐसा [यदि] यदि [कः अपि भणति] कोई कहे तो [तस्य च किं दूषणं भवति] उसे क्या दोष है ? (अर्थात् कुछ दोष नहीं है ।)

टीकाः—यह, शुद्धनिश्चयनयकी विवक्षासे परदर्शनका (परको देखनेका) खण्डन है ।

यद्यपि व्यवहारसे एक समयमें तीन काल संबंधी पुद्गलादि द्रव्यगुणपर्यायोंको जाननेमें समर्थ सकल–विमल केवलज्ञानमयत्वादि विविध महिमाओंका धारण करने-वाला है, तथापि वह भगवान, केवलदर्शनरूप तृतीय लोचनवाला होने पर भी, परम निरपेक्षपनेके कारण निःशेषरूपसे (सर्वथा) अन्तर्मुख होनेसे केवल स्वरूपप्रत्यक्षमात्र व्यापारमें लीन ऐसे निरंजन निज सहजदर्शन द्वारा सच्चिदानन्दमय आत्माको निश्चयसे

प्रभु केवली निजरूप देखें और लोकालोक ना ।
यदि कोइ यों कहता अरे उसमें कहो है दोष क्या ॥१६६॥

(मंदाक्रांता)

पश्यत्यात्मा सहजपरमात्मानमेकं विशुद्धं
स्वान्तःशुद्ध्यावसथमहिमाधारमत्यन्तधीरम् ।
स्वात्मन्युच्चैरविचलतया सर्वदान्तर्निमग्नं
तस्मिन्नैव प्रकृतिमहति व्यावहारप्रपंचः ॥२८२॥

देखता है (परन्तु लोकालोकको नहीं)—ऐसा जो कोई भी शुद्ध अन्तःतत्त्वका वेदन करनेवाला (जाननेवाला, अनुभव करनेवाला) परम जिनयोगीश्वर शुद्धनिश्चयनयकी विवक्षासे कहता है, उसे वास्तवमें दूषण नहीं है ।

[अब इस १६६ वीं गाथाकी टीका पूर्ण करते हुए टीकाकार मुनिराज श्लोक कहते हैं :]

[श्लोकार्थः—] (*निश्चयसे) आत्मा सहज परमात्माको देखता है—कि जो परमात्मा एक है, विशुद्ध है, निज अन्तःशुद्धिका आवास होने से (केवलज्ञानदर्शनादि) महिमाका धारण करनेवाला है, अत्यन्त धीर है और निज आत्मामें अत्यन्त अविचल होने से सर्वदा अन्तर्मग्न है । स्वभावसे महान ऐसे उस आत्मामें *व्यवहारप्रपंच (विस्तार) है ही नहीं । (अर्थात् निश्चयसे आत्मामें लोकालोकको देखनेरूप व्यवहार-विस्तार है ही नहीं) ।२८२।

---

* यहाँ निश्चय-व्यवहार सम्बन्धी ऐसा समझना कि—जिसमें स्वकी ही अपेक्षा हो वह निश्चयकथन है और जिसमें परकी अपेक्षा आये वह व्यवहारकथन है; इसलिये केवली भगवान लोकालोकको—परको जानते-देखते हैं ऐसा कहना वह व्यवहारकथन है और केवली भगवान स्वात्माको जानते-देखते हैं ऐसा कहना वह निश्चयकथन है । यहाँ व्यवहारकथनका वाच्यार्थ ऐसा नहीं समझना कि जिसप्रकार छद्मस्थ जीव लोकालोकको जानता-देखता ही नहीं है उसीप्रकार केवली भगवान लोकालोकको जानते-देखते ही नहीं हैं । छद्मस्थ जीवके साथ तुलनाकी अपेक्षासे तो केवली भगवान लोकालोकको जानते-देखते हैं वह बराबर सत्य है—यथार्थ है, क्योंकि वे त्रिकाल सम्बन्धी सर्व द्रव्य गुणपर्यायोंको यथास्थित बराबर परिपूर्णरूपसे वास्तवमें जानते-देखते हैं । "केवली भगवान लोकालोकको जानते-देखते हैं" ऐसा कहते हुए परकी अपेक्षा आती है इतना ही सूचित करनेके लिये, तथा केवली भगवान जिसप्रकार स्वको तद्रूप होकर निजसुखके संवेदन सहित जानते-देखते हैं उसीप्रकार लोकालोकको (परको) तद्रूप होकर परसुखदुःखादिके संवेदन सहित नहीं जानते-देखते, परन्तु परसे बिलकुल भिन्न रहकर, परके सुखदुःखादिका संवेदन किये बिना जानते-देखते हैं इतना ही सूचित करनेके लिये उसे व्यवहार कहा है ।

मुत्तममुत्तं दव्वं चेयणमियरं सगं च सव्वं च ।
पेच्छंतस्स दु णाणं पच्चक्खमणिंदियं होइ ॥१६७॥

मूर्तममूर्तं द्रव्यं चेतनमितरत् स्वकं च सर्वं च ।
पश्यतस्तु ज्ञानं प्रत्यक्षमतीन्द्रियं भवति ॥१६७॥

केवलबोधस्वरूपाख्यानमेतत् ।

षण्णां द्रव्याणां मध्ये मूर्तत्वं पुद्गलस्य पंचानाम् अमूर्तत्वम्; चेतनत्वं जीवस्यैव पंचानामचेतनत्वम् । मूर्तामूर्तचेतनाचेतनस्वद्रव्यादिकमशेषं त्रिकालविषयम् अनवरतं पश्यतो भगवतः श्रीमदर्हत्परमेश्वरस्य क्रमकरणव्यवधानापोढं चातीन्द्रियं च सकलविमलकेवलज्ञानं सकलप्रत्यक्षं भवतीति ।

तथा चोक्तं प्रवचनसारे—

गाथा १६७

अन्वयार्थः—[मूर्तम् अमूर्तम्] मूर्त–अमूर्त [चेतनम् इतरत्] चेतन–अचेतन [द्रव्यं] द्रव्योंको— [स्वकं च सर्वं च] स्वको तथा समस्तको [पश्यतः तु] देखनेवालेका (जाननेवालेका) [ज्ञानम्] ज्ञान [अतीन्द्रियं] अतीन्द्रिय है, [प्रत्यक्षम् भवति] प्रत्यक्ष है ।

टीकाः—यह, केवलज्ञानके स्वरूपका कथन है ।

छह द्रव्योंमें पुद्गलको मूर्तपना है, (शेष) पाँचको अमूर्तपना है; जीवको ही चेतनपना है, (शेष) पाँचको अचेतनपना है । त्रिकाल सम्बन्धी मूर्त–अमूर्त चेतन–अचेतन स्वद्रव्यादि अशेषको (स्व तथा पर समस्त द्रव्योंको) निरन्तर देखनेवाले भगवान श्रीमद् अर्हंतपरमेश्वरका जो क्रम, इन्द्रिय और *व्यवधान रहित, अतीन्द्रिय सकल-विमल (सर्वथा निर्मल) केवलज्ञान वह सकलप्रत्यक्ष है ।

इसीप्रकार (श्रीमद्भगवत्कुन्दकुन्दाचार्यदेवप्रणीत) श्री प्रवचनसारमें (५४ वीं गाथा द्वारा) कहा है कि:—

---

* व्यवधानके अर्थके लिये २८ वें पृष्ठकी टिप्पणी देखो ।

जो मूर्त और अमूर्त जड़ चेतन स्वपर सब द्रव्य हैं ।
देखे उन्हें उसको अतीन्द्रिय ज्ञान है प्रत्यक्ष है ॥१६७॥

"जं पेच्छदो अमुत्तं मुत्तेसु अदिंदियं च पच्छण्णं।
सयलं सगं च इदरं तं णाणं हवदि पच्चक्खं॥"

तथा हि—

(मंदाक्रांता)

सम्यग्वर्ती त्रिभुवनगुरुः शाश्वतानन्तधामा
लोकालोकौ स्वपरमखिलं चेतनाचेतनं च।
तार्तीयं यन्नयनमपरं केवलज्ञानसंज्ञं
तेनैवायं विदितमहिमा तीर्थनाथो जिनेन्द्रः॥२८३॥

पुव्वुत्तसयलदव्वं णाणागुणपज्जएण संजुत्तं।
जो ण य पेच्छइ सम्मं परोक्खदिट्ठी हवे तस्स॥१६८॥

पूर्वोक्तसकलद्रव्यं नानागुणपर्यायेण संयुक्तम्।
यो न च पश्यति सम्यक् परोक्षदृष्टिर्भवेत्तस्य॥१६८॥

"[गाथार्थः—] देखनेवालेका जो ज्ञान अमूर्तको, मूर्त पदार्थोंमें भी अतीन्द्रियको, और प्रच्छन्नको इन सबको—स्वको तथा परको—देखता है, वह ज्ञान प्रत्यक्ष है।"

और (इस १६७ वीं गाथाकी टीका पूर्ण करते हुए टीकाकार मुनिराज श्लोक कहते हैं):—

[श्लोकार्थः—] केवलज्ञान नामका जो तीसरा उत्कृष्ट नेत्र उसीसे जिनकी प्रसिद्ध महिमा है, जो तीन लोकके गुरु हैं और शाश्वत अनन्त जिनका *धाम है—ऐसे यह तीर्थनाथ जिनेन्द्र लोकालोकको अर्थात् स्व-पर ऐसे समस्त चेतन-अचेतन पदार्थोंको सम्यक् प्रकारसे (बराबर) जानते हैं।२८३।

गाथा १६८

अन्वयार्थः—[नानागुणपर्यायेण संयुक्तम्] विविध गुणों और पर्यायोंसे संयुक्त [पूर्वोक्तसकलद्रव्यं] पूर्वोक्त समस्त द्रव्योंको [यः] जो [सम्यक्] सम्यक्

---

* धाम=(१) भव्यता; (२) तेज; (३) बल।

जो विविध गुण पर्यायसे संयुक्त सारी सृष्टि है।
देखे न जो सम्यक् प्रकार परोक्ष रे वह दृष्टि है॥१६८॥

अत्र केवलदृष्टेरभावात् सकलज्ञत्वं न समस्तीत्युक्तम् ।

पूर्वसूत्रोपात्तमूर्तादिद्रव्यं समस्तगुणपर्यायात्मकं, मूर्तस्य मूर्तगुणाः, अचेतनस्याचेतनगुणाः, अमूर्तस्यामूर्तगुणाः, चेतनस्य चेतनगुणाः, षड्हानिवृद्धिरूपाः सूक्ष्माः परमागमप्रामाण्यादभ्युपगम्याः अर्थपर्यायाः षण्णां द्रव्याणां साधारणाः, नरनारकादिव्यंजनपर्याया जीवानां पंचसंसारप्रपंचानां, पुद्गलानां स्थूलस्थूलादिस्कन्धपर्यायाः, चतुर्णां धर्मादीनां शुद्धपर्यायाश्चेति, एभिः संयुक्तं तद्द्रव्यजालं यः खलु न पश्यति, तस्य संसारिणामिव परोक्षदृष्टिरिति ।

(वसंततिलका)

योनैव पश्यति जगत्त्रयमेकदैव
कालत्रयं च तरसा सकलज्ञमानी ।
प्रत्यक्षदृष्टिरतुला न हि तस्य नित्यं
सर्वज्ञता कथमिहास्य जडात्मनः स्यात् ॥२८४॥

प्रकारसे (बराबर) [न च पश्यति] नहीं देखता, [तस्य] उसे [परोक्षदृष्टिः भवेत्] परोक्ष दर्शन है ।

टीकाः—यहाँ, केवलदर्शनके अभावमें (अर्थात् प्रत्यक्ष दर्शनके अभावमें) सर्वज्ञपना नहीं होता ऐसा कहा है ।

समस्त गुणों और पर्यायोंसे संयुक्त पूर्वसूत्रोक्त (१६७ वीं गाथामें कहे हुए) मूर्तादि द्रव्योंको जो नहीं देखता;—अर्थात् मूर्त द्रव्यके मूर्त गुण होते हैं, अचेतनके अचेतन गुण होते हैं, अमूर्तके अमूर्त गुण होते हैं, चेतनके चेतन गुण होते हैं; षट् (छह प्रकारकी) हानिवृद्धिरूप, सूक्ष्म, परमागमके प्रमाणसे स्वीकार करनेयोग्य अर्थपर्यायें छह द्रव्योंको साधारण हैं, नरनारकादि व्यंजनपर्यायें पाँच प्रकारकी *संसारप्रपंचवाले जीवोंको होती हैं, पुद्गलोंको स्थूल–स्थूल आदि स्कन्धपर्यायें होती हैं और धर्मादि चार द्रव्योंको शुद्ध पर्यायें होती हैं; इन गुणपर्यायोंसे संयुक्त ऐसे उस द्रव्यसमूहको जो वास्तवमें नहीं देखता;—उसे (भले वह सर्वज्ञताके अभिमानसे दग्ध हो तथापि) संसारियोंकी भाँति परोक्षदृष्टि है ।

[अब इस १६८ वीं गाथाकी टीका पूर्ण करते हुए टीकाकार मुनिराज श्लोक कहते हैं :]

---

* संसारप्रपंच=संसारविस्तार । (संसारविस्तार द्रव्य, क्षेत्र, काल, भव और भाव—ऐसे पाँच परावर्तनरूप है ।)

लोयालोयं जाणइ अप्पाणं णेव केवली भगवं ।
जइ कोइ भणइ एवं तस्स य किं दूसणं होइ ॥१६९॥

लोकालोकौ जानात्यात्मानं नैव केवली भगवान् ।
यदि कोऽपि भणति एवं तस्य च किं दूषणं भवति ॥१६९॥

व्यवहारनयप्रादुर्भावकथनमिदम् ।

सकलविमलकेवलज्ञानत्रितयलोचनो भगवान् अपुनर्भवकमनीयकामिनीजीवितेशः षड्द्रव्यसंकीर्णलोकत्रयं शुद्धाकाशमात्रालोकं च जानाति, पराश्रितो व्यवहार इति मानात् व्यवहारेण व्यवहारप्रधानत्वात्, निरुपरागशुद्धात्मस्वरूपं नैव जानाति, यदि व्यवहारनयविवक्षया कोपि

[श्लोकार्थः—] सर्वज्ञताके अभिमानवाला जो जीव शीघ्र एक ही कालमें तीन जगतको तथा तीन कालको नहीं देखता, उसे सदा (अर्थात् कदापि) अतुल प्रत्यक्ष दर्शन नहीं है; उस जड़ आत्माको सर्वज्ञता किसप्रकार होगी ? २८४।

गाथा १६९

अन्वयार्थः—[केवली भगवान्] (व्यवहारसे) केवली भगवान [लोकालोकौ] लोकालोकको [जानाति] जानते हैं, [न एव आत्मानम्] आत्माको नहीं—[एवं] ऐसा [यदि] यदि [कः अपि भणति] कोई कहे तो [तस्य च किं दूषणं भवति] उसे क्या दोष है ? (अर्थात् कोई दोष नहीं है।)

टीकाः—यह, व्यवहारनयकी प्रगटतासे कथन है ।

"पराश्रितो व्यवहारः (व्यवहारनय पराश्रित है)" ऐसे (शास्त्रके) अभिप्रायके कारण, व्यवहारसे व्यवहारनयकी प्रधानता द्वारा (अर्थात् व्यवहारसे व्यवहारनयको प्रधान करके), "सकल–विमल केवलज्ञान जिनका तीसरा लोचन है और अपुनर्भवरूपी सुन्दर कामिनीके जो जीवितेश हैं (–मुक्तिसुन्दरीके जो प्राणनाथ हैं) ऐसे भगवान छह द्रव्योंसे व्याप्त तीन लोकको और शुद्ध–आकाशमात्र अलोकको जानते हैं, निरुपराग (निर्विकार) शुद्ध आत्मस्वरूपको नहीं ही जानते"—ऐसा यदि व्यवहारनयकी

भगवान केवलि लोक और अलोक जाने, आत्म–ना ।
यदि कोइ यों कहता अरे उसमें कहो है दोष क्या ॥१६९॥

जिननाथतत्त्वविचारलब्धः (दक्षः) कदाचिदेवं वक्ति चेत्, तस्य न खलु दूषणमिति ।

तथा चोक्तं श्रीसमन्तभद्रस्वामिभिः—

(अपरवक्त्र)

"स्थितिजननिरोधलक्षणं
चरमचरं च जगत्प्रतिक्षणम् ।
इति जिन सकलज्ञलांछनं
वचनमिदं वदतांवरस्य ते ।।"

तथा हि—

(वसंततिलका)

जानाति लोकमखिलं खलु तीर्थनाथः
स्वात्मानमेकमनघं निजसौख्यनिष्ठम् ।
नो वेत्ति सोऽयमिति तं व्यवहारमार्गाद्
वक्तीति कोऽपि मुनिपो न च तस्य दोषः ।।२८५।।

विवक्षासे कोई जिननाथके तत्वविचारमें निपुण जीव (–जिनदेव द्वारा कहे हुए तत्त्वके विचारमें प्रवीण जीव) कदाचित् कहे, तो उसे वास्तवमें दूषण नहीं है ।

इसीप्रकार (आचार्यवर) श्री समन्तभद्रस्वामीने (बृहत्स्वयंभूस्तोत्रमें श्री मुनिसुव्रत भगवानकी स्तुति करते हुए ११४ वें श्लोक द्वारा) कहा है कि :—

"[श्लोकार्थः—] हे जिनेन्द्र ! तू वक्ताओंमें श्रेष्ठ है; 'चराचर (जंगम तथा स्थावर) जगत प्रतिक्षण (प्रत्येक समयमें) उत्पादव्ययध्रौव्यलक्षणवाला है' ऐसा यह तेरा वचन (तेरी) सर्वज्ञताका चिह्न है ।"

और (इस १६९ वीं गाथाकी टीका पूर्ण करते हुए टीकाकार मुनिराज श्लोक कहते हैं) :—

[श्लोकार्थः—] तीर्थनाथ वास्तवमें समस्त लोकको जानते हैं और वे एक, अनघ (निर्दोष), निजसौख्यनिष्ठ (निज सुखमें लीन) स्वात्माको नहीं जानते—ऐसा कोई मुनिवर व्यवहारमार्गसे कहे तो उसे दोष नहीं है ।२८५।

णाणं जीवसरूवं तम्हा जाणेइ अप्पगं अप्पा।
अप्पाणं ण वि जाणदि अप्पादो होदि विदिरित्तं ॥१७०॥

ज्ञानं जीवस्वरूपं तस्माज्ज्ञानात्यात्मकं आत्मा ।
आत्मानं नापि जानात्यात्मनो भवति व्यतिरिक्तम् ॥१७०॥

अत्र ज्ञानस्वरूपो जीव इति वितर्केणोक्तः ।

इह हि ज्ञानं तावज्जीवस्वरूपं भवति, ततो हेतोरखण्डाद्वैतस्वभावनिरतं निरतिशयपरमभावनासनाथं मुक्तिसुन्दरीनाथं बहिर्व्यावृत्तकौतूहलं निजपरमात्मानं जानाति कश्चिदात्मा भव्यजीव इति अयं खलु स्वभाववादः। अस्य विपरीतो वितर्कः स खलु विभाववादः प्राथमिकशिष्याभिप्रायः। कथमिति चेत्, पूर्वोक्तस्वरूपमात्मानं खलु न जानात्यात्मा, स्वरूपावस्थितः

गाथा १७०

अन्वयार्थः—[ज्ञानं] ज्ञान [जीवस्वरूपं] जीवका स्वरूप है, [तस्मात्] इसलिये [आत्मा] आत्मा [आत्मकं] आत्माको [जानाति] जानता है; [आत्मानं न अपि जानाति] यदि ज्ञान आत्माको न जाने तो [आत्मनः] आत्मासे [व्यतिरिक्तम्] व्यतिरिक्त (पृथक्) [भवति] सिद्ध हो !

टीकाः—यहाँ (इस गाथामें) "जीव ज्ञानस्वरूप है" ऐसा वितर्कसे (दलीलसे) कहा है।

प्रथम तो, ज्ञान वास्तवमें जीवका स्वरूप है; उस हेतुसे, जो अखण्ड अद्वैत स्वभावमें लीन है, जो [1]निरतिशय परम भावना सहित है, जो मुक्तिसुन्दरीका नाथ है और बाह्यमें जिसने [2]कौतूहल व्यावृत्त किया है (अर्थात् बाह्य पदार्थों सम्बन्धी कुतूहलका जिसने अभाव किया है) ऐसे निज परमात्माको कोई आत्मा—भव्य जीव—जानता है।—ऐसा यह वास्तवमें स्वभाववाद है। इससे विपरीत वितर्क (-विचार) वह वास्तवमें विभाववाद है, प्राथमिक शिष्यका अभिप्राय है।

१-निरतिशय=कोई दूसरा जिससे बढ़कर नहीं है ऐसी; अनुत्तम; श्रेष्ठ; अद्वितीय।
२-कौतूहल=उत्सुकता; आश्चर्य; कौतुक।

है ज्ञान जीव स्वरूप इससे जीव जाने जीवको।
निजको न जाने ज्ञान तो वह आतमासे भिन्न हो ॥१७०॥

संतिष्ठति। यथोष्णस्वरूपस्याग्नेः स्वरूपमग्निः किं जानाति, तथैव ज्ञानज्ञेयविकल्पाभावात् सोऽयमात्मात्मनि तिष्ठति। हंहो प्राथमिकशिष्य अग्निवदयमात्मा किमचेतनः। किं बहुना। तमात्मानं ज्ञानं न जानाति चेद् देवदत्तरहितपरशुवत् इदं हि नार्थक्रियाकारि, अत एव आत्मनः सकाशाद् व्यतिरिक्तं भवति। तन्न खलु सम्मतं स्वभाववादिनामिति।

तथा चोक्तं श्री गुणभद्रस्वामिभिः—

(अनुष्टुभ्)

"ज्ञानस्वभावः स्यादात्मा स्वभावावाप्तिरच्युतिः।
तस्मादच्युतिमाकांक्षन् भावयेज्ज्ञानभावनाम्॥"

वह (विपरीत वितर्क—प्राथमिक शिष्यका अभिप्राय) किसप्रकार है? (वह इसप्रकार है:—) "पूर्वोक्तस्वरूप (ज्ञानस्वरूप) आत्माको आत्मा वास्तवमें जानता नहीं है, स्वरूपमें अवस्थित रहता है (—आत्मामें मात्र स्थित रहता है)। जिसप्रकार उष्णता-स्वरूप अग्निके स्वरूपको (अर्थात् अग्निको) क्या अग्नि जानती है? (नहीं ही जानती।) उसीप्रकार ज्ञानज्ञेय सम्बन्धी विकल्पके अभावसे यह आत्मा आत्मामें (मात्र) स्थित रहता है (—आत्माको जानता नहीं है)।"

(उपरोक्त वितर्कका उत्तर:—) "हे प्राथमिक शिष्य! अग्निकी भाँति क्या आत्मा अचेतन है (कि जिससे वह अपनेको न जाने)? अधिक क्या कहा जाये? (संक्षेपमें,) यदि उस आत्माको ज्ञान न जाने तो वह ज्ञान, देवदत्त रहित कुल्हाड़ीकी भाँति, * अर्थक्रियाकारी सिद्ध नहीं होगा, और इसलिये वह आत्मासे भिन्न सिद्ध होगा! वह तो (अर्थात् ज्ञान और आत्माकी सर्वथा भिन्नता तो) वास्तवमें स्वभाववादियोंको संमत नहीं है। (इसलिये निर्णय कर कि ज्ञान आत्माको जानता है।)"

इसीप्रकार (आचार्यवर) श्री गुणभद्रस्वामीने (आत्मानुशासनमें १७४ वें श्लोक द्वारा) कहा है कि:—

"[श्लोकार्थ:—] आत्मा ज्ञानस्वभाव है; स्वभावकी प्राप्ति वह अच्युति

---

* अर्थक्रियाकारी=प्रयोजनभूत क्रिया करनेवाला। (जिसप्रकार देवदत्तके बिना अकेली कुल्हाड़ी अर्थक्रिया—काटनेकी क्रिया—नहीं करती, उसीप्रकार यदि ज्ञान आत्माको न जानता हो तो ज्ञानने भी अर्थक्रिया—जाननेकी क्रिया—नहीं की; इसलिये जिसप्रकार अर्थ क्रियाशून्य कुल्हाड़ी देवदत्तसे भिन्न है उसीप्रकार अर्थक्रियाशून्य ज्ञान आत्मासे भिन्न होना चाहिये! परन्तु वह तो स्पष्टरूपसे विरुद्ध है। इसलिये ज्ञान आत्माको जानता ही है।)

तथा हि—

(मंदाक्रांता)

ज्ञानं तावद्भवति सुतरां शुद्धजीवस्वरूपं
स्वात्मात्मानं नियतमधुना तेन जानाति चैकम् ।
तच्च ज्ञानं स्फुटितसहजावस्थयात्मानमारात्
नो जानाति स्फुटमविचलाद्भिन्नमात्मस्वरूपात् ॥२८६॥

तथा चोक्तम्—

"णाणं अव्विदिरित्तं जीवादो तेण अप्पगं मुणइ ।
जदि अप्पगं ण जाणइ भिण्णं तं होदि जीवादो ॥"

अप्पाणं विणु णाणं णाणं विणु अप्पगो ण संदेहो ।
तम्हा सपरपयासं णाणं तह दंसणं होदि ॥१७१॥

(अविनाशी दशा) है; इसलिये अच्युतिको (अविनाशीपनेको, शाश्वत दशाको) चाहनेवाले जीवको ज्ञानकी भावना भाना चाहिये ।"

और (इस १७० वीं गाथाकी टीकाके कलशरूपसे टीकाकार मुनिराज श्लोक कहते हैं) :—

[श्लोकार्थः—] ज्ञान तो बराबर शुद्धजीवका स्वरूप है; इसलिये (हमारा) निज आत्मा अभी (साधक दशामें) एक (अपने) आत्माको नियमसे (निश्चयसे) जानता है । और, यदि वह ज्ञान प्रगट हुई सहज दशा द्वारा सीधा (प्रत्यक्षरूपसे) आत्माको न जाने तो वह ज्ञान अविचल आत्मस्वरूपसे अवश्य भिन्न सिद्ध होगा ! २८६।

और इसीप्रकार (अन्यत्र गाथा द्वारा) कहा है कि:—

[गाथार्थः—] ज्ञान जीवसे अभिन्न है इसलिये वह आत्माको जानता है; यदि ज्ञान आत्माको न जाने तो वह जीवसे भिन्न सिद्ध होगा !

संदेह नहिं, है ज्ञान आत्मा, आतमा है ज्ञान रे ।
अतएव निज परके प्रकाशक ज्ञान–दर्शन मान रे ॥१७१॥

आत्मानं विद्धि ज्ञानं ज्ञानं विद्धयात्मको न संदेहः ।
तस्मात्स्वपरप्रकाशं ज्ञानं तथा दर्शनं भवति ॥१७१॥

गुणगुणिनोः भेदाभावस्वरूपाख्यानमेतत् ।

सकलपरद्रव्यपराङ्मुखमात्मानं स्वस्वरूपपरिच्छित्तिसमर्थसहजज्ञानस्वरूपमिति हे शिष्य त्वं विद्धि जानीहि तथा विज्ञानमात्मेति जानीहि । तत्त्वं स्वपरप्रकाशं ज्ञानदर्शनद्वितय-मित्यत्र संदेहो नास्ति ।

(अनुष्टुभ)

आत्मानं ज्ञानदृग्रूपं विद्धि दृग्ज्ञानमात्मकं ।
स्वं परं चेति यत्तत्त्वमात्मा द्योतयति स्फुटम् ॥२८७॥

जाणंतो पस्संतो ईहापुव्वं ण होइ केवलिणो ।
केवलिणाणी तम्हा तेण दु सोऽबंधगो भणिदो ॥१७२॥

गाथा १७१

अन्वयार्थः—[आत्मानं ज्ञानं विद्धि] आत्माको ज्ञान जान, और [ज्ञानम् आत्मकः विद्धि] ज्ञान आत्मा है ऐसा जान;—[न संदेहः] इसमें संदेह नहीं है। [तस्मात्] इसलिये [ज्ञानं] ज्ञान [तथा] तथा [दर्शनं] दर्शन [स्वपरप्रकाशं] स्वपरप्रकाशक [भवति] है ।

टीकाः—यह, गुण–गुणीमें भेदका अभाव होनेरूप स्वरूपका कथन है ।

हे शिष्य ! सर्व परद्रव्यसे पराङ्मुख आत्माको तू निज स्वरूपको जाननेमें समर्थ सहजज्ञानस्वरूप जान, तथा ज्ञान आत्मा है ऐसा जान । इसलिये तत्त्व (—स्वरूप) ऐसा है कि ज्ञान तथा दर्शन दोनों स्वपरप्रकाशक हैं । इसमें सन्देह नहीं है ।

[अब इस १७१ वीं गाथाकी टीका पूर्ण करते हुए टीकाकार मुनिराज श्लोक कहते हैं :]

[श्लोकार्थः—] आत्माको ज्ञानदर्शनरूप जान और ज्ञानदर्शनको आत्मा जान; स्व और पर ऐसे तत्त्वोंको (समस्त पदार्थोंको) आत्मा स्पष्टरूपसे प्रकाशित करता है ।२८७।

जानें तथा देखें तदपि इच्छा विना भगवान है ।
अतएव केवलज्ञानी वे अतएव ही निर्बन्ध है ॥१७२॥

जानन् पश्यन्नीहापूर्वं न भवति केवलिनः ।
केवलज्ञानी तस्मात् तेन तु सोऽबन्धको भणितः ॥१७२॥

सर्वज्ञवीतरागस्य वांछाभावत्वमत्रोक्तम् ।

भगवानर्हत्परमेष्ठी साद्यनिधनामूर्तातीन्द्रियस्वभावशुद्धसद्भूतव्यवहारेण केवलज्ञानादि-शुद्धगुणानामाधारभूतत्वात् विश्वमश्रान्तं जानन्नपि पश्यन्नपि वा मनःप्रवृत्तेरभावादीहापूर्वकं वर्तनं न भवति तस्य केवलिनः परमभट्टारकस्य, तस्मात् स भगवान् केवलज्ञानीति प्रसिद्धः, पुनस्तेन कारणेन स भगवान् अबन्धक इति ।

तथा चोक्तं श्रीप्रवचनसारे—

"ण वि परिणमदि ण गेण्हदि उप्पज्जदि णेव तेसु अट्ठेसु ।
जाणण्णवि ते आदा अबंधगो तेण पण्णत्तो ॥"

गाथा १७२

अन्वयार्थः—[जानन् पश्यन्] जानते और देखते हुए भी, [केवलिनः] केवलीको [ईहापूर्वं] इच्छापूर्वक (वर्तन) [न भवति] नहीं होता; [तस्मात्] इसलिये उन्हें [केवलज्ञानी] 'केवलज्ञानी' कहा है; [तेन तु] और इसलिये [सः अबन्धकः भणितः] अबन्धक कहा है ।

टीकाः—यहाँ, सर्वज्ञ वीतरागको वांछाका अभाव होता है ऐसा कहा है ।

भगवान अर्हंत परमेष्ठी सादि-अनन्त अमूर्त अतीन्द्रियस्वभाववाले शुद्धसद्भूत-व्यवहारसे केवलज्ञानादि शुद्ध गुणोंके आधारभूत होनेके कारण विश्वको निरन्तर जानते हुए भी और देखते हुए भी, उन परम भट्टारक केवलीको मनप्रवृत्तिका (मनकी प्रवृत्तिका, भावमनपरिणतिका) अभाव होनेसे इच्छापूर्वक वर्तन नहीं होता; इसलिये वे भगवान "केवलज्ञानी" रूपसे प्रसिद्ध हैं; और उस कारणसे वे भगवान अबन्धक हैं ।

इसीप्रकार (श्रीमद्भगवत्कुन्दकुन्दाचार्यदेवप्रणीत) श्री प्रवचनसारमें (५२ वीं गाथा द्वारा) कहा है कि:—

"[गाथार्थः—] (केवलज्ञानी) आत्मा पदार्थोंको जानता हुआ भी उन-रूप परिणमित नहीं होता, उन्हें ग्रहण नहीं करता और उन पदार्थोंरूपमें उत्पन्न नहीं होता इसलिये उसे अबन्धक कहा है ।"

तथा हि—

(मंदाक्रांता)

जानन् सर्वं भुवनभवनाभ्यन्तरस्थं पदार्थं
पश्यन् तद्वत् सहजमहिमा देवदेवो जिनेशः ।
मोहाभावादपरमखिलं नैव गृह्णाति नित्यं
ज्ञानज्योतिर्हतमलकलिः सर्वलोकैकसाक्षी ॥२८८॥

परिणामपुव्ववयणं जीवस्स य बंधकारणं होइ ।
परिणामरहियवयणं तम्हा णाणिस्स ण हि बंधो ॥१७३॥
ईहापुव्वं वयणं जीवस्स य बंधकारणं होइ ।
ईहारहियं वयणं तम्हा णाणिस्स ण हि बंधो ॥१७४॥

परिणामपूर्ववचनं जीवस्य च बंधकारणं भवति ।
परिणामरहितवचनं तस्माज्ज्ञानिनो न हि बंधः ॥१७३॥
ईहापूर्वं वचनं जीवस्य च बंधकारणं भवति ।
ईहारहितं वचनं तस्माज्ज्ञानिनो न हि बंधः ॥१७४॥

और (इस १७२ वीं गाथाकी टीका पूर्ण करते हुए टीकाकार मुनिराज श्लोक कहते हैं) :—

[श्लोकार्थः—] सहजमहिमावंत देवाधिदेव जिनेश लोकरूपी भवनके भीतर स्थित सर्व पदार्थोंको जानते हुए भी, तथा देखते हुए भी, मोहके अभावके कारण समस्त परको (–किसी भी परपदार्थको) नित्य (–कदापि) ग्रहण नहीं ही करते; (परन्तु) जिन्होंने ज्ञानज्योति द्वारा मलरूप क्लेशका नाश किया है ऐसे वे जिनेश सर्व लोकके एक साक्षी (–केवल ज्ञातादृष्टा) हैं ।२८८।

रे बन्ध कारण जीवको परिणामपूर्वक वचन हैं ।
है बन्ध ज्ञानीको नहीं परिणाम विरहित वचन है ॥१७३॥
है बन्ध कारण जीवको इच्छा सहित वाणी अरे ।
इच्छा रहित वाणी अतः ही बन्ध नहिं ज्ञानी करे ॥१७४॥

इह हि ज्ञानिनो बंधाभावस्वरूपमुक्तम् ।

सम्यग्ज्ञानी जीवः क्वचित् कदाचिदपि स्वबुद्धिपूर्वकं वचनं न वक्ति स्वमनःपरिणामपूर्वकमिति यावत् । कुतः ? अमनस्काः केवलिनः इति वचनात् । अतः कारणाज्जीवस्य मनःपरिणतिपूर्वकं वचनं बंधकारणमित्यर्थः, मनःपरिणामपूर्वकं वचनं केवलिनो न भवति; ईहापूर्वं वचनमेव साभिलाषात्मकजीवस्य बंधकारणं भवति, केवलिमुखारविंदविनिर्गतो दिव्यध्वनिरनीहात्मकः समस्तजनहृदयाह्लादकारणं; ततः सम्यग्ज्ञानिनो बंधाभाव इति ।

गाथा १७३–१७४

अन्वयार्थः—[परिणामपूर्ववचनं] परिणामपूर्वक (मनपरिणाम पूर्वक) वचन [जीवस्य च] जीवको [बंधकारणं] बंधका कारण [भवति] है; [परिणामरहितवचनं] (ज्ञानीको) परिणामरहित वचन होता है [तस्मात्] इसलिये [ज्ञानिनः] ज्ञानीको (केवलज्ञानीको) [हि] वास्तवमें [बंधः न] बंध नहीं है ।

[ईहापूर्वं] इच्छापूर्वक [वचनं] वचन [जीवस्य च] जीवको [बंधकारणं] बन्धका कारण [भवति] है; [ईहारहितं वचनं] (ज्ञानीको) इच्छा रहित वचन होता है [तस्मात्] इसलिये [ज्ञानिनः] ज्ञानीको (केवलज्ञानीको) [हि] वास्तवमें [बंधः न] बन्ध नहीं है ।

टीकाः—यहाँ वास्तवमें ज्ञानीको (केवलज्ञानीको) बन्धके अभावका स्वरूप कहा है ।

सम्यग्ज्ञानी (केवलज्ञानी) जीव कहीं कभी स्वबुद्धिपूर्वक अर्थात् स्वमनपरिणामपूर्वक वचन नहीं बोलता । क्यों ? "अमनस्काः केवलिनः (केवली मनरहित हैं)" ऐसा (शास्त्रका) वचन होनेसे । इस कारणसे (ऐसा समझना कि)—जीवको मनपरिणतिपूर्वक वचन बन्धका कारण है ऐसा अर्थ है और मनपरिणतिपूर्वक वचन तो केवलीको होता नहीं है; (तथा) इच्छापूर्वक वचन ही *साभिलाषस्वरूप जीवको बन्धका कारण है और केवलीके मुखारविन्दसे निकली हुई, समस्त जनोंके हृदयको आह्लादके कारणभूत दिव्यध्वनि तो अनिच्छात्मक (इच्छारहित) होती है; इसलिये सम्यग्ज्ञानीको (केवलज्ञानीको) बन्धका अभाव है ।

[अब इन १७३–१७४ वीं गाथाओंकी टीका पूर्ण करते हुए टीकाकार मुनिराज तीन श्लोक कहते हैं :]

---

* साभिलाषस्वरूप=जिसका स्वरूप साभिलाष (इच्छायुक्त) हो ऐसे ।

(मंदाक्रांता)

ईहापूर्वं वचनरचनारूपमत्रास्ति नैव
तस्मादेषः प्रकटमहिमा विश्वलोकैकभर्ता ।
अस्मिन् बंधःकथमिव भवेद्द्रव्यभावात्मकोऽयं
मोहाभावान्न खलु निखिलं रागरोषादिजालम् ॥२८९॥

(मंदाक्रांता)

एको देवस्त्रिभुवनगुरुर्नष्टकर्माष्टकार्धः
सद्बोधस्थं भुवनमखिलं तद्गतं वस्तुजालम् ।
आरातीये भगवति जिने नैव बंधो न मोक्षः
तस्मिन् काचिन्न भवति पुनर्मूर्च्छना चेतना च ॥२९०॥

(मंदाक्रांता)

न ह्येतस्मिन् भगवति जिने धर्मकर्मप्रपंचो
रागाभावादतुलमहिमा राजते वीतरागः ।
एषः श्रीमान् स्वसुखनिरतः सिद्धिसीमन्तिनीशो
ज्ञानज्योतिश्छुरितभुवनाभोगभागः समन्तात् ॥२९१॥

[श्लोकार्थः—] इनमें (केवली भगवानमें) इच्छापूर्वक वचनरचनाका स्वरूप नहीं ही है; इसलिये वे प्रगट–महिमावंत हैं और समस्त लोकके एक (अनन्य) नाथ हैं। उन्हें द्रव्यभावस्वरूप ऐसा यह बन्ध किसप्रकार होगा ? (क्योंकि) मोहके अभावके कारण उन्हें वास्तवमें समस्त रागद्वेषादि समूह तो है नहीं ।२८९।

[श्लोकार्थः—] तीन लोकके जो गुरु हैं, चार कर्मोंका जिन्होंने नाश किया है और समस्त लोक तथा उसमें स्थित पदार्थसमूह जिनके सद्ज्ञानमें स्थित हैं, वे (जिन भगवान) एक ही देव हैं। उन निकट (साक्षात्) जिन भगवानमें न तो बन्ध है न मोक्ष, तथा उनमें न तो कोई [1]मूर्छा है न कोई [2]चेतना (क्योंकि द्रव्यसामान्यका पूर्ण आश्रय है) ।२९०।

[श्लोकार्थः—] इन जिन भगवानमें वास्तवमें धर्म और कर्मका प्रपंच नहीं

१–मूर्छा=अभानपना; बेहोशी; अज्ञानदशा ।
२–चेतना=सभानपना; होश; ज्ञानदशा ।

ठाणणिसेज्जविहारा ईहापुव्वं ण होइ केवलिणो ।
तम्हा ण होइ बंधो साक्खट्ठं मोहणीयस्स ॥१७५॥

स्थाननिषण्णविहारा ईहापूर्वं न भवन्ति केवलिनः ।
तस्मान्न भवति बंधः साक्षार्थं मोहनीयस्य ॥१७५॥

केवलिभट्टारकस्यामनस्कत्वप्रद्योतनमेतत् ।

भगवतः परमार्हन्त्यलक्ष्मीविराजमानस्य केवलिनः परमवीतरागसर्वज्ञस्य ईहापूर्वकं न किमपि वर्तनम्; अतः स भगवान् न चेहते मनःप्रवृत्तेरभावात्; अमनस्काः केवलिनः इति वच-

---

है (अर्थात् साधकदशामें जो शुद्धि और अशुद्धिके भेदप्रभेद वर्तते हैं वे जिन भगवानमें नहीं हैं); रागके अभावके कारण अतुल–महिमावन्त ऐसे वे (भगवान) वीतरागरूपसे विराजते हैं । वे श्रीमान् (शोभावन्त भगवान) निजसुखमें लीन हैं, मुक्तिरूपी रमणीके नाथ हैं और ज्ञानज्योति द्वारा उन्होंने लोकके विस्तारको सर्वतः छा दिया है ।२९१।

गाथा १७५

अन्वयार्थः—[**केवलिनः**] केवलीको [**स्थाननिषण्णविहाराः**] खड़े रहना, बैठना और विहार [**ईहापूर्वं**] इच्छापूर्वक [**न भवन्ति**] नहीं होते, [**तस्मात्**] इसलिये [**बंध न भवति**] उन्हें बन्ध नहीं है; [**मोहनीयस्य**] मोहनीयवश जीवको [**साक्षार्थम्**] इन्द्रियविषयसहितरूपसे बन्ध होता है ।

टीकाः—यह, केवली भट्टारकको मनरहितपनेका प्रकाशन है (अर्थात् यहाँ केवलीभगवानका मनरहितपना दर्शाया है) ।

अर्हंतयोग्य परम लक्ष्मीसे विराजमान, परमवीतराग सर्वज्ञ केवलीभगवानको इच्छापूर्वक कोई भी वर्तन नहीं होता; इसलिये वे भगवान (कुछ) चाहते नहीं हैं, क्योंकि मनप्रवृत्तिका अभाव है; अथवा, वे इच्छापूर्वक खड़े नहीं रहते, बैठते नहीं हैं अथवा श्रीविहारादिक नहीं करते, क्योंकि "**अमनस्काः केवलिनः** (केवली मनरहित हैं)" ऐसा शास्त्रका वचन है । इसलिये उन तीर्थंकर–परमदेवको द्रव्यभावस्वरूप

अभिलाषयुक्त विहार, आसन, स्थान जिनवरको नहीं ।
निर्बन्ध इससे, बन्ध करता मोह–वश साक्षार्थ ही ॥१७५॥

नाद्धा न तिष्ठति नोपविशति न चेहापूर्वं श्रीविहारादिकं करोति। ततस्तस्य तीर्थंकरपरमदेवस्य द्रव्यभावात्मकचतुर्विधबंधो न भवति। स च बंधः पुनः किमर्थं जातः कस्य संबंधश्च ? मोहनीयकर्मविलासविजृम्भितः, अक्षार्थमिन्द्रियार्थं तेन सह यः वर्तत इति साक्षार्थं मोहनीयस्य वशगतानां साक्षार्थप्रयोजनानां संसारिणामेव बंध इति।

तथा चोक्तं श्री प्रवचनसारे—

"ठाणणिसेज्जविहारा धम्मुवदेसो य णियदयो तेसिं।
अरहंताणं काले मायाचारो व्व इत्थीणं ॥"

(शार्दूलविक्रीडित)

देवेन्द्रासनकंपकारणमहत्कैवल्यबोधोदये
मुक्तिश्रीललनामुखाम्बुजरवेः सद्धर्मरक्षामणेः।
सर्वं वर्तनमस्ति चेन्न च मनः सर्वं पुराणस्य तत्
सोऽयं नन्वपरिप्रमेयमहिमा पापाटवीपावकः ॥२९२॥

चतुर्विध बंध (प्रकृतिबंध, प्रदेशबंध, स्थितिबंध और अनुभागबंध) नहीं होता।

और, वह बंध (१) किस कारणसे होता है तथा (२) किसे होता है? (१) बन्ध मोहनीयकर्मके विलाससे उत्पन्न होता है। (२) "अक्षार्थ" अर्थात् इन्द्रियार्थ (–इन्द्रिय–विषय); अक्षार्थ सहित हो वह "साक्षार्थ;" मोहनीयके वश हुए, साक्षार्थ-प्रयोजन (–इन्द्रियविषयरूप प्रयोजनवाले) संसारियोंको ही बंध होता है।

इसीप्रकार (श्रीमद्भगवत्कुन्दकुन्दाचार्यदेवप्रणीत) श्री प्रवचनसारमें (४४ वीं गाथा द्वारा) कहा है कि:—

"[गाथार्थ:—] उन अर्हंतभगवंतोंको उस काल खड़े रहना, बैठना, विहार और धर्मोपदेश स्त्रियोंके मायाचारकी भाँति, स्वाभाविक ही–प्रयत्न बिना ही–होता है।"

[अब इस १७५ वीं गाथाकी टीका पूर्ण करते हुए टीकाकार मुनिराज श्लोक कहते हैं :]

[श्लोकार्थ:—] देवेन्द्रोंके आसन कम्पायमान होनेके कारणभूत महा केवलज्ञानका उदय होने पर, जो मुक्तिलक्ष्मीरूपी स्त्रीके मुखकमलके सूर्य हैं और सद्धर्मके

आउस्स खयेण पुणो णिण्णासो होइ सेसपयडीणं ।
पच्छा पावइ सिग्घं लोयग्गं समयमेत्तेण ॥१७६॥

आयुषः क्षयेण पुनः निर्नाशो भवति शेषप्रकृतीनाम् ।
पश्चात्प्राप्नोति शीघ्रं लोकाग्रं समयमात्रेण ॥१७६॥

शुद्धजीवस्य स्वभावगतिप्राप्त्युपायोपन्यासोऽयम् ।

स्वभावगतिक्रियापरिणतस्य षट्कापक्रमविहीनस्य भगवतः सिद्धक्षेत्राभिमुखस्य ध्यानध्येयध्यातृतत्फलप्राप्तिप्रयोजनविकल्पशून्येन स्वस्वरूपाविचलस्थितिरूपेण परमशुक्लध्यानेन आयुःकर्मक्षये जाते वेदनीयनामगोत्राभिधानशेषप्रकृतीनां निर्नाशो भवति । शुद्धनिश्चयनयेन

---

[1]रक्षामणि हैं ऐसे पुराण पुरुषको सर्व वर्तन भले हो तथापि मन सर्वथा नहीं होता; इसलिये वे (केवलज्ञानी पुराण पुरुष) वास्तवमें अगम्य महिमावन्त हैं और पापरूपी वनको जलानेवाली अग्नि समान हैं ।२९२।

गाथा १७६

अन्वयार्थः—[पुनः] फिर (केवलीको) [आयुषः क्षयेण] आयुके क्षयसे [शेषप्रकृतीनाम्] शेष प्रकृतियोंका [निर्नाशः] सम्पूर्ण नाश [भवति] होता है; [पश्चात्] फिर वे [शीघ्रं] शीघ्र [समयमात्रेण] समयमात्रमें [लोकाग्रं] लोकाग्रमें [प्राप्नोति] पहुँचते हैं ।

टीकाः—यह, शुद्ध जीवको स्वभावगतिकी प्राप्ति होनेके उपायका कथन है ।

स्वभावगतिक्रियारूपसे परिणत, छह [2]अपक्रमसे रहित, सिद्धक्षेत्रसम्मुख भगवानको परम शुक्लध्यान द्वारा—कि जो (शुक्लध्यान) ध्यान–ध्येय–ध्याता सम्बन्धी, उसकी फलप्राप्ति सम्बन्धी तथा उसके प्रयोजन सम्बन्धी विकल्पोंसे रहित है और निज स्वरूपमें अविचल स्थितिरूप है उसके द्वारा—आयुकर्मका क्षय होने पर,

---

१–रक्षामणि=आपत्तियोंसे अथवा पिशाच आदिसे अपनेको बचानेके लिये पहिना जानेवाला मणि। (केवलीभगवान सद्धर्मकी रक्षाके लिये—असद्धर्मसे वचनेके लिये—रक्षामणि हैं ।)

२–संसारी जीव अन्य भवमें जाते समय छह–दिशाओंमें गमन करता है; उसे "छह अपक्रम" कहा जाता है ।

हो आयु क्षयसे शेष सब ही कर्म–प्रकृति विनाश रे ।
सत्वर समयमें पहुँचते अर्हन्त–प्रभु लोकाग्र रे ॥१७६॥

स्वस्वरूपे सहजमहिम्नि लीनोऽपि व्यवहारेण स भगवान् क्षणार्धेन लोकाग्रं प्राप्नोतीति ।

(अनुष्टुभ्)

षट्कापक्रमयुक्तानां भविनां लक्षणात् पृथक् ।
सिद्धानां लक्षणं यस्मादूर्ध्वगास्ते सदा शिवाः ॥२९३॥

(मंदाक्रांता)

बन्धच्छेदादतुलमहिमा देवविद्याधराणां
प्रत्यक्षोऽद्य स्तवनविषयो नैव सिद्धः प्रसिद्धः ।
लोकस्याग्रे व्यवहरणतः संस्थितो देवदेवः
स्वात्मन्युच्चैरविचलतया निश्चयेनैवमास्ते ॥२९४॥

(अनुष्टुभ्)

पंचसंसारनिर्मुक्तान् पंचसंसारमुक्तये ।
पंचसिद्धानहं वंदे पंचमोक्षफलप्रदान् ॥२९५॥

वेदनीय, नाम और गोत्र नामकी शेष प्रकृतियोंका सम्पूर्ण नाश होता है (अर्थात् भगवानको शुक्लध्यान द्वारा आयुकर्मका क्षय होने पर शेष तीन कर्मोंका भी क्षय होता है और सिद्धक्षेत्रकी ओर स्वभावगतक्रिया होती है) । शुद्धनिश्चयनयसे सहजमहिमावाले निज स्वरूपमें लीन होने पर भी व्यवहारसे वे भगवान अर्ध क्षणमें (समयमात्रमें) लोकाग्रमें पहुँचते ।

[अब इस १७६ वीं गाथाकी टीका पूर्ण करते हुए टीकाकार मुनिराज तीन श्लोक कहते हैं :]

[श्लोकार्थः—] जो छह अपक्रम सहित हैं ऐसे भववाले जीवोंके (—संसारियोंके) लक्षणसे सिद्धोंका लक्षण भिन्न है, इसलिये वे सिद्ध ऊर्ध्वगामी हैं और सदा शिव (निरन्तर सुखी) हैं ।२९३।

[श्लोकार्थः—] बन्धका छेदन होनेसे जिनकी अतुल महिमा है ऐसे (अशरीरी और लोकाग्रस्थित) सिद्धभगवान अब देवों और विद्याधरोंके प्रत्यक्ष स्तवनका विषय नहीं ही हैं ऐसा प्रसिद्ध है । वे देवाधिदेव व्यवहारसे लोकके अग्रमें सुस्थित हैं और निश्चयसे निज आत्मामें ज्योंके त्यों अत्यन्त अविचलरूपसे रहते हैं ।२९४।

[श्लोकार्थः—] (द्रव्य, क्षेत्र, काल, भव और भाव—ऐसे पाँच परावर्तन-

जाइजरमरणरहियं परमं कम्मट्ठवज्जियं सुद्धं ।
णाणाइचउसहावं अक्खयमविणासमच्छेयं ॥१७७॥

जातिजरामरणरहितं परमं कर्माष्टवर्जितं शुद्धम् ।
ज्ञानादिचतुःस्वभावं अक्षयमविनाशमच्छेद्यम् ॥१७७॥

कारणपरमतत्त्वस्वरूपाख्यानमेतत् ।

निसर्गतः संसृतेरभावाज्जातिजरामरणरहितम्, परमपारिणामिकभावेन परमस्वभावत्वात्परमम्, त्रिकालनिरुपाधिस्वरूपत्वात् कर्माष्टकवर्जितम्, द्रव्यभावकर्मरहितत्वाच्छुद्धम्, सहजज्ञानसहजदर्शनसहजचारित्रसहजचिच्छक्तिमयत्वाज्ज्ञानादिचतुःस्वभावम्, सादिसनिधनमूर्तेन्द्रिया-

---

रूप) पाँच प्रकारके संसारसे मुक्त, पाँच प्रकारके मोक्षरूपी फलको देनेवाले (अर्थात् द्रव्यपरावर्तन, क्षेत्रपरावर्तन, कालपरावर्तन, भवपरावर्तन और भावपरावर्तनसे मुक्त करनेवाले), पाँचप्रकार सिद्धोंको (अर्थात् पाँच प्रकारकी मुक्तिको—सिद्धिको—प्राप्त सिद्धभगवन्तोंको) मैं पाँच प्रकारके संसारसे मुक्त होनेके लिये वन्दन करता हूँ ।२९५।

गाथा १७७

अन्वयार्थः—[जातिजरामरणरहितम्] (परमात्मतत्त्व) जन्म–जरा–मरण रहित, [परमम्] परम, [कर्माष्टवर्जितम्] आठ कर्म रहित, [शुद्धम्] शुद्ध, [ज्ञानादिचतुःस्वभावम्] ज्ञानादिक चार स्वभाववाला, [अक्षयम्] अक्षय, [अविनाशम्] अविनाशी और [अच्छेद्यम्] अच्छेद्य है ।

टीकाः—(जिसका सम्पूर्ण आश्रय करनेसे सिद्ध हुआ जाता है ऐसे) कारण-परमतत्त्वके स्वरूपका यह कथन है ।

(कारणपरमतत्त्व ऐसा हैः—) निसर्गसे (स्वभावसे) संसारका अभाव होनेके कारण जन्म–जरा–मरण रहित है; परम–पारिणामिकभाव द्वारा परमस्वभाववाला होनेके कारण परम है; तीनों काल निरुपाधि–स्वरूपवाला होनेके कारण आठ कर्म रहित है; द्रव्यकर्म और भावकर्म रहित होनेके कारण शुद्ध है; सहजज्ञान, सहजदर्शन, सहजचारित्र और सहजचित्शक्तिमय होनेके कारण ज्ञानादिक चार स्वभाववाला है;

विन कर्म, परम, विशुद्ध जन्म, जरा, मरणसे हीन है ।
ज्ञानादि चार स्वभावमय अक्षय अछेद, अछीन है ॥१७७॥

त्मकविजातीयविभावव्यंजनपर्यायवीतत्वादक्षयम्, प्रशस्ताप्रशस्तगतिहेतुभूतपुण्यपापकर्मद्वन्द्वाभावादविनाशम्, वधबन्धच्छेदयोग्यमूर्तिमुक्तत्वादच्छेद्यमिति ।

(मालिनी)

अविचलितमखंडज्ञानमद्वन्द्वनिष्ठं
निखिलदुरितदुर्गव्रातदावाग्निरूपम् ।
भज भजसि निजोत्थं दिव्यशर्मामृतं त्वं
सकलविमलबोधस्ते भवत्येव तस्मात् ।।२९६।।

अव्वाबाहमणिंदियमणोवमं पुण्णपावणिम्मुक्कं ।
पुणरागमणविरहियं णिच्चं अचलं अणालंबं ।।१७८।।

अव्याबाधमतीन्द्रियमनुपमं पुण्यपापनिर्मुक्तम् ।
पुनरागमनविरहितं नित्यमचलमनालंबम् ।।१७८।।

सादि–सांत, मूर्त इन्द्रियात्मक विजातीय–विभावव्यंजनपर्याय रहित होनेके कारण अक्षय है; प्रशस्त–अप्रशस्त गतिके हेतुभूत पुण्य–पापकर्मरूप द्वन्द्वका अभाव होनेके कारण अविनाशी है; वध, बन्ध और छेदनके योग्य मूर्तिसे (मूर्तिकतासे) रहित होनेके कारण अच्छेद्य है ।

[अब इस १७७ वीं गाथाकी टीका पूर्ण करते हुए टीकाकार मुनिराज श्लोक कहते हैं :]

[श्लोकार्थः—] अविचल, अखण्डज्ञानरूप, अद्वंद्वनिष्ठ (रागद्वेषादि द्वंद्वमें जो स्थित नहीं है) और समस्त पापके दुस्तर समूहको जलानेमें दावानल समान—ऐसे स्वोत्पन्न (अपनेसे उत्पन्न होनेवाले) दिव्यसुखामृतको (–दिव्यसुखामृतस्वभावी आत्मतत्त्वको)—कि जिसे तू भज रहा है उसे—भज; उससे तुझे सकल–विमल ज्ञान (केवलज्ञान) होगा ही ।२९६।

गाथा १७८

अन्वयार्थः—[अव्याबाधम्] (परमात्मतत्त्व) अव्याबाध, [अतीन्द्रियम्] अती-

---

निर्बाध, अनुपम अरु अतीन्द्रिय, पुण्यपापविहीन है ।
निश्चल, निरालम्बन, अमर पुनरागमनसे हीन है ।।१७८।।

अत्रापि निरुपाधिस्वरूपलक्षणपरमात्मतत्त्वमुक्तम् ।

अखिलदुरघवीरवैरीवरूथिनीसंभ्रमागोचरसहजज्ञानदुर्गनिलयत्वादव्याबाधम्, सर्वात्मप्रदेशभरितचिदानन्दमयत्वादतीन्द्रियम्, त्रिषु तत्त्वेषु विशिष्टत्वादनौपम्यम्, संसृतिपुरंध्रिकासंभोगसंभवसुखदुःखाभावात्पुण्यपापनिर्मुक्तम्, पुनरागमनहेतुभूतप्रशस्ताप्रशस्तमोहरागद्वेषाभावात्पुनरागमनविरहितम्, नित्यमरणतद्भवमरणकारणकलेवरसंबन्धाभावान्नित्यम्, निजगुणपर्यायप्रच्यवनाभावादचलम्, परद्रव्यावलम्बनाभावादनालम्बमिति ।

तथा चोक्तं श्रीमदमृतचन्द्रसूरिभिः—

न्द्रिय, [अनुपमम्] अनुपम, [पुण्यपापनिर्मुक्तम्] पुण्यपाप रहित, [पुनरागमनविरहितम्] पुनरागमन रहित, [नित्यम्] नित्य, [अचलम्] अचल और [अनालम्बम्] निरालम्ब है ।

टीका:—यहाँ भी, निरुपाधि स्वरूप जिसका लक्षण है ऐसा परमात्मतत्त्व कहा है ।

(परमात्मतत्त्व ऐसा है:—) समस्त दुष्ट [1]अघरूपी वीर शत्रुओंकी सेनाके उपद्रवको अगोचर ऐसे सहजज्ञानरूपी गढ़में आवास होनेके कारण अव्याबाध (निर्विघ्न) है; सर्व आत्मप्रदेशमें भरे हुए चिदानन्दमयपनेके कारण अतीन्द्रिय है; तीन तत्त्वोंमें विशिष्ट होनेके कारण (बहिरात्मतत्त्व, अन्तरात्मतत्त्व और परमात्मतत्त्व इन तीनोंमें विशिष्ट—मुख्य प्रकारका—उत्तम होनेके कारण) अनुपम है; संसाररूपी स्त्रीके संभोगसे उत्पन्न होनेवाले सुखदुःखका अभाव होनेके कारण पुण्यपाप रहित है; [2]पुनरागमनके हेतुभूत प्रशस्त-अप्रशस्त मोहरागद्वेषका अभाव होनेके कारण पुनरागमन रहित है; [3]नित्यमरणके तथा उस भव सम्बन्धी मरणके कारणभूत कलेवरके (शरीरके) सम्बन्धका अभाव होनेके कारण नित्य है; निज गुणों और पर्यायोंसे च्युत न होनेके कारण अचल है; परद्रव्यके अवलम्बनका अभाव होनेके कारण निरालम्ब है ।

इसीप्रकार (आचार्यदेव) श्रीमद् अमृतचन्द्रसूरिने (श्री समयसारकी आत्मख्याति नामक टीकामें १३८ वें श्लोक द्वारा) कहा है कि:—

१–अध्यात्मशास्त्रोंमें अनेक स्थानों पर पाप तथा पुण्य दोनोंको "अघ" अथवा "पाप" कहा जाता है ।
२–पुनरागमन=(चार गतियोंमेंसे किसी गतिमें) फिरसे आना; पुनः जन्म धारण करना सो ।
३–नित्यमरण=प्रतिसमय होनेवाला आयुकर्मके निषेकोंका क्षय ।

(मंदाक्रांता)

"आसंसारात्प्रतिपदममी रागिणो नित्यमत्ताः
सुप्ता यस्मिन्नपदमपदं तद्विबुध्यध्वमंधाः ।
एतैतेतः पदमिदमिदं यत्र चैतन्यधातुः
शुद्धः शुद्धः स्वरसभरतः स्थायिभावत्वमेति ॥"

तथा हि—

(शार्दूलविक्रीडित)

भावाः पंच भवन्ति येषु सततं भावः परः पंचमः
स्थायी संसृतिनाशकारणमयं सम्यग्दृशां गोचरः ।
तं मुक्त्वाखिलरागरोषनिकरं बुद्ध्वा पुनर्बुद्धिमान्
एको भाति कलौ युगे मुनिपतिः पापाटवीपावकः ॥२९७॥

"[श्लोकार्थः—] (श्रीगुरु संसारी भव्य जीवोंको सम्बोधते हैं कि:—) हे अंध प्राणियों ! अनादि संसारसे लेकर पर्याय–पर्यायमें यह रागी जीव सदैव मत्त वर्तते हुए जिस पदमें सो रहे हैं—नींद ले रहे हैं वह पद अर्थात् स्थान अपद है—अपद है, (तुम्हारा स्थान नहीं है,) ऐसा तुम समझो । (दो बार कहनेसे अत्यन्त करुणाभाव सूचित होता है ।) इस ओर आओ—इस ओर आओ, (यहाँ निवास करो,) तुम्हारा पद यह है—यह है जहाँ शुद्ध–शुद्ध चैतन्यधातु निज रसकी अतिशयताके कारण स्थायी भावपनेको प्राप्त है अर्थात् स्थिर है—अविनाशी है । (यहाँ "शुद्ध" शब्द दो बार कहा है वह द्रव्य और भाव दोनोंकी शुद्धता सूचित करता है । सर्व अन्यद्रव्योंसे पृथक् होनेके कारण आत्मा द्रव्यसे शुद्ध है और परके निमित्तसे होनेवाले अपने भावोंसे रहित होनेके कारण भावसे शुद्ध है ।)"

और (इस १७८ वीं गाथाकी टीका पूर्ण करते हुए टीकाकार मुनिराज श्लोक कहते हैं) :—

[श्लोकार्थः—] भाव पाँच हैं, जिनमें यह परम पंचम भाव (परमपारिणामिकभाव) निरन्तर स्थायी है, संसारके नाशका कारण है और सम्यग्दृष्टियोंको गोचर है । बुद्धिमान पुरुष समस्त रागद्वेषके समूहको छोड़कर तथा उस परम पंचम भावको जानकर, अकेला, कलियुगमें पापवनकी अग्निरूप मुनिवरके रूपमें शोभा देता है (अर्थात् जो बुद्धिमान पुरुष परम पारिणामिक भावका उग्ररूपसे आश्रय करता है, वही एक पुरुष पापवनको जलानेमें अग्नि समान मुनिवर है) ।२९७।

णवि दुक्खं णवि सुक्खं णवि पीडा णेव विज्जदे बाहा ।
णवि मरणं णवि जणणं तत्थेव य होइ णिव्वाणं ॥१७९॥

नापि दुःखं नापि सौख्यं नापि पीडा नैव विद्यते बाधा ।
नापि मरणं नापि जननं तत्रैव च भवति निर्वाणम् ॥१७९॥

इह हि सांसारिकविकारनिकायाभावान्निर्वाणं भवतीत्युक्तम् ।

निरुपरागरत्नत्रयात्मकपरमात्मनः सततान्तर्मुखाकारपरमाध्यात्मस्वरूपनिरतस्य तस्य वाऽशुभपरिणतेरभावान्न चाशुभकर्म अशुभकर्माभावान्न दुःखम्, शुभपरिणतेरभावान्न शुभकर्म शुभकर्माभावान्न खलु संसारसुखम्, पीडायोग्ययातनाशरीराभावान्न पीडा, असातावेदनीयकर्माभावा-

---

गाथा १७९

अन्वयार्थः—[न अपि दुःखं] जहाँ दुःख नहीं है, [न अपि सौख्यं] सुख नहीं है, [न अपि पीड़ा] पीड़ा नहीं है, [न एव बाधा विद्यते] बाधा नहीं है, [न अपि मरणं] मरण नहीं है, [न अपि जननं] जन्म नहीं है, [तत्र एव च निर्वाणम् भवति] वहीं निर्वाण है (अर्थात् दुःखादिरहित परमतत्त्वमें ही निर्वाण है) ।

टीकाः—यहाँ, (परमतत्त्वको) वास्तवमें सांसारिक विकारसमूहके अभावके कारण [1]निर्वाण है ऐसा कहा है ।

[2]सतत अन्तर्मुखाकार परम–अध्यात्मस्वरूपमें लीन ऐसे उस [3]निरुपराग–रत्नत्रयात्मक परमात्माको अशुभ परिणतिके अभावके कारण अशुभ कर्म नहीं है और अशुभ कर्मके अभावके कारण दुःख नहीं है; शुभ परिणतिके अभावके कारण शुभ कर्म नहीं है और शुभ कर्मके अभावके कारण वास्तवमें संसारसुख नहीं है; पीड़ायोग्य

१–निर्वाण=मोक्ष; मुक्ति । [परमतत्त्व विकाररहित होनेसे द्रव्य–अपेक्षासे सदा मुक्त ही है । इसलिये मुमुक्षुओंको ऐसा समझना चाहिये कि विकाररहित परमतत्त्वके सम्पूर्ण आश्रयसे ही (अर्थात् उसीके श्रद्धान–ज्ञान–आचरणसे वह परमतत्त्व अपनी स्वाभाविक मुक्तपर्यायमें परिणमित होता है ।]

२–सतत अन्तर्मुखाकार=निरन्तर अन्तर्मुख जिसका आकार अर्थात् रूप है ऐसे ।

३–निरुपराग=निर्विकार; निर्मल ।

दुख सुख नहीं पीड़ा जहाँ नहिं और बाधा है नहीं ।
नहिं जन्म है, नहिं मरण है, निर्वाण जानों रे वहीं ॥१७९॥

न्नैव विद्यते बाधा, पंचविधनोकर्माभावान्न मरणम्, पंचविधनोकर्महेतुभूतकर्मपुद्गलस्वीकाराभावान्न जननम् । एवंलक्षणलक्षिताक्षुण्णविक्षेपविनिर्मुक्तपरमतत्त्वस्य सदा निर्वाणं भवतीति ।

(मालिनी)

भवभवसुखदुःखं विद्यते नैव बाधा
जननमरणपीडा नास्ति यस्येह नित्यम् ।
तमहमभिनमामि स्तौमि संभावयामि
स्मरसुखविमुखस्सन् मुक्तिसौख्याय नित्यम् ॥२९८॥

(अनुष्टुभ्)

आत्माराधनया हीनः सापराध इति स्मृतः ।
अहमात्मानमानन्दमंदिरं नौमि नित्यशः ॥२९९॥

---

*यातनाशरीरके अभावके कारण पीड़ा नहीं है; असातावेदनीय कर्मके अभावके कारण बाधा नहीं है; पाँच प्रकारके नोकर्मके (शरीरके) अभावके कारण मरण नहीं है; पाँच प्रकारके नोकर्मके हेतुभूत कर्मपुद्गलके स्वीकारके अभावके कारण जन्म नहीं है ।—ऐसे लक्षणोंसे लक्षित, अखण्ड, विक्षेपरहित परमतत्त्वको सदा निर्वाण है ।

[अब इस १७९ वीं गाथाकी टीका पूर्ण करते हुए टीकाकार मुनिराज दो श्लोक कहते हैं :]

[श्लोकार्थः—] इस लोकमें जिसे सदा भवभवके सुखदुःख नहीं हैं, बाधा नहीं है, जन्म, मरण और पीड़ा नहीं है, उसे (—उस परमात्माको) मैं, मुक्तिसुखकी प्राप्ति हेतु, कामदेवके सुखसे विमुख वर्तता हुआ नित्य नमन करता हूँ, उसका स्तवन करता हूँ, सम्यक् प्रकारसे भाता हूँ ।२९८।

[श्लोकार्थः—] आत्माकी आराधना रहित जीवको सापराध (—अपराधी) माना गया है । (इसलिये) मैं आनन्दमन्दिर आत्माको (आनन्दके गृहरूप निजात्माको) नित्य नमन करता हूँ ।२९९।

---

* यातना=वेदना; पीड़ा । (शरीर वेदनाकी मूर्ति है ।)

णवि इंदिय उवसग्गा णवि मोहो विम्हिओ ण णिद्दा य ।
ण य तिण्हा णेव छुहा तत्थेव य होइ णिव्वाणं ॥१८०॥

नापि इन्द्रियाः उपसर्गाः नापि मोहो विस्मयो न निद्रा च ।
न च तृष्णा नैव क्षुधा तत्रैव च भवति निर्वाणम् ॥१८०॥

परमनिर्वाणयोग्यपरमतत्त्वस्वरूपाख्यानमेतत् ।

अखंडैकप्रदेशज्ञानस्वरूपत्वात् स्पर्शनरसनघ्राणचक्षुःश्रोत्राभिधानपंचेन्द्रियव्यापाराः देवमानवतिर्यगचेतनोपसर्गाश्च न भवन्ति, क्षायिकज्ञानयथाख्यातचारित्रमयत्वान्न दर्शनचारित्रभेदविभिन्नमोहनीयद्वितयमपि, बाह्यप्रपंचविमुखत्वान्न विस्मयः, नित्योन्मीलितशुद्धज्ञानस्वरूपत्वान्न निद्रा, असातावेदनीयकर्मनिर्मूलनान्न क्षुधा तृषा च । तत्र परमब्रह्मणि नित्यं ब्रह्म भवतीति ।

गाथा १८०

अन्वयार्थः—[न अपि इन्द्रियाः उपसर्गाः] जहाँ इन्द्रियाँ नहीं हैं, उपसर्ग नहीं हैं, [न अपि मोहः विस्मयः] मोह नहीं है, विस्मय नहीं है, [न निद्रा च] निद्रा नहीं है, [न च तृष्णा] तृषा नहीं है, [न एव क्षुधा] क्षुधा नहीं है, [तत्र एव च निर्वाणम् भवति] वहीं निर्वाण है (अर्थात् इन्द्रियादिरहित परमतत्त्वमें ही निर्वाण है) ।

टीकाः—यह, परम निर्वाणके योग्य परमतत्त्वके स्वरूपका कथन है ।

(परमतत्त्व) *अखण्ड–एकप्रदेशी–ज्ञानस्वरूप होनेके कारण (उसे) स्पर्शन, रसन, घ्राण, चक्षु और श्रोत्र नामकी पाँच इन्द्रियोंके व्यापार नहीं हैं तथा देव, मानव, तिर्यञ्च और अचेतनकृत उपसर्ग नहीं हैं; क्षायिकज्ञानमय और यथाख्यातचारित्रमय होनेके कारण (उसे) दर्शनमोहनीय और चारित्रमोहनीय ऐसे भेदवाला दो प्रकारका मोहनीय नहीं है; बाह्य प्रपंचसे विमुख होनेके कारण (उसे) विस्मय नहीं है; नित्य–प्रकटित शुद्धज्ञानस्वरूप होनेके कारण (उसे) निद्रा नहीं है; असाता-

---

* खण्डरहित अभिन्नप्रदेशी ज्ञान परमतत्त्वका स्वरूप है इसलिये परमतत्त्वको इन्द्रियाँ और उपसर्ग नहीं हैं ।

इन्द्रिय जहाँ नहिं मोह नहिं, उपसर्ग, विस्मय भी नहीं ।
निद्रा, क्षुधा, तृष्णा नहीं निर्वाण जानो रे वहीं ॥१८०॥

तथा चोक्तममृताशीतौ—

(मालिनी)

"ज्वरजननजराणां वेदना यत्र नास्ति
परिभवति न मृत्युर्नागतिर्नो गतिर्वा ।
तदतिविशदचित्तैर्लभ्यतेऽङ्गेऽपि तत्त्वं
गुणगुरुगुरुपादाम्भोजसेवाप्रसादात् ॥"

तथा हि—

(मंदाक्रांता)

यस्मिन् ब्रह्मण्यनुपमगुणालंकृते निर्विकल्पे-
ऽक्षानामुच्चैर्विविधविषमं वर्तनं नैव किंचित् ।
नैवान्ये वा भविगुणगणाः संसृतेर्मूलभूताः
तस्मिन्नित्यं निजसुखमयं भाति निर्वाणमेकम् ॥३००॥

वेदनीय कर्मको निर्मूल कर देनेके कारण (उसे) क्षुधा और तृषा नहीं है। उस परम ब्रह्ममें (–परमात्मतत्त्वमें) सदा ब्रह्म (–निर्वाण) है।

इसीप्रकार (श्रीयोगीन्द्रदेवकृत) अमृताशीतिमें (५८ वें श्लोक द्वारा) कहा है कि:—

"[श्लोकार्थ:—] जहाँ (जिस तत्त्वमें) ज्वर, जन्म और जराकी वेदना नहीं है, मृत्यु नहीं है, गति या अगति नहीं है, उस तत्त्वको अति निर्मल चित्तवाले पुरुष, शरीरमें स्थित होने पर भी, गुणमें बड़े ऐसे गुरुके चरणकमलकी सेवाके प्रसादसे अनुभव करते हैं।"

और (इस १८० वीं गाथाकी टीका पूर्ण करते हुए टीकाकार मुनिराज श्लोक कहते हैं) :—

[श्लोकार्थ:—] अनुपम गुणोंसे अलंकृत और निर्विकल्प ऐसे जिस ब्रह्ममें (आत्मतत्त्वमें) इन्द्रियोंका अति विविध और विषम वर्तन किंचित् भी नहीं ही है, तथा संसारके मूलभूत अन्य (मोह–विस्मयादि) *संसारीगुणसमूह नहीं ही हैं, उस ब्रह्ममें सदा निजसुखमय एक निर्वाण प्रकाशमान है।३००।

---

* मोह, विस्मय आदि दोष संसारियोंके गुण हैं—कि जो संसारके कारणभूत हैं।

णवि कम्मं णोकम्मं णवि चिंता णेव अट्टरुद्दाणि ।
णवि धम्मसुक्कझाणे तत्थेव य होइ णिव्वाणं ॥१८१॥

नापि कर्म नोकर्म नापि चिन्ता नैवार्तरौद्रे ।
नापि धर्मशुक्लध्याने तत्रैव च भवति निर्वाणम् ॥१८१॥

सकलकर्मविनिर्मुक्तशुभाशुभशुद्धध्यानध्येयविकल्पविनिर्मुक्तपरमतत्त्वस्वरूपाख्यानमेतत् ।

सदा निरंजनत्वान्न द्रव्यकर्माष्टकं, त्रिकालनिरुपाधिस्वरूपत्वान्न नोकर्मपंचकं च, अमनस्कत्वान्न चिंता, औदयिकादिविभावभावानामभावादार्तरौद्रध्याने न स्तः, धर्मशुक्लध्यानयोग्यचरमशरीराभावात्तद्द्वितयमपि न भवति । तत्रैव च महानंद इति ।

गाथा १८१

अन्वयार्थः—[न अपि कर्म नोकर्म] जहाँ कर्म और नोकर्म नहीं है, [न अपि चिन्ता] चिन्ता नहीं है, [न एव आर्तरौद्रे] आर्त और रौद्र ध्यान नहीं हैं, [न अपि धर्मशुक्लध्याने] धर्म और शुक्ल ध्यान नहीं हैं, [तत्र एव च निर्वाणम् भवति] वहीं निर्वाण है (अर्थात् कर्मादिरहित परमतत्त्वमें ही निर्वाण है) ।

टीकाः—यह, सर्व कर्मोंसे विमुक्त (–रहित) तथा शुभ, अशुभ और शुद्ध ध्यान तथा ध्येयके विकल्पोंसे विमुक्त परमतत्त्वके स्वरूपका कथन है ।

(परमतत्त्व) सदा निरंजन होनेके कारण (उसे) आठ द्रव्यकर्म नहीं हैं; तीनों काल निरुपाधिस्वरूपवाला होनेके कारण (उसे) पाँच नोकर्म (–शरीर) नहीं है; मन रहित होनेके कारण चिंता नहीं है; औदयिकादि विभावभावोंका अभाव होनेके कारण आर्त और रौद्र ध्यान नहीं हैं; धर्मध्यान और शुक्लध्यानके योग्य चरम शरीरका अभाव होनेके कारण वे दो ध्यान नहीं हैं । वहीं महा आनन्द है ।

[अब इस १८१ वीं गाथाकी टीका पूर्ण करते हुए टीकाकार मुनिराज श्लोक कहते हैं :]

रे कर्म नहिं नोकर्म, चिंता, आर्त–रौद्र जहाँ नहीं ।
है धर्म–शुक्ल सुध्यान नहिं; निर्वाण जानो रे वही ॥१८१॥

(मंदाक्रांता)

निर्वाणस्थे प्रहतदुरितध्वान्तसंघे विशुद्धे
कर्माशेषं न च न च पुनर्ध्यानकं तच्चतुष्कम् ।
तस्मिन्सिद्धे भगवति परंब्रह्मणि ज्ञानपुंजे
काचिन्मुक्तिर्भवति वचसां मानसानां च दूरम् ।।३०१।।

विज्जदि केवलणाणं केवलसोक्खं च केवलं विरियं ।
केवलदिट्ठि अमुत्तं अत्थित्तं सप्पदेसत्तं ॥१८२॥

विद्यते केवलज्ञानं केवलसौख्यं च केवलं वीर्यम् ।
केवलदृष्टिरमूर्तत्वमस्तित्वं सप्रदेशत्वम् ।।१८२।।

भगवतः सिद्धस्य स्वभावगुणस्वरूपाख्यानमेतत् ।

निरवशेषेणान्तर्मुखाकारस्वात्माश्रयनिश्चयपरमशुक्लध्यानबलेन ज्ञानावरणाद्यष्टविधकर्म-

---

[श्लोकार्थः—] जो निर्वाणमें स्थित है, जिसने पापरूपी अंधकारके समूहका नाश किया है और जो विशुद्ध है, उसमें (–उस परमब्रह्ममें) अशेष (समस्त) कर्म नहीं है तथा वे चार ध्यान नहीं हैं। उस सिद्धरूप भगवान ज्ञानपुंज परमब्रह्ममें कोई ऐसी मुक्ति है कि जो वचन और मन से दूर है ।३०१।

गाथा १८२

अन्वयार्थः—[केवलज्ञानं] (सिद्ध भगवानको) केवलज्ञान, [केवलदृष्टिः] केवलदर्शन, [केवलसौख्यं च] केवलसुख, [केवलं वीर्यम्] केवलवीर्य, [अमूर्तत्वम्] अमूर्तत्व, [अस्तित्वं] अस्तित्व और [सप्रदेशत्वम्] सप्रदेशत्व [विद्यते] होते हैं ।

टीकाः—यह, भगवान सिद्धके स्वभावगुणोंके स्वरूपका कथन है ।

निरवशेषरूपसे अन्तर्मुखाकार (–सर्वथा अन्तर्मुख जिसका स्वरूप है ऐसे), स्वात्माश्रित निश्चय–परमशुक्लध्यानके बलसे ज्ञानावरणादि आठ प्रकारके कर्मोंका

दृग् ज्ञान केवल, सौख्य केवल और केवल वीर्यता ।
होते उन्हें सप्रदेशता, अस्तित्व, मूर्ति–विहीनता ।।१८२।।

विलये जाते ततो भगवतः सिद्धपरमेष्ठिनः केवलज्ञानकेवलदर्शनकेवलवीर्यकेवलसौख्यामूर्तत्वास्तित्वसप्रदेशत्वादिस्वभावगुणा भवन्ति इति ।

(मंदाक्रांता)

बन्धच्छेदाद्भगवति पुनर्नित्यशुद्धे प्रसिद्धे
तस्मिन्सिद्धे भवति नितरां केवलज्ञानमेतत्।
दृष्टिः साक्षादखिलविषया सौख्यमात्यंतिकं च
शक्त्याद्यन्यद्गुणमणिगणं शुद्धशुद्धश्च नित्यम् ॥३०२॥

णिव्वाणमेव सिद्धा सिद्धा णिव्वाणमिदि समुद्दिट्ठा ।
कम्मविमुक्को अप्पा गच्छइ लोयग्गपज्जंतं ॥१८३॥

निर्वाणमेव सिद्धाः सिद्धा निर्वाणमिति समुद्दिष्टाः ।
कर्मविमुक्त आत्मा गच्छति लोकाग्रपर्यन्तम् ॥१८३॥

विलय होने पर, उस कारणसे भगवान सिद्धपरमेष्ठीको केवलज्ञान, केवलदर्शन, केवलवीर्य, केवलसुख, अमूर्तत्व, अस्तित्व, सप्रदेशत्व आदि स्वभावगुण होते हैं ।

[अब इस १८२ वीं गाथाकी टीका पूर्ण करते हुए टीकाकार मुनिराज श्लोक कहते हैं :]

[श्लोकार्थः—] बन्धके छेदनके कारण, भगवान तथा नित्य–शुद्ध ऐसे उस प्रसिद्ध सिद्धमें (–सिद्धपरमेष्ठीमें) सदा अत्यन्तरूपसे यह केवलज्ञान होता है, समग्र जिसका विषय है ऐसा साक्षात् दर्शन होता है, *आत्यंतिक सौख्य होता है तथा शुद्ध-शुद्ध ऐसा वीर्यादिक अन्य गुणरूपी मणियोंका समूह होता है ।३०२।

गाथा १८३

अन्वयार्थः—[निर्वाणम् एव सिद्धाः] निर्वाण ही सिद्ध हैं और [सिद्धाः

---

* आत्यंतिक=सर्वश्रेष्ठ; अनन्त ।

निर्वाण ही तो सिद्ध है, है सिद्ध ही निर्वाण रे ।
हो कर्मसे प्रविमुक्त आत्मा पहुँचता लोकान्त रे ॥१८३॥

सिद्धिसिद्धयोरेकत्वप्रतिपादनपरायणमेतत् ।

निर्वाणशब्दोऽत्र द्विष्ठो भवति । कथमिति चेत्, निर्वाणमेव सिद्धा इति वचनात् । सिद्धाः सिद्धक्षेत्रे तिष्ठंतीति व्यवहारः, निश्चयतो भगवंतः स्वस्वरूपे तिष्ठंति । ततो हेतोर्निर्वाणमेव सिद्धाः सिद्धा निर्वाणम् इत्यनेन क्रमेण निर्वाणशब्दसिद्धशब्दयोरेकत्वं सफलं जातम् । अपि च यः कश्चिदासन्नभव्यजीवः परमगुरुप्रसादासादितपरमभावभावनया सकलकर्मकलंकपंकविमुक्तः स परमात्मा भूत्वा लोकाग्रपर्यंतं गच्छतीति ।

(मालिनी)

अथ जिनमतमुक्तेर्मुक्तजीवस्य भेदं
क्वचिदपि न च विद्मो युक्तितश्चागमाच्च ।
यदि पुनरिह भव्यः कर्म निर्मूल्य सर्वं
स भवति परमश्रीकामिनीकामरूपः ॥३०३॥

निर्वाणम्] सिद्ध वह निर्वाण है [इति समुद्दिष्टाः] ऐसा (शास्त्रमें) कहा है । [कर्मविमुक्तः आत्मा] कर्मसे विमुक्त आत्मा [लोकाग्रपर्यन्तम्] लोकाग्र पर्यंत [गच्छति] जाता है ।

टीकाः—यह, सिद्धि और सिद्धके एकत्वके प्रतिपादन सम्बन्धमें है ।

निर्वाण शब्दके यहाँ दो अर्थ हैं । किसप्रकार ? "निर्वाण ही सिद्ध हैं" ऐसा (शास्त्रका) वचन होनेसे । सिद्ध सिद्धक्षेत्रमें रहते हैं ऐसा व्यवहार है, निश्चयसे तो भगवन्त निज स्वरूपमें रहते हैं; उस कारणसे "निर्वाण ही सिद्ध हैं और सिद्ध वह निर्वाण है" ऐसे इसप्रकार द्वारा निर्वाणशब्दका और सिद्धशब्दका एकत्व सफल हुआ ।

तथा, जो कोई आसन्नभव्य जीव परमगुरुके प्रसाद द्वारा प्राप्त परमभावकी भावना द्वारा सकल कर्मकलंकरूपी कीचड़से विमुक्त होते हैं, वे परमात्मा होकर लोकाग्र पर्यन्त जाते हैं ।

[अब इस १८३ वीं गाथाकी टीका पूर्ण करते हुए टीकाकार मुनिराज श्लोक कहते हैं :]

[श्लोकार्थः—] जिनसमत मुक्तिमें और मुक्त जीवमें हम कहीं भी युक्तिसे या आगमसे भेद नहीं जानते । तथा, इस लोकमें यदि कोई भव्य जीव सर्व कर्मको

जीवाण पुग्गलाणं गमणं जाणेहि जाव धम्मत्थी ।
धम्मत्थिकायभावे तत्तो परदो ण गच्छंति ॥१८४॥

जीवानां पुद्गलानां गमनं जानीहि यावद्धर्मास्तिकः ।
धर्मास्तिकायाभावे तस्मात्परतो न गच्छंति ॥१८४॥

अत्र सिद्धक्षेत्रादुपरि जीवपुद्गलानां गमनं निषिद्धम् ।

जीवानां स्वभावक्रिया सिद्धिगमनं, विभावक्रिया षट्कापक्रमयुक्तत्वं, पुद्गलानां स्वभावक्रिया परमाणुगतिः, विभावक्रिया द्व्यणुकादिस्कन्धगतिः । अतोऽमीषां त्रिलोकशिखरादुपरि गतिक्रिया नास्ति, परतो गतिहेतोर्धर्मास्तिकायाभावात्; यथा जलाभावे मत्स्यानां गति-

---

निर्मूल करता है, तो वह परमश्रीरूपी (मुक्तिलक्ष्मीरूपी) कामिनीका वल्लभ होता है ।२०२।

गाथा १८४

अन्वयार्थः—[यावत् धर्मास्तिकः] जहाँ तक धर्मास्तिकाय है वहाँ तक [जीवानां पुद्गलानां] जीवोंका और पुद्गलोंका [गमनं] गमन [जानीहि] जान; [धर्मास्तिकायाभावे] धर्मास्तिकायके अभावमें [तस्मात् परतः] उससे आगे [न गच्छंति] वे नहीं जाते ।

टीकाः—यहाँ, सिद्धक्षेत्रसे ऊपर जीव–पुद्गलोंके गमनका निषेध किया है ।

जीवोंकी स्वभावक्रिया सिद्धिगमन (सिद्धक्षेत्रमें गमन) है और विभावक्रिया (अन्य भवमें जाते समय) छह दिशामें गमन है; पुद्गलोंकी स्वभावक्रिया परमाणुकी गति है और विभावक्रिया *द्वि–अणुकादि स्कन्धोंकी गति है । इसलिये इनकी (जीव पुद्गलोंकी) गतिक्रिया त्रिलोकके शिखरसे ऊपर नहीं है, क्योंकि आगे गतिहेतु (गतिके निमित्तभूत) धर्मास्तिकायका अभाव है; जिसप्रकार जलके अभावमें मछलियोंकी गतिक्रिया नहीं होती उसीप्रकार । इसीसे, जहाँ तक धर्मास्तिकाय है उस क्षेत्र तक स्वभाव-

---

* द्वि–अणुकादि स्कन्ध=दो परमाणुओंसे लेकर अनन्त परमाणुओंके बने हुए स्कन्ध ।

जानो वहीं तक जीव पुद्गल–गति, जहाँ धर्मास्ति है ।
धर्मास्तिकाय अभावमें आगे गमनकी नास्ति है ॥१८४॥

क्रिया नास्ति । अत एव यावद्धर्मास्तिकायस्तिष्ठति तत्क्षेत्रपर्यन्तं स्वभावविभावगतिक्रियापरिणतानां जीवपुद्गलानां गतिरिति ।

(अनुष्टुभ्)

त्रिलोकशिखरादूर्ध्वं जीवपुद्गलयोर्द्वयोः ।
नैवास्ति गमनं नित्यं गतिहेतोरभावतः ॥३०४॥

णियमं णियमस्स फलं णिद्दिट्ठं पवयणस्स भत्तीए ।
पुव्वावरविरोधो जदि अवणीय पूरयंतु समयण्हा ॥१८५॥

नियमो नियमस्य फलं निर्दिष्टं प्रवचनस्य भक्त्या ।
पूर्वापरविरोधो यद्यपनीय पूरयंतु समयज्ञाः ॥१८५॥

शास्त्रादौ गृहीतस्य नियमशब्दस्य तत्फलस्य चोपसंहारोऽयम् ।

गतिक्रिया और विभावगतिक्रियारूपसे परिणत जीव–पुद्गलोंकी गति होती है ।

[अब इस १८४ वीं गाथाकी टीका पूर्ण करते हुए टीकाकार मुनिराज श्लोक कहते हैं :]

[श्लोकार्थः—] गतिहेतुके अभावके कारण, सदा (अर्थात् कदापि) त्रिलोकके शिखरसे ऊपर जीव और पुद्गल दोनोंका गमन नहीं ही होता ।३०४।

गाथा १८५

अन्वयार्थः—[नियमः] नियम और [नियमस्य फलं] नियमका फल [प्रवचनस्य भक्त्या] प्रवचनकी भक्तिसे [निर्दिष्टम्] दर्शाये गये । [यदि] यदि (उसमें कुछ) [पूर्वापरविरोधः] पूर्वापर (आगेपीछे) विरोध हो तो [समयज्ञाः] समयज्ञ (आगमके ज्ञाता) [अपनीय] उसे दूर करके [पूरयंतु] पूर्ति करना ।

टीकाः—यह, शास्त्रके आदिमें लिये गये नियमशब्दका तथा उसके फलका उपसंहार है ।

जिनदेव-प्रवचन-भक्ति-बलसे नियम, तत्फलमें कहे ।
यदि हो कहीं, समयज्ञ पूर्वापर विरोध सुधारिये ॥१८५॥

नियमस्तावच्छुद्धरत्नत्रयव्याख्यानस्वरूपेण प्रतिपादितः । तत्फलं परमनिर्वाणमिति प्रतिपादितम् । न कवित्वदर्पात् प्रवचनभक्त्या प्रतिपादितमेतत् सर्वमिति यावत् । यद्यपि पूर्वापरदोषो विद्यते चेत्तद्दोषात्मकं लुप्त्वा परमकवीश्वरास्समयविदश्चोत्तमं पदं कुर्वन्त्विति ।

(मालिनी)

जयति नियमसारस्तत्फलं चोत्तमानां
हृदयसरसिजाते निर्वृतेः कारणत्वात् ।
प्रवचनकृतभक्त्या सूत्रकृद्भिः कृतो यः
स खलु निखिलभव्यश्रेणिनिर्वाणमार्गः ॥३०५॥

ईसाभावेण पुणो केई णिंदंति सुन्दरं मग्गं ।
तेसिं वयणं सोच्चाऽभत्तिं मा कुणह जिणमग्गे ॥१८६॥

प्रथम तो, नियम शुद्धरत्नत्रयके व्याख्यानस्वरूपमें प्रतिपादित किया गया; उसका फल परम निर्वाणके रूपमें प्रतिपादित किया गया। यह सब कवित्वके अभिमानसे नहीं किन्तु प्रवचनकी भक्तिसे प्रतिपादित किया गया है। यदि (उसमें कुछ) पूर्वापर दोष हो तो समयज्ञ परमकवीश्वर दोषात्मक पदका लोप करके उत्तम पद करना।

[अब इस १८५ वीं गाथाकी टीका पूर्ण करते हुए टीकाकार मुनिराज श्लोक कहते हैं :]

[श्लोकार्थः—] मुक्तिका कारण होनेसे नियमसार तथा उसका फल उत्तम पुरुषोंके हृदयकमलमें जयवन्त है। प्रवचनकी भक्तिसे सूत्रकारने जो किया है (अर्थात् श्रीमद्भगवत्कुन्दकुन्दाचार्यदेवने जो यह नियमसारकी रचना की है), वह वास्तवमें समस्त भव्यसमूहको निर्वाणका मार्ग है।३०५।

जो कोइ सुन्दर मार्गकी निन्दा करे मात्सर्यमें।
सुनकर वचन उसके अभक्ति न कीजिये जिनमार्गमें ॥१८६॥

ईर्षाभावेन पुनः केचिन्निन्दन्ति सुन्दरं मार्गम् ।
तेषां वचनं श्रुत्वा अभक्तिं मा कुरुध्वं जिनमार्गे ।।१८६।।

इह हि भव्यस्य शिक्षणमुक्तम् ।

केचन मंदबुद्धयः त्रिकालनिरावरणनित्यानन्दैकलक्षणनिर्विकल्पकनिजकारणपरमात्मतत्त्वसम्यक्श्रद्धानपरिज्ञानानुष्ठानरूपशुद्धरत्नत्रयप्रतिपक्षमिथ्यात्वकर्मोदयसामर्थ्येन मिथ्यादर्शनज्ञानचारित्रपरायणाः ईर्ष्याभावेन समत्सरपरिणामेन सुन्दरं मार्गं सर्वज्ञवीतरागस्य मार्गं पापक्रियानिवृत्तिलक्षणं भेदोपचाररत्नत्रयात्मकमभेदोपचाररत्नत्रयात्मकं केचिन्निन्दन्ति, तेषां स्वरूपविकलानां कुहेतुदृष्टान्तसमन्वितं कुतर्कवचनं श्रुत्वा ह्यभक्तिं जिनेश्वरप्रणीतशुद्धरत्नत्रयमार्गे हे भव्य मा कुरुष्व, पुनर्भक्तिः कर्तव्येति ।

गाथा १८६

अन्वयार्थः—[पुनः] परन्तु [ईर्षाभावेन] ईर्षाभावसे [केचित्] कोई लोग [सुन्दरं मार्गम्] सुन्दर मार्गको [निन्दन्ति] निन्दते हैं [तेषां वचनं] उनके वचन [श्रुत्वा] सुनकर [जिनमार्गे] जिनमार्गके प्रति [अभक्तिं] अभक्ति [मा कुरुध्वम्] नहीं करना ।

टीकाः—यहाँ भव्यको शिक्षा दी है ।

कोई मंदबुद्धि त्रिकाल–निरावरण, नित्य आनन्द जिसका एक लक्षण है ऐसे निर्विकल्प निजकारणपरमात्मतत्त्वके सम्यक्–श्रद्धान–ज्ञान–अनुष्ठानरूप शुद्धरत्नत्रयसे प्रतिपक्ष मिथ्यात्वकर्मोदयके सामर्थ्य द्वारा मिथ्यादर्शन–ज्ञान–चारित्रपरायण वर्तते हुए ईर्षाभावसे अर्थात् मत्सरयुक्त परिणामसे सुन्दरमार्गको—पापक्रियासे निवृत्ति जिसका लक्षण है ऐसे भेदोपचार–रत्नत्रयात्मक तथा अभेदोपचार–रत्नत्रयात्मक सर्वज्ञवीतरागके मार्गको—निन्दते हैं, उन स्वरूपविकल (स्वरूपप्राप्ति रहित) जीवोंके कुहेतु–कुदृष्टान्त-युक्त कुतर्कवचन सुनकर जिनेश्वरप्रणीत शुद्धरत्नत्रयमार्गके प्रति, हे भव्य ! अभक्ति नहीं करना, परन्तु भक्ति कर्तव्य है ।

[अब इस १८६ वीं गाथाकी टीका पूर्ण करते हुए टीकाकार मुनिराज दो श्लोक कहते हैं :]

(शार्दूलविक्रीडित)

देहव्यूहमहीजराजिभयदे दुःखावलीश्वापदे
विश्वाशातिकरालकालदहने शुष्यन्मनीयावने* ।
नानादुर्णयमार्गदुर्गमतमे दृङ्मोहिनां देहिनां
जैनं दर्शनमेकमेव शरणं जन्माटवीसंकटे ।।३०६।।

तथा हि—

(शार्दूलविक्रीडित)

लोकालोकनिकेतनं वपुरदो ज्ञानं च यस्य प्रभो-
स्तं शंखध्वनिकंपिताखिलभुवं श्रीनेमितीर्थेश्वरम् ।
स्तोतुं के भुवनत्रयेऽपि मनुजाः शक्ताः सुरा वा पुनः
जाने तत्स्तवनैककारणमहं भक्तिर्जिनेऽत्युत्सुका ।।३०७।।

[श्लोकार्थः—] देहसमूहरूपी वृक्षपंक्तिसे जो भयंकर है, जिसमें दुःखपरंपरा-रूपी जंगली पशु (बसते) हैं, अति कराल कालरूपी अग्नि जहाँ सबका भक्षण करती है, जिसमें बुद्धिरूपी जल (?) सूखता है और जो दर्शनमोहयुक्त जीवोंको अनेक कुनय-रूपी मार्गोंके कारण अत्यन्त ×दुर्गम है, उस संसार–अटवीरूपी विकट स्थलमें जैन दर्शन एक ही शरण है ।३०६।

तथा—

[श्लोकार्थः—] जिन प्रभुका ज्ञानशरीर सदा लोकालोकका निकेतन है (अर्थात् जिन नेमिनाथप्रभुके ज्ञानमें लोकालोक सदा समाते हैं—ज्ञात होते हैं), उन श्री नेमिनाथ तीर्थेश्वरका—कि जिन्होंने शंखकी ध्वनिसे सारी पृथ्वीको कम्पा दिया था उनका—स्तवन करनेके लिये तीन लोकमें कौन मनुष्य या देव समर्थ हैं ? (तथापि) उनका स्तवन करनेका एकमात्र कारण जिनके प्रति अति उत्सुक भक्ति है ऐसा मैं जानता हूँ ।३०७।

---

* यहाँ कुछ अशुद्धि हो ऐसा लगता है ।

× दुर्गम=जिसे कठिनाईसे लाँघा जा सके ऐसा; दुस्तर । (संसार-अटवीमें अनेक कुनयरूपी मार्गोंमेंसे सत्य मार्ग ढूँढ़ लेना मिथ्यादृष्टियोंको अत्यन्त कठिन है और इसलिये संसार-अटवी अत्यन्त दुस्तर है ।)

णियभावणाणिमित्तं मए कदं णियमसारणामसुदं ।
णच्चा जिणोवदेसं पुव्वावरदोसणिम्मुक्कं ॥१८७॥

निजभावनानिमित्तं मया कृतं नियमसारनामश्रुतम् ।
ज्ञात्वा जिनोपदेशं पूर्वापरदोषनिर्मुक्तम् ॥१८७॥

शास्त्रनामधेयकथनद्वारेण शास्त्रोपसंहारोपन्यासोऽयम् ।

अत्राचार्याः प्रारब्धस्यान्तगमनत्वात् नितरां कृतार्थतां परिप्राप्य निजभावनानिमित्त-मशुभवंचनार्थं नियमसाराभिधानं श्रुतं परमाध्यात्मशास्त्रशतकुशलेन मया कृतम् । किं कृत्वा ? पूर्वं ज्ञात्वा अवंचकपरमगुरुप्रसादेन बुद्ध्वेति । कम् ? जिनोपदेशं वीतरागसर्वज्ञमुखारविन्दविनिर्गतपरमोपदेशम् । तं पुनः किं विशिष्टम् ? पूर्वापरदोषनिर्मुक्तं पूर्वापरदोषहेतुभूतसकलमोहरागद्वेषाभावादाप्तमुखविनिर्गतत्वान्निर्दोषमिति ।

गाथा १८७

अन्वयार्थः—[पूर्वापरदोषनिर्मुक्तम्] पूर्वापर दोष रहित [जिनोपदेशं] जिनोपदेशको [ज्ञात्वा] जानकर [मया] मैंने [निजभावनानिमित्तं] निजभावनानिमित्तसे [नियमसारनामश्रुतम्] नियमसार नामका शास्त्र [कृतम्] किया है ।

टीकाः—यह, शास्त्रके नामकथन द्वारा शास्त्रके उपसंहार सम्बन्धी कथन है ।

यहाँ आचार्यश्री (श्रीमद्भगवत्कुन्दकुन्दाचार्यदेव) प्रारम्भ किये हुए कार्यके अन्तको प्राप्त करनेसे अत्यन्त कृतार्थताको पाकर कहते हैं कि सैकड़ों परम–अध्यात्मशास्त्रोंमें कुशल ऐसे मैंने निजभावनानिमित्तसे–अशुभवचनार्थ नियमसार नामक शास्त्र किया है । क्या करके (यह शास्त्र किया है) ? प्रथम *अवंचक परम गुरुके प्रसादसे जानकर । क्या जानकर ? जिनोपदेशको अर्थात् वीतराग–सर्वज्ञके मुखारविन्दसे निकले हुए परम उपदेशको । कैसा है वह उपदेश ? पूर्वापर दोष रहित है अर्थात् पूर्वापर दोषके हेतुभूत सकल मोहरागद्वेषके अभावके कारण जो आप्त हैं उनके मुखसे निकला होनेसे निर्दोष है ।

---

* अवंचक=ठगें नहीं ऐसे; निष्कपट; सरल; ऋजु ।

सब दोष पूर्वापर रहित उपदेश श्री जिनदेवका ।
मैं जान, अपनी भावना हित नियमसार सुश्रुत रचा ॥१८७॥

किञ्च अस्य खलु निखिलागमार्थसार्थप्रतिपादनसमर्थस्य नियमशब्दसंसूचितविशुद्धमोक्षमार्गस्य अंचितपंचास्तिकायपरिसनाथस्य संचितपंचाचारप्रपंचस्य षड्द्रव्यविचित्रस्य सप्ततत्त्वनवपदार्थगर्भीकृतस्य पंचभावप्रपंचप्रतिपादनपरायणस्य निश्चयप्रतिक्रमणप्रत्याख्यानप्रायश्चित्तपरमालोचनानियमव्युत्सर्गप्रभृतिसकलपरमार्थक्रियाकांडाडंबरसमृद्धस्य उपयोगत्रयविशालस्य परमेश्वरस्य शास्त्रस्य द्विविधं किल तात्पर्यं, सूत्रतात्पर्यं शास्त्रतात्पर्यं चेति। सूत्रतात्पर्यं

और (इस शास्त्रके तात्पर्य सम्बन्धी ऐसा समझना कि), जो (नियमसार-शास्त्र) वास्तवमें समस्त आगमके अर्थसमूहका प्रतिपादन करनेमें समर्थ है, जिसने नियम–शब्दसे विशुद्ध मोक्षमार्ग सम्यक् प्रकारसे दर्शाया है, जो शोभित पंचास्तिकाय सहित है (अर्थात् जिसमें पाँच अस्तिकायका वर्णन किया गया है), जिसमें पंचाचार-प्रपंचका संचय किया गया है (अर्थात् जिसमें ज्ञानाचार, दर्शनाचार, चारित्राचार, तपाचार और वीर्याचाररूप पाँच प्रकारके आचारका कथन किया गया है), जो छह, द्रव्योंसे विचित्र है (अर्थात् जो छह द्रव्योंके निरूपणसे विविध प्रकारका—सुन्दर है), सात तत्त्व और नव पदार्थ जिसमें समाये हुए हैं, जो पाँच भावरूप विस्तारके प्रतिपादनमें परायण है, जो निश्चय–प्रतिक्रमण, निश्चय–प्रत्याख्यान, निश्चय–प्रायश्चित्त, परम–आलोचना, नियम, व्युत्सर्ग आदि सकल परमार्थ क्रियाकांडके आडम्बरसे समृद्ध है (अर्थात् जिसमें परमार्थ क्रियाओंका पुष्कल निरूपण है) और जो तीन उपयोगोंसे सुसम्पन्न है (अर्थात् जिसमें अशुभ, शुभ और शुद्ध उपयोगका पुष्कल कथन है)—ऐसे इस परमेश्वर शास्त्रका वास्तवमें दो प्रकारका तात्पर्य है:—सूत्रतात्पर्य और शास्त्र-तात्पर्य। सूत्रतात्पर्य तो पद्यकथनसे प्रत्येक सूत्रमें (–पद्य द्वारा प्रत्येक गाथाके अन्तमें) प्रतिपादित किया गया है। और शास्त्रतात्पर्य यह निम्नानुसार टीका द्वारा प्रतिपादित किया जाता है : यह (नियमसार शास्त्र) [1]भागवत शास्त्र है। जो (शास्त्र) निर्वाण-सुन्दरीसे उत्पन्न होनेवाले, परमवीतरागात्मक, [2]निराबाध, निरन्तर और [3]अनंग परमानन्दका देनेवाला है, जो [4]निरतिशय, नित्यशुद्ध, निरंजन निज कारणपरमात्माकी

१–भगवत=भगवानका; दैवी; पवित्र।

२–निराबाध=बाधा रहित; निर्विघ्न।

३–अनंग=अशरीरी; आत्मिक; अतीन्द्रिय।

४–निरतिशय=जिससे कोई बढ़कर नहीं है ऐसे; अनुत्तम; श्रेष्ठ; अद्वितीय।

पद्योपन्यासेन प्रतिसूत्रमेव प्रतिपादितम्, शास्त्रतात्पर्यं त्विदमुपदर्शनेन्। भागवतं शास्त्रमिदं निर्वाणसुन्दरीसमुद्भवपरमवीतरागात्मकनिर्व्याबाधनिरन्तरानंगपरमानन्दप्रदं निरतिशयनित्यशुद्ध-निरंजननिजकारणपरमात्मभावनाकारणं समस्तनयनिचयांचितं पंचमगतिहेतुभूतं पंचेन्द्रियप्रसर-वर्जितगात्रमात्रपरिग्रहेण निर्मितमिदं ये खलु निश्चयव्यवहारनययोरविरोधेन जानन्ति ते खलु महान्तः समस्ताध्यात्मशास्त्रहृदयवेदिनः परमानन्दवीतरागसुखाभिलाषिणः परित्यक्तबाह्याभ्य-न्तरचतुर्विंशतिपरिग्रहप्रपंचाः त्रिकालनिरुपाधिस्वरूपनिरतनिजकारणपरमात्मस्वरूपश्रद्धानपरि-ज्ञानाचरणात्मकभेदोपचारकल्पनानिरपेक्षस्वस्थरत्नत्रयपरायणाः सन्तः शब्दब्रह्मफलस्य शाश्वत-सुखस्य भोक्तारो भवन्तीति।

(मालिनी)

सुकविजनपयोजानन्दिमित्रेण शस्तं
ललितपदनिकायैर्निर्मितं शास्त्रमेतत्।
निजमनसि विधत्ते यो विशुद्धात्मकांक्षी
स भवति परमश्रीकामिनीकामरूपः ॥३०८॥

भावनाका कारण है, जो समस्त नयोंके समूहसे शोभित है, जो पंचम गतिके हेतुभूत है और जो पाँच इन्द्रियोंके विस्तार रहित देहमात्र—परिग्रहधारीसे (निर्ग्रन्थ मुनिवरसे) रचित है—ऐसे इस भागवत शास्त्रको जो निश्चयनय और व्यवहारनयके अविरोधसे जानते हैं, वे महापुरुष—समस्त अध्यात्मशास्त्रोंके [1]हृदयको जाननेवाले और परमानन्द-रूप वीतराग सुखके अभिलाषी—बाह्य-अभ्यन्तर चौवीस परिग्रहोंके प्रपंचको परित्याग कर, त्रिकाल-निरुपाधि स्वरूपमें लीन निज कारणपरमात्माके स्वरूपके श्रद्धान-ज्ञान-आचरणात्मक भेदोपचार-कल्पनासे निरपेक्ष ऐसे [2]स्वस्थ रत्नत्रयमें परायण वर्तते हुए, शब्दब्रह्मके फलरूप शाश्वत सुखके भोक्ता होते हैं।

[अब इस नियमसार-परमागमकी तात्पर्यवृत्ति नामक टीकाकी पूर्णाहुति करते हुए टीकाकार मुनिराज श्री पद्मप्रभमलधारिदेव चार श्लोक कहते हैं :]

१-हृदय=हार्द; रहस्य; मर्म। (इस भागवत शास्त्रको जो सम्यक् प्रकारसे जानते हैं, वे समस्त अध्यात्मशास्त्रोंके हार्दके ज्ञाता हैं।)

२-स्वस्थ=निजात्मस्थित। (निजात्मस्थित शुद्धरत्नत्रय भेदोपचार-कल्पनासे निरपेक्ष है।)

(अनुष्टुभ्)

पद्मप्रभाभिधानोद्‌घसिन्धुनाथसमुद्भवा ।
उपन्यासोर्मिमालेयं स्थेयाच्चेतसि सा सताम् ॥३०९॥

(अनुष्टुभ्)

अस्मिन् लक्षणशास्त्रस्य विरुद्धं पदमस्ति चेत् ।
लुप्त्वा तत्कवयो भद्राः कुर्वन्तु पदमुत्तमम् ॥३१०॥

(वसंततिलका)

यावत्सदागतिपथे रुचिरे विरेजे
तारागणैः परिवृतं सकलेन्दुबिंबम् ।
तात्पर्यवृत्तिरपहस्तितहेयवृत्तिः
स्थेयात्सतां विपुलचेतसि तावदेव ॥३११॥

[श्लोकार्थः—] सुकविजनरूपी कमलोंको आनन्द देनेवाले (—विकसित करनेवाले) सूर्यने ललित पदसमूहों द्वारा रचे हुए इस उत्तम शास्त्रको जो विशुद्ध आत्माका आकाँक्षी जीव निज मनमें धारण करता है, वह परमश्रीरूपी कामिनीका वल्लभ होता है ।३०८।

[श्लोकार्थः—] पद्मप्रभ नामके उत्तम समुद्रसे उत्पन्न होनेवाली जो यह उर्मिमाला—कथनी (टीका), वह सत्पुरुषोंके चित्तमें स्थित रहो ।३०९।

[श्लोकार्थः—] इसमें यदि कोई पद लक्षणशास्त्रसे विरुद्ध हो तो भद्र कवि उसका लोप करके उत्तम पद करना ।३१०।

[श्लोकार्थः—] जबतक तारागणोंसे घिरा हुआ पूर्णचन्द्रबिम्ब (पूर्ण चन्द्रका गोला) सुन्दर गगनमें विराजे (शोभे), ठीक तबतक तात्पर्यवृत्ति (नामकी यह टीका)—कि जिसने हेयवृत्तियोंको निरस्त किया है (अर्थात् जिसने छोड़ने योग्य समस्त विभाववृत्तियोंको दूर फेंक दिया है वह)—सत्पुरुषोंके विशाल हृदयमें स्थित रहो ।३११।

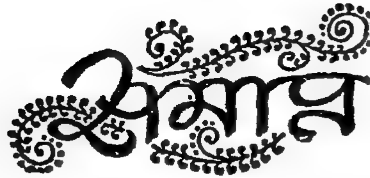
इति सुकविजनपयोजमित्रपंचेन्द्रियप्रसरवर्जितगात्रमात्रपरिग्रहश्रीपद्मप्रभमलधारिदेव-विरचितायां नियमसारव्याख्यायां तात्पर्यवृत्तौ शुद्धोपयोगाधिकारो द्वादशमः श्रुतस्कन्धः ॥

समाप्ता चेयं तात्पर्यवृत्तिः ।



इसप्रकार, सुकविजनरूपी कमलोंके लिये जो सूर्य समान हैं और पाँच इन्द्रियोंके विस्तार रहित देहमात्र जिन्हें परिग्रह था ऐसे श्री पद्मप्रभमलधारिदेव द्वारा रचित नियमसारकी तात्पर्यवृत्ति नामक टीकामें (अर्थात् श्रीमद्भगवत्कुन्दकुन्दाचार्यदेवप्रणीत श्री नियमसार परमागमकी निर्ग्रन्थ मुनिराज श्री पद्मप्रभमलधारिदेवविरचित तात्पर्यवृत्ति नामकी टीकामें) शुद्धोपयोगाधिकार नामका बारहवाँ श्रुतस्कन्ध समाप्त हुआ ।

इसप्रकार (श्रीमद्भगवत्कुन्दकुन्दाचार्यदेवप्रणीत श्री नियमसार परमागमकी निर्ग्रन्थ मुनिराज श्री पद्मप्रभमलधारिदेवविरचित) तात्पर्यवृत्ति नामक संस्कृत टीकाके श्री हिंमतलाल जेठालाल शाह कृत गुजराती अनुवादका हिन्दी अनुवाद समाप्त हुआ ।



शास्त्रोंका अर्थ करनेकी पद्धति

व्यवहारनय स्वद्रव्य–परद्रव्यको तथा उनके भावोंको तथा कारण–कार्यादिकको किसीके किसीमें मिलाकर निरूपण करता है, और ऐसे ही श्रद्धानसे मिथ्यात्व है, इसलिये उसका त्याग करना चाहिये। और निश्चयनय उन्हींका यथावत् निरूपण करता है तथा किसीको किसीमें नहीं मिलाता, और ऐसे ही श्रद्धानसे सम्यक्त्व होता है, इसलिये उसका श्रद्धान करना चाहिये।

प्रश्नः—यदि ऐसा है तो जिनमार्गमें दोनों नयोंका ग्रहण करना कहा है, उसका क्या कारण ?

उत्तरः—जिनमार्गमें कहीं तो निश्चयनयकी मुख्यता सहित व्याख्यान है, उसे तो "सत्यार्थ ऐसा ही है"—ऐसा जानना, तथा कहीं व्यवहारनयकी मुख्यतासे व्याख्यान है उसे "ऐसा नहीं है किन्तु निमित्तादिकी अपेक्षासे यह उपचार किया है"—ऐसा जानना; और इसप्रकार जाननेका नाम ही दोनों नयोका ग्रहण है। किन्तु दोनों नयोंके व्याख्यानको समान सत्यार्थ जानकर "इस अनुसार भी है और इस अनुसार भी है"—ऐसे भ्रमरूप प्रवर्तनसे तो दोनों नयोंको ग्रहण करना नहीं कहा है।

प्रश्नः—यदि व्यवहारनय असत्यार्थ है तो जिनमार्गमें उसका उपदेश किसलिये दिया गया ? एक निश्चयका ही निरूपण करना था ?

उत्तरः—ऐसा ही तर्क श्री समयसारमें किया है। वहाँ यह उत्तर दिया है कि—जिसप्रकार किसी अनार्य–म्लेच्छको म्लेच्छभाषा बिना अर्थ ग्रहण करानेके लिये कोई समर्थ नहीं है, उसीप्रकार व्यवहारके बिना परमार्थका उपदेश असम्भव है, इसलिये व्यवहारका उपदेश है। और उसी सूत्रकी व्याख्यामें ऐसा कहा है कि—इसप्रकार निश्चयको अंगीकार करानेके लिये व्यवहार द्वारा उपदेश देते हैं, किन्तु व्यवहारनय है वह अंगीकार करने योग्य नहीं है।

(—श्री मोक्षमार्ग प्रकाशक)



* श्री नियमसारकी वर्णानुक्रम गाथासूची *





—: कलशकाव्योंकी वर्णानुक्रम सूची :—





-: उद्धृत गाथा श्लोकोंकी वर्णानुक्रम सूची :-

—: 卐 :—